सत्साहित्य-प्रकाशन

आधुनिक भारत

—भारत के राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक विकास का इतिहास—

लेखक

शंकर दत्तात्रेय जावडेकर

●

अनुवादक

हरिभाऊ उपाध्याय

●

१९६१

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशकीय

इस पुस्तक में ब्रिटिश शासन के भारत में स्थापित होने के समय से लेकर अबतक का इतिहास है। पाठक जानते हैं कि स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए किया गया हमारा आंदोलन केवल राजनैतिक आंदोलन नहीं था, बल्कि उसकी पृष्ठभूमि सांस्कृतिक थी और इसलिए हमारी मान्यता है कि हमारे इतिहास के ये पृष्ठ भारत के लिए ही नहीं, दुनिया के लिए भी चिरकाल तक मार्गदर्शक रहेंगे।

विद्वान लेखक ने इस पुस्तक में जो सामग्री प्रस्तुत की है, वह केवल एक इतिहास-लेखक के नाते नहीं की है। वह स्वयं लगभग तीस साल तक भारत के विविध आंदोलनों में सक्रिय भाग लेते रहे हैं।

मराठी की यह बड़ी ही लोकप्रिय पुस्तक है। गुजराती में भी इसे बहुत पसन्द किया गया है। हिन्दी में भी इसकी लोकप्रियता सर्वविदित है। वर्तमान संस्करण के परिवर्द्धित अध्यायों का मूल पुस्तक से अनुवाद करने एवं अंतिम पृष्ठों में आवश्यक सुधार करने में हमें श्री यदुनाथ थत्ते से जो सहयोग मिला है, उसके लिए हम उनके आभारी हैं।

हमें विश्वास है कि यह परिवर्द्धित संस्करण और भी चाव से पढ़ा जायगा।

—मंत्री

लेखक-परिचय

आचार्य शंकर दत्तात्रेय जावड़ेकर का जन्म कोल्हापुर रियासत के मलापुर नामक गांव में २६ सितम्बर, १८९४ को हुआ। उनके पिताजी सरकारी कर्मचारी थे। कोल्हापुर और पूना में आचार्यजी की शिक्षा हुई। 'तत्वज्ञान' विषय लेकर उन्होंने १९१७ में बी० ए० पास कर लिया। एम० ए० का अध्ययन कर ही रहे थे कि गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग-आंदोलन छिड़ा। तत्कालीन राजनीति से प्रभावित होकर आचार्यजी ने परीक्षा में न बैठने का निश्चय किया।

आचार्यजी बचपन में ही राजनीति एवं राष्ट्रीय शिक्षा में रुचि लेने लगे, क्योंकि उनके पिता अपने मित्र श्री अण्णासाहब बीजापूरकर से सामयिक राजनीति की चर्चा प्रायः करते थे। मध्यप्रदेश के मजदूर नेता आर०एस० रूईकर आचार्यजी के बचपन के साथी हैं। दोनों को साथ-साथ ही देश-सेवा की लगन लगी। कालेज छोड़कर वह इस्लामपुर चले गये। वहां से तीन मील की दूरी पर उन्होंने हरिजन-विद्यार्थियों के लिए 'महात्मा बोर्डिंग' नाम से एक छात्रावास चलाया। यहींपर आचार्यजी ने 'राजनीति-शास्त्र-परिचय' नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक से उनकी विद्वत्ता को पहचानकर तिलक राष्ट्रीय विद्यापीठ में उन्हें अध्यापक-पद संभालने का निमंत्रण दिया गया। १९२६ में वह इस नये पद पर नियुक्त हुए।

१९२० में गांधीजी भारतीय राजनैतिक मंच पर आ गये थे। उन दिनों भारत के राष्ट्रीय नेता श्री गोखले, न्याय० रानडे, लोकमान्य तिलक एवं श्री आगरकर की विभिन्न राजनैतिक विचारधाराएं देश में प्रचलित थीं। विशेषतः महाराष्ट्र में इन विचार-प्रणालियों के गुट-से बने थे। महात्मा गांधी ने इन नीतियों का समन्वित रूप देश के सामने रखा। इसपर विभिन्न सम्प्रदायनिष्ठ गुट उनसे अप्रसन्न हुए और वे गांधीवाद का प्रतिवाद करने लगे। आचार्यजी ने ऐसे मौके पर एक वक्ता व पत्रकार के रूप में महाराष्ट्र के नवयुवकों को अखिल भारतीय राजनीति के प्रवाह में लाने का महत्वपूर्ण

काम किया। उन्होंने जहां तिलक-गोखले-आगरकरवादियों के इन हमलों का बुद्धिबल से सफलतापूर्वक सामना किया, वहां कम्यूनिज़म के नये तत्व-ज्ञान की भी, गम्भीर अध्ययन के बाद, कड़ी आलोचना की। १९२० से आजतक वह बराबर प्रगतिशील विचारों का प्रतिपादन करते आ रहे हैं।

१९३० तथा १९३२ में वह यरवदा तथा नासिक जेल में रहे। इन्हीं दिनों आचार्यजी ने मार्क्सवाद का गहरा अध्ययन व चिन्तन किया। जेल से छूटने पर उनका अधिक समय स्वराज्य, जनशक्ति, लोकमान्य, लोकशक्ति आदि अखबारों के सम्पादन में बीता। १९२८ में उनके सहयोग से मराठी भाषा द्वारा राष्ट्रीय विचारों के प्रसार-हेतु 'सुलभ राष्ट्रीय ग्रन्थमाला' का जन्म हुआ।

१९४२ के आंदोलन में वह फिर गिरफ्तार किये गए। दो वर्ष जेल में रहे। आजकल वह महाराष्ट्र के प्रसिद्ध साप्ताहिक 'साधना' के सम्पादक हैं। अस्वस्थ होने पर भी बुद्धिनिष्ठ महाराष्ट्र का मार्गदर्शन करने की जिम्मे-दारी आज भी वह संभाल रहे हैं।

लोकशाही की शुद्धि के लिए जिन साधकों की आवश्यकता आचार्यजी मानते हैं, वह उस वर्ग के स्वयं एक सदस्य हैं। उनकी श्रद्धा है कि सनातन सत्याग्रही धर्म व समाजवादी युगधर्म के समन्वय से बना हुआ नया दर्शन ही भारत एवं संसार का कल्याण करेगा।

'आधुनिक भारत' आचार्यजी की महान् साहित्यिक कृति है। इसमें जहां ऐतिहासिक वृत्त है, वहां आचार्यजी ने क्रांतिशास्त्र एवं समाजवादी तत्वज्ञान का समन्वयात्मक विवेचन भी किया है। यह पुस्तक सर्वप्रथम मराठी में १९३८ में छपी। राजनैतिक इतिहास के निरूपण के अलावा इसमें सांस्कृतिक समस्याओं पर मौलिक चर्चा है। इसीसे यह कोरा इतिहास न रहकर विचारों के लिए तत्वज्ञान का ग्रन्थ बन गया है। आचार्यजी की यह रचना आज के आंदोलनों को समझने व उचित मार्गदर्शन पाने के लिए बड़े काम की है, इसमें सन्देह नहीं।

—यदुनाथ थत्ते

विषय-सूची

आधुनिक भारत

आधुनिक भारत

: १ :

हिन्दुस्तान क्यों और कैसे जीता गया ?

सोलहवीं सदी से यूरोप में मानव-संस्कृति एक नई दिशा की ओर जाने लगी। यूरोपीय समाज और राज्य में एक नई क्रान्ति होने लगी। समाज में अमीर-उमरावों का महत्व कम होने लगा और समाज-व्यवस्था तथा राजनीति में व्यापारी-वर्ग को विशेष महत्व मिलने लगा। वहां के व्यापारी-वर्ग की महत्वाकांक्षा को एक नवीन चेतना मिली। मानव-संस्कृति के इतिहास में व्यापारी-युग का प्रारम्भ प्रायः तबसे हुआ जबसे (अर्थात् पन्द्रहवीं सदी के अखीर से) वास्कोडिगामा ने अफ्रीका होकर हिन्दुस्तान आने का जल-मार्ग खोज निकाला। ग्रेट ब्रिटेन यूरोप में एक छोटा राष्ट्र है; परन्तु फिर भी सोलहवीं और सत्रहवीं सदी में वह इस व्यापारी-युग की संस्कृति में बहुत आगे बढ़ गया और सत्रहवीं सदी के अन्त में तो इस द्वीप के राज्य-सूत्र व्यापारी-मध्यम वर्ग के लोगों के हाथों में आ गये। इससे पहले वहां समाज में और राजकाज में अमीर-उमरा और धर्माधिकारियों को जो अग्र-स्थान मिलता था, वह बिल्कुल जाता रहा और ब्रिटिश-राष्ट्र एक व्यापारी-राष्ट्र और ब्रिटिश-संस्कृति एक व्यापारी-संस्कृति बन गई।

इस नवीन व्यापारी-युग के कारण मानव-संस्कृति जहां कुछ बातों में आगे बढ़ी, वहां कुछ अंशों में पीछे भी हटी। आज इस युग का अन्त करके मानव-संस्कृति एक और युग में प्रवेश कर रही है; परन्तु इस नवीन युग में प्रवेश करने से पहले यदि व्यापारी-युग में हुई प्रगति को आत्मसात् किये बगैर आगे जाने की कोशिश की गई तो फिर पीछे हटना पड़ेगा। अतः यह उचित है कि इस युग की महिमा को ठीक-ठीक समझ लिया जाय, उसके

गुण-दोषों की अच्छी तरह छानबीन कर ली जाय, फिर कोई समाज या राष्ट्र अपना कदम आगे बढ़ाये। यूरोप को वहां के व्यापारी-वर्ग ने स्वराष्ट्र-संघटन और परराष्ट्र-आक्रमण के सम्बन्ध में बहुत-सी नई बातें बताई हैं और दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण करने के बाद उसका अधिक-से-अधिक लाभ अपने राष्ट्र के लोगों को कैसे पहुंचाया जाय, अपने राष्ट्र की सम्पत्ति, सत्ता और वैभव की अधिक-से-अधिक वृद्धि कैसे की जाय—इसका भी ज्ञान इस व्यापारी-वर्ग ने यूरोप को पहले-पहल कराया।

इस व्यापारी-वर्ग के आगे आने के मार्ग में धर्माधिकारी, अमीर-उमरा और राजा लोग बाधक-स्वरूप थे। इसलिए उन्होंने पहले तो धर्म-संस्थाओं के खिलाफ बगावत खड़ी की, अमीर-उमरा का जोर हटाने में राजाओं की सहायता की और अन्त को राजा के खिलाफ भी बगावत का झण्डा उठाया और सारे शासन-सूत्र अपने हाथ में ले लिये। यह धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिवर्तन अथवा क्रान्ति पहले इंग्लैण्ड में हुई और फिर फ्रान्स, इटली, जर्मनी आदि दूसरे देशों में क्रम से उसका प्रवेश हुआ। इस क्रान्ति-कार्य में जो देश जितने पीछे रह गये, वे संसार की राजनीति में भी उसी हिसाब से पिछड़े रह गये और जिन देशों ने इस नये युग का महत्व बिल्कुल ही नहीं समझा और न उसका स्वरूप ही जिनके ध्यान में आ सका, वे, जिन देशों ने इस युग की महिमा को ठीक-ठीक आत्मसात् कर लिया था, उनके सम्पर्क में आते ही, हार गये। संसार के व्यवहारों में पीछे रहने का यह अनिवार्य फल है। परन्तु जो लोग मानव-संस्कृति की एक अवस्था में पीछे रह गये, वे उसकी दूसरी अवस्था में संसार में बहुत आगे भी बढ़ सकते हैं। हां, उसके लिए यह जरूरी है कि अपने और दुनिया के अनुभवों से सबक लेकर आगे कदम बढ़ाने का और अपनी बुद्धि से नई खोज और आविष्कार करके विश्व-संस्कृति में वृद्धि करने का सामर्थ्य और पराक्रम उनमें हो।

जब यूरोप के व्यापारी-समाज की महत्वाकांक्षा पूरे ज़ोर में थी और वह अमरीका से हिन्दुस्तान और चीन तक सारी दुनिया में व्यापार के बहाने घूम-घाम रहा था, उस समय हिन्दुस्तान की क्या दशा थी? उस समय जब कि यूरोप के व्यापारियों से उसका सम्बन्ध हुआ, अमरीका, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के लोगों की तरह हिन्दुस्तानी जंगली नहीं थे। तब तो

हिन्दुस्तान में हिन्दुओं और मुसलमानों के प्रबल राज्य और साम्राज्य थे। धनोत्पादन और युद्ध-कला में तत्कालीन यूरोपीय राजाओं से वे पीछे नहीं थे। अकबर या औरंगजेब के साम्राज्यों के मुकाबले में एलिजाबेथ अथवा एन का राज्यविस्तार और वैभव बिल्कुल नाचीज था। एलिजाबेथ के राज्य-काल से लेकर एन के शासनकाल में ब्रिटिश-व्यापारी पश्चिम में अमरीका से लेकर पूर्व में हिन्दुस्तान और चीन में फैल गये थे। भिन्न-भिन्न देशों में उन्होंने अपने छोटे-छोटे उपनिवेश और व्यापार-कोठियां कायम कर ली थीं। इन कोठियों की हिफाजत के लिए वे कुछ शस्त्रास्त्र और सैनिक अपने पास रखते थे और जिस समुद्र पर किसी राजा की सत्ता नहीं थी, उसपर भी वे अपना प्रभुत्व और धाक जमाने लगे थे। इसी जमाने में इन व्यापारी लोगों ने अपने देश के शासन-सूत्र अमीर-उमरा और राजाओं के हाथ से छीन लिये और समाज-संघटन, राज्य-व्यवस्था, व्यापारिक संघटन, युद्ध-शास्त्र, सामाजिक शास्त्र और भौतिक विद्या में कितने ही नये-नये शोध किये। इस कारण उनके मन में यह अभिमान भी उत्पन्न हो गया था कि हम हिन्दुस्तान और एशिया के हिन्दू, मुसलमान और बौद्धों की अपेक्षा अधिक सुसंस्कृत और सभ्य हैं।

जब हम यह कहते हैं कि ब्रिटिश-राष्ट्र व्यापारी-राष्ट्र है और ब्रिटिश-संस्कृति व्यापारी-संस्कृति है तो इसका क्या अर्थ हो सकता है ? ब्रिटेन के सभी लोग व्यापारी हैं अथवा दूसरे राष्ट्रों में कोई व्यापारी ही नहीं हैं, ऐसा इसका अर्थ नहीं हो सकता। बल्कि यह है कि ब्रिटेन में व्यापारी लोगों की प्रधानता है और वहां की संस्कृति पर उस वर्ग की गहरी छाप पड़ी है। परन्तु इतने से ही इस वाक्य का असली अर्थ व्यक्त नहीं होता। ब्रिटेन के व्यापारियों को आखिर यह प्रधानता कैसे मिली ? जब इसका विचार करते हैं तो यह दिखाई देता है कि वहां के व्यापारी-वर्ग ने अपने राष्ट्र की शासन-सत्ता अपने हाथों में ली और धर्माधिकारियों तथा अमीर-उमरा के वर्ग की प्रधानता मिटा दी अर्थात् ये व्यापारी लोग राजकाजी और लड़वैये थे। हमारे देश के व्यापारी-वर्ग की तरह महज व्यापार करके पेट भरनेवाले निरुपद्रवी जीव नहीं थे। राजा और अमीर-उमरा अर्थात् लॉर्ड्स तो हमारी रक्षा करके देश में शान्ति स्थापित करें और हम सिर्फ व्यापार करके पेट

भरते रहें, यह वृत्ति उन्होंने छोड़ दी थी। उन्होंने इस सिद्धान्त को गलत ठहरा दिया कि शासन करना महज उमरावों का ही काम है। जब उन्होंने देखा कि अमीर-उमरा देश में शान्ति-स्थापन नहीं कर सकते और आपस में लड़-भिड़कर उल्टी अशांति पैदा करते है और व्यापार-धन्धों की स्थिरता नष्ट करते हैं तो उन्होंने शासन-कार्य अपने ही हाथों में ले लिया। इतना ही नहीं, बल्कि राज्य-विस्तार का जिम्मा भी खुद ले लिया। पहले यह होता था कि अमीर-उमरा जाकर किसी देश पर कब्जा करते थे, राज्य-विस्तार करते थे, पीछे व्यापारी लोग जाकर अपना व्यापार जमाते थे। अब इस क्रम को बदलकर उन्होंने नया मार्ग निकाला कि व्यापारी पहले दूसरे देशों में जाकर व्यापार का अड्डा जमायें और पीछे अपने राष्ट्र का झण्डा वहां गाड़ दें। पहले राज्य-विस्तार और फिर व्यापार-विस्तार के बजाय पहले व्यापार-विस्तार और फिर राज्य-विस्तार—यह विचार-शृंखला उन्होंने रूढ़ की। मतलब यह कि जो अंग्रेज इधर आये, वे महज व्यापार करनेवाले नहीं थे, बल्कि लड़वैये और दूसरे देशों पर कब्जा करके राज्य-विस्तार करने-वाले व्यापारी थे। समुद्री डाकुओं से और लूटमार से अपनी रक्षा करने के लिए वे शस्त्रास्त्र और युद्ध-सामग्री अपने पास रखते थे। दूसरे देशों में जहां-जहां अपनी व्यापार-कोठियां उन्होंने कायम की थीं, वहां-वहां अपने उपनि-वेश और छावनियां उन्होंने बना ली थीं। जो राजा व सरदार उनके व्यापार को संरक्षण न दे सके, उनको पदच्युत करके राज्य-क्रान्ति कैसे की जाय, यह विद्या वे जानते थे और यदि उन्हें कमजोर समझकर कोई कुचलने की कोशिश करे तो उनके देश की राजसत्ता का बल उनकी सहायता के लिए आ सकता था। उनके अपने देश में जिन लोगों के हाथ में राजसत्ता थी, वे परदेशों की अपनी व्यापार-कोठियों की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते थे, क्योंकि वे व्यापारी-वर्ग के ही प्रतिनिधि थे। ब्रिटिश लोग व्यापारी हैं, अथवा उनकी संस्कृति व्यापारिक है इस वाक्य का अर्थ इतना गहरा है।

राजशास्त्र की दृष्टि से विचार करें तो सत्रहवीं सदी में जो मराठा-संस्कृति उदय हुई और अठारहवीं सदी के मध्य तक जिसने सारे हिन्दुस्तान का सर्वभौमत्व प्राप्त करने में काफी सफलता पाई वह ब्रिटिश-संस्कृति से राष्ट्रीयता और प्रजातन्त्र इन दो बातों में पिछड़ी हुई दिखाई देती है। जिस

समय मराठे लोग शिवाजी के नेतृत्व में हिन्दू-राज्य की स्थापना कर रहे थे, उसी समय ब्रिटिश लोग क्रॉमवेल के नेतृत्व में अपने ही धर्म और देश के राजा को पदच्युत करके प्रजातन्त्र की स्थापना का प्रयत्न कर रहे थे। फिर सम्भाजी के बध के बाद (१६८९ ई०) जब मराठे विधर्मियों की सत्ता और आक्रमण को निवारण करके स्वराज्य और स्वधर्म के संरक्षण में लगे हुए थे और उसके लिए उन्होंने असीम स्वार्थत्याग करके सफलता प्राप्त की, उसी समय ब्रिटिश लोगों ने अपने देश के ज़ालिम राजा, दूसरे जेम्स, को गद्दी से उतारकर उस संग्राम में सफलता प्राप्त की जो क्रॉमवेल के समय से अनियंत्रित राजसत्ता और प्रतिनिधिक लोकसत्ता में हो रहा था, और इस प्रकार अपने देश में लोक-नियंत्रित (अर्थात् प्रजासत्तात्मक) राज की स्थापना की। इस बात को ध्यान में रक्खा जाय तो जिस समय मराठे सिर्फ परधर्मियों और परकीयों के राज्यों को नष्ट करके स्वधर्मीय राजा के राज्य-स्थापन करने के विचार और प्रयत्न में लगे थे, उस समय ब्रिटिश लोग इस सिद्धान्त की प्रस्थापना में लगे हुए थे कि राजा चाहे स्वकीय हो चाहे स्वधर्मी हो, यदि वह ज़ालिम है तो उसे हटाकर दूसरे राजा को गद्दी पर बिठाना और लोकमतानुसार शासनकार्य चलाना उनका कर्तव्य है। इस तत्त्व की प्रस्थापना ब्रिटेन के व्यापारी-वर्ग के नेताओं ने व्यापारी और किसान-वर्ग का नेतृत्व करके उनके धन-जन-बल पर की। इस कारण वह राष्ट्र राजकीय संस्कृति की दृष्टि से दूसरे सब राष्ट्रों के आगे निकल गया। इधर मराठों ने अपनी स्वतन्त्रता कायम रहने तक यह सबक नहीं सीखा, फलतः ब्रिटिश लोगों की गुलामी स्वीकार करके दूसरे भारतीयों के साथ-साथ उन्हें भी प्रजातन्त्र का सिद्धान्त सीखना पड़ा।

अंग्रेजों ने यहां के व्यापारियों को अपनी मुट्ठी में लेकर राज्यक्रांति तो की, परन्तु राजसत्ता अपने ही हाथों में रक्खी। अंग्रेजों को राज्य-विस्तार में गुप्त नामक जैन व्यापारी की बहुत सहायता मिली। यह घराना धर्मनिष्ठ था और उसने हिन्दुस्तान में बड़े सुन्दर मन्दिर बनवाये हैं। इस घराने की यह तजवीज थी कि प्रत्येक लड़ाई के समय या उससे पहले हिन्दुस्तान के राजाओं की जानकारी और रुपये-पैसे की सहायता अंग्रेजों को दे तथा उनके शांतिपूर्ण शासन का जाल सारे हिन्दुस्तान में फैला दिया जाय। क्लाइव से

लार्ड कैनिंग के शासनकाल तक यह व्रत उन्होंने बराबर निभाया, जिसके लिए उन्हें ब्रिटिश अधिकारियों की ओर से सिफारिशी पत्र मिले। सारा हिन्दुस्तान जीतकर जब ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अफगानिस्तान और ईरान में अपने पांव फैला रहे थे, तब सर अलेक्जेंडर बर्न्स ने सन् १८३७ में इस खानदान का वर्णन इस प्रकार किया है––

'स्वरूपचन्द गुप्त शालिवर्मा कक्छबाशा के वंशज काबुल-कन्दहार, समरकन्द, हिरात और अन्य स्थानों के कई एशियाई लोगों की अनेक गति-विधियों पर सतर्क होकर नजर रखते हैं और ब्रिटिश अधिकारियों के लाभ के लिए अपनी जानकारी भेजते रहते हैं। तमाम युद्ध, संधि और सैनिक बातों की व्यवस्था उनकी जानकारी पर ही अवलंबित रहती है, इसलिए सरकार उनकी बहुत ऋणी है।" इस प्रकार ये ब्रिटिश पक्ष के बड़े विश्वस-नीय और राजनिष्ठ लोग थे। इनकी जानकारी सही और विश्वसनीय होती थी। इसी तरह लॉर्ड एलिनबरा ने १८४४ ईसवी में अंग्रेजों को जो मदद इनकी दुकान या पेढ़ी की ओर से मिली, उसकी बहुत प्रशंसा की है। वह लिखता है कि "आप मेरे ही नहीं, जिस सरकार का मैं प्रतिनिधि हूं उसके भी सच्चे मित्र हैं। उस सरकार के कल्याण के लिए और पूर्वीय देशों में उसका राज्य कायम करने में जो सेवा आपकी तरफ से हुई है उसे हम कभी नहीं भूल सकते। मराठा और जाट-युद्धों में तथा मेरे शासनकाल के दूसरे युद्धों में, अंग्रेज अधिकारियों को जिस सबसे बड़ी अर्थात् आर्थिक सहायता की जरूरत थी वह आपने बहुत उदारता के साथ की है।" बंगाल के जगत् सेठ अमीचन्द भी गुप्तघराने के आत्मीय थे, जिन्होंने लार्ड क्लाइव और सरकार की तरफ सहायता की थी। लार्ड क्लाइव सन् १७६५ में लिखे अपने एक प्रमाण-पत्र में लिखते हैं––

"आप लोगों ने लगभग पचास लाख रुपये इकट्ठा करके जगह-जगह मकान बनवाकर पूर्वी देशों की खबरें भेजने के लिए डाक बांटने का जो निश्चय किया है, उसे सुनकर मुझे बड़ी खुशी हुई है। आपने खुद अपना रुपया लगाकर लोगों को जो हमारे छत्र के नीचे लाने की आयोजना की है, उसे सुनकर भी मुझे बड़ा आनन्द हुआ है। खासकर अरकाट में आपने और आपके लोगों ने जो सहायता की है,उसे मैं कभी नहीं भूल सकता।"

ग्वालियर का किला फतह करने में इस घराने ने जो सहायता दी, उसके सम्बन्ध में इस किले का विजेता अपने १७८२ ईसवी के पत्र में लिखता है—"ग्वालियर के जैसे अगम्य और अभेद्य किले को सर करने में अगर महाराजाधिराज सवाई सिकन्दर स्वरूपचन्द गुप्त की हार्दिक सहायता न होती तो किसी भी दशा में वह किला जीता नहीं जा सकता था। किले में जाने के गुप्त मार्ग की जानकारी बड़े परिश्रम से प्राप्त करके उन्होंने हमें दी, जिससे हम आसानी से किला ले सके।"

खिड़की की लड़ाई (१८१७) में पूना-विजय कराने में इस खानदान ने जो काम किया, उसके बारे में जेनिन्स लिखता है—"आपने एक अत्यंत महत्वपूर्ण, गुप्त खबर ऐसे ऐन मौके पर दी कि उसके बिना हमें विजय पाने में बहुत समय और परिश्रम लगता।" गुप्त-घराने के व्यापारियों ने ब्रिटिश व्यापारी राज्यकर्ताओं को हिन्दुस्तान जीतने में जो सहायता की, वह जिस तरह ब्रिटिश राज्यकर्ता नहीं भूलेंगे, उसी तरह हिन्दुस्तान के लोग भी उसे नहीं भूल सकते।

लॉर्ड क्लाइव ने जब बंगाल फतह किया तो हिन्दू व्यापारियों और राजाओं अर्थात् जमींदारों ने ब्रिटिश राज्य की स्थापना में सहायता की। अंग्रेज लेखक एस० सी० हिल ने अपनी पुस्तक '१७५६-५७ ई० का बंगाल' की प्रस्तावना में लिखा है—"इस देश के व्यापार और उद्योग-धन्धे प्रायः पूरी तरह हिन्दू लोगों के ही हाथ में थे, इसलिए व्यापार के लिए आकर बसनेवाले यूरोपीय व्यापारियों का स्वभावतः ही उनसे निकट सम्बन्ध बंधा और इस भौतिक स्वार्थ के आधार पर हिन्दू और यूरोपीय व्यापारियों का एक प्रकार का गुप्त गुट्ट ही इस समय बन गया था।" १७५५ ई० में स्कॉट नामक एक यूरोपियन ने बंगाल के बारे में एक पत्र लिखकर बंगाल की स्थिति का वर्णन किया है। उसका यह मत था कि यहां के व्यापारी व हिन्दू राजा राजक्रांति के काम में यूरोपियनों की सहायता करेंगे। श्री चार्ल्स एफ० नोबुल ने २२ सितम्बर, १७५६ ई० को ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सिलेक्ट कमिटी को एक पत्र में लिखा था कि[१] कर्नल स्कॉट ने बंगाल की परिस्थिति का जो निरीक्षण किया, उससे ऐसा मालूम होता है कि हिन्दू राजा और प्रजा

[१] Rise of the Christian Powers by Major Basu; P. 45

मुसलमानी शासकों से बहुत नाराज है और उनकी जालिमाना हुकूमत तौक को उठा लेने का मौका ढूंढ़ती है। पी० ई० रॉबर्ट्स अपनी 'ब्रिटि हिंदुस्तान का इतिहास' नामक पुस्तक में लिखता है कि "१७५६-५७ बंगाल में जो राज-क्रांति हुई, वह मुख्यतः अथवा पूर्णतः यूरोपियन व्यापा छावनी के द्वारा हिन्दुस्तानी प्रान्त को जीत लेने के जैसी नहीं थी, बलि स्वदेशी (हिन्दू) व्यापारी और साहूकार वर्ग तथा ब्रिटिशों के संयुक प्रयत्न द्वारा विदेशी (मुसलमान) राज्य को उखाड़ फेंकने-जैसा स्वरूप उसक था। यद्यपि व्यापार के लिए आवश्यक शांति की दृष्टि से स्वदेशी औ ब्रिटिश व्यापारी दोनों का इसमें समान हित था, फिर भी प्रत्यक्ष उथल-पुथ में अंग्रेज ही अग्रसर हुए और राजसत्ता भी अकेले वे ही हड़प बैठे।"[1] वह लेखक आगे लिखता है—"अलीवर्दीखां की मृत्यु के पहले भी सूक्ष्म निरी क्षकों को यह साफ दिखाई देता था कि यह झगड़ा अधिक टल नहीं सकता नवाब अन्यायी था, यह कहने की अपेक्षा वह सख्त था, यह कहना अधि उचित होगा।" अंग्रेज अपने व्यापार पर लगे अनेक असह्य बन्धनों से अत्यन्त असंतुष्ट थे। आर्म १७५२ ई० में ही क्लाइव को लिखता है—"इस बुड् कुत्ते को जरा अच्छी तरह दाग दिया जाय तो अच्छा! यदि कम्पनी ने ऐसा नहीं किया तो बंगाल में उसके लिए व्यापार करना असंभव हो जायगा। जबतक अलीवर्दीखां जीवित था, तबतक यह असन्तोष भीतर-ही-भीत पनप रहा था। उसकी मृत्यु के बाद दुराग्रही, दुर्बल और दुर्व्यसनी युवक जब गद्दी पर बैठा तो वह यूरोपियन व्यापारियों और हिन्दू नागरिकों प जुल्म करने लगा और सेठ-साहूकार घराने का अपमान करने लगा, तब इस घटना को अधिक गति मिली और उसीसे भावी उत्पात शुरू हुआ। सिरा जुद्दौला ने अंग्रेजों को अपने राज से निकाल देने का निश्चय किया और डच अथवा फ्रेंच लोगों की अपेक्षा अंग्रेजों की तरफ अधिक ध्यान देने का इराद किया। यह उसकी दृष्टि से ठीक ही था। उनकी छावनी ही सबसे बड़ी और सबसे संपन्न थी, उनका व्यापार सबसे बढ़ा-चढ़ा था और हिन्दू व्या पारी-वर्ग से उन्हींका अधिक निकट सम्बन्ध हो गया था। अंग्रेजों को एक बार निकाल भगाने के बाद यूरोपियनों की खबर लेने के लिए उसे अवसर

[1] History of Br. India, Page 131-32.

मिल सकता था ।[1]

१८२३ ई० में राजा राममोहन राय प्रभृति बंगाली नेताओं ने मुद्रण-स्वातंत्र्य के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड के राजा के पास एक निवेदनपत्र भेजा था जिससे प्रकट होता है कि बंगाल के हिन्दू, खासकर सुशिक्षित हिन्दू नेताओं की, अंग्रेजी राज के प्रति क्या भावनाएं थीं —

"हिन्दुस्तान के अधिकांश हिस्से पर सदियों तक मुसलमानों का प्रभुत्व रहा था, जिसमें यहां के मूल निवासियों के नागरिक और धार्मिक अधिकारों पर पदाघात होता रहता था। परन्तु बंगाली लोगों में शारीरिक पराक्रम की और कष्ट-सहन के साथ पुरुषार्थ करने की कमी होने के कारण उनका धन-माल बार-बार लूटा जाता था। उनके धर्म का अपमान होता था और मनमाने ढंग से उनका खून बहाया जाता था। फिर भी वे अखीर तक मुसलमान राजसत्ता के प्रति वफादार रहे। अन्त को परमात्मा की अपार दया से अंग्रेज राष्ट्र को इन अत्याचारी शासकों के चंगुल से बंगाल को मुक्त कराने की और उन्हें अपनी छत्रछाया में लाने की प्रेरणा मिली।[2]"

इससे यह जाना जाता है कि अंग्रेजों ने जब बंगाल में अपनी सत्ता स्थापित की तो व्यापारी-वर्ग द्वारा मिली सहायता के साथ इस धर्म-विरोधी भावना का भी लाभ उन्हें मिला। हिन्दू व्यापारी और सेठ-साहूकारों ने अंग्रेजों को जो मदद दी, उसमें उनका भाव न केवल इतना ही था कि मुसलमान शासक व्यापार में सहायता नहीं करते और नवाब और जमींदार बार-बार लड़ाइयां लड़कर लूटपाट मचाते थे, बल्कि यह भी शायद रहा हो तो आश्चर्य नहीं कि वे विदेशी और विधर्मी हैं। परन्तु यह कहना कि मुसलमानों के जमाने में हमेशा ही यह अन्धाधुन्धी, लड़ाइयां और अशान्ति रहती थी, ठीक नहीं है। यदि सारे हिन्दुस्तान में इस तरह हमेशा अन्धाधुन्धी रही होती, तो कैसे वहां इतने बड़े सेठ-साहूकार और उनकी पेढ़ियां बनी और फूली-फली होतीं और कैसे इतना धन और प्रतिष्ठा कायम रही होती ? जगत् सेठ अमीचन्द अथवा गुप्त जैसे सेठ-साहूकार

[1] History of Br. India, Page 132-33

[2] Indian Speeches and Documents on British Rule, P. 15; Editor—J. K. Majumdar.

और व्यापारी-वंश कैसे बढ़े, राजदरबार में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ी और राजा-नवाबों को भी उनसे आर्थिक सहायता लेना जरूरी मालूम होने लगा ? इसका अर्थ ही यह है कि इस देश में बड़े-बड़े राज्य और साम्राज्य थे; लोगों का धन-माल और घरबार सुरक्षित था परन्तु जब मुगल-साम्राज्य का पतन हुआ और दक्षिण से मराठे, पश्चिम से सिक्ख और, वायव्य कोण से ईरान, अफगानिस्तान के राजाओं ने हमले शुरू किये तब हिन्दुस्तान में कुछ समय अन्धाधुन्धी अधिक बढ़ गई। इस अन्धाधुन्धी की आग में अंग्रेजी और फ्रांसीसी जैसे लड़वैये, राजकाजी और कूटनीतिज्ञ व्यापारियों ने घी डालने का काम किया। इस समय बंगाल-प्रान्त की स्थिति विशेष शोचनीय थी, क्योंकि वह एक ओर बहुत सबल और दूसरी ओर बहुत दुर्बल हो गया था। गंगासागर से आनेवाले विदेशी व्यापारियों और उनके अनेक हमलों का मुकाबला करके उन्हें हटा दें इतना समर्थ और सबल जहाजी बेड़ा बंगाल की खाड़ी में नहीं था। इधर मालाबार के समुद्रतट पर उस समय आंध्र का जबरदस्त जहाजी बेड़ा था। उसको नष्ट किये बगैर बम्बई इलाके में विदेशी व्यापारियों को शरारत करने का विशेष अवसर नहीं था। फिर अठारहवीं सदी में मराठों की सत्ता बम्बई प्रान्त में बहुत ज़ोरों से बढ़ रही थी और उनके साम्राज्य का सामर्थ्य और अहंकार इतना बढ़ गया था कि वे यह समझने लगे थे कि नादिरशाह जैसे ईरानी लुटेरे से दिल्ली के तख्त को बचाने को जिम्मेदारी हमपर है। बाजीराव की मृत्यु के बाद राघोबा दादा ने अटक पर अपना झण्डा गाड़ा, जिससे उत्तरी भारत के मुसलमान और राजपूतों को यह डर हुआ कि दिल्ली का तख्त दक्षिण के हिन्दुओं के कब्जे में चला जायगा, इसलिए मुसलमान रोहिलों ने अहमदशाह अब्दाली जैसे को बुलाकर इस बात की कोशिश की कि इस दक्खिनी साम्राज्य की रोक हो और दिल्ली का तख्त मुसलमानों के हाथ से न जाय। इधर यह उथल-पुथल हो रही थी, उधर बंगाल और मद्रास के समुद्र-तट पर अंग्रेज व्यापारी अपनी राजनीति के खेल खेल रहे थे। मराठों और सिक्खों ने मुसलमान-साम्राज्य के खिलाफ बगावत खड़ी कर अपने स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिये थे। यह खबरें बंगाल के हिन्दुओं तक पहुंचती रहती होंगी, इससे अनेक मतों में मुसलमान सत्ता के खिलाफ भाव पैदा हुए हों तो

आश्चर्य नहीं; परन्तु मराठों के हमले बंगाल पर होने के कारण वहां के व्यापारी धनिकों पर एक नई आपत्ति आई मालूम हुई होगी। इन हमलों का मुकाबला करने के लिए वहां के नवाब इन सेठ-साहूकारों पर जुल्म करके, इन्हें तंग करके, आर्थिक सहायता लेते होंगे और अगर मराठों की जीत हो गई तो भी उनकी लूटमार और मनमानी का डर रहा होगा। ऐसी स्थिति में बंगाल के व्यापारियों ने मुसलमान शासकों और नवाबों के खिलाफ बगावत खड़ी करने में अंग्रेज व्यापारियों को सहायता दी हो और मध्यवर्ग के लोगों को कुछ समय तक अंग्रेजों का शान्ति-पूर्ण शासन ज़ालिम और विदेशी जमींदारों के त्रास से बचाने और छुड़ाने के लिए ईश्वरीय देन है, ऐसा लगा हो तो आश्चर्य नहीं।

परन्तु यह भावना हिन्दुस्तान के सब प्रान्तों में सर्वत्र नहीं थी, क्योंकि उन्हीं दिनों एक ब्रिटिश गर्वनर सर जॉन माल्कम ने लिखा है—

"हमारा राज्यविस्तार कुछ व्यापारी-वर्ग और अत्यन्त दरिद्र और अरक्षित लोगों के लिए अनुकूल हुआ है; परन्तु हिन्दुस्तान के उच्च-वर्ग और सैनिक-वर्ग पर उसका बहुत ही प्रतिकूल परिणाम हुआ है।"[1]

इसी तरह यहां के उद्योग-धन्धे और दस्तकारी पर भी ब्रिटिश राज्य का बहुत बुरा असर हुआ है, यह सब बातें आज स्पष्ट हो गई हैं। शान्ति-पूर्ण ब्रिटिश शासन परमेश्वरीय प्रसाद है यह भाव सिर्फ यहां के सेठ-साहूकार और व्यापारी वर्ग के ही मन में पैदा हुआ, जो कि सरकारी नौकर-वर्ग और यूरोपियन व्यापारियों के आश्रय में ही रह और पनप सकता है, फिर भी यह भावना जितनी बंगाल और गुजरात में थी, उतनी महाराष्ट्र में नहीं। सर जॉन माल्कम, जो बम्बई का गर्वनर था, लिखता है—"मालवा राजपूताना, सारा गुजरात और कच्छ की तरह के प्रदेश में भील, कोल, राजपूत आदि लुटेरे और दंगई लोग रहते हैं। उनके बार-बार हमले होते हैं, जिनसे मैदान में रहनेवाले सधन लोग मुसीबत में पड़ते रहते थे। मुगलों और मराठों के हमले इस प्रदेश पर बार-बार होते रहते थे। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सत्ता का यहां सुस्थिर होना इन लोगों को एक बड़ी परमेश्वरी

[1] Notes on the Administration of India By Sir John Molcum, Part I, Page 139

देन मालूम हुई।" परन्तु यही लेखक महाराष्ट्रीय लोगों की भावना के संबंध में लिखता है—"यहां सरकारी शासन जितना सौम्य था, उतना बहुत ही थोड़े देशों पर रहा होगा और आन्तरिक उत्कर्ष के लिए आवश्यक खेती को इतना प्रोत्साहन देनेवाली सरकार तो दूसरी जगह कहीं भी न होगी। इसलिए गुजरात के लोगों की तरह दक्षिणी लोगों को अंग्रेजों की शान्ति परमेश्वरी प्रसाद नहीं मालूम होती। राजा से लेकर रंक तक मराठे लोग युद्ध को उतना ही चाहते हैं, जितना कि अपने बाल-बच्चों को। भारी विजय अथवा बड़ा राज्य मिलने पर भी उनका अपने सम्बन्धियों और अपनी जन्म-भूमि के प्रति प्रेम कम नहीं होता। दूसरी जगह लूट से कुछ निश्चित रुपया वे नियम-पूर्वक अपने घर भेजते हैं, जिससे उनकी खेती-बारी अच्छी चलती है। उनके रुपये से उनके जन्म-स्थान में कुएं, तालाब, मन्दिर बनाये जाते हैं। दक्षिण के पेशवाओं के शासन में मराठों की जन्म-भूमि का इस प्रकार उत्कर्ष होना अनिवार्य था और आज जो राजक्रान्ति हुई है, वह जान-माल की रक्षा के अलावा सब बातों में यहां के सभी वर्गों और विशेषतः उच्च वर्ग के हित में बाधक ही हुई है।"[1]

इस तरह महाराष्ट्रीय जनता को अंग्रेजों को दुआ देने का कोई खास कारण न था। मुग़ल सल्तनत के पतन के बाद मराठों ने जिन-जिन प्रान्तों पर अर्थात् बंगाल-गुजरात जैसों पर हमले करके 'मुल्कगीरी', के रूप में लूटपाट की, वहीं १८वीं सदी के मध्य के कुछ समय बाद तक ऐसा मालूम होता है कि बड़ी धांधली और गोलमाल रहा होगा और वहां के नवाबों को मराठों का प्रतिकार करने में सेठ-साहूकारों से बहुत रुपया-पैसा छीनना पड़ा होगा। परन्तु यदि ऐसा ज़ोर-जुल्म या ऐसी अन्धाधुन्धी हमेशा ही होती रहती तो यह स्पष्ट है कि इतने सेठ-साहूकार और इतनी पेढ़ियों का उदय भी हिन्दुस्तान में न हो सका होता।

बंगाल के हिन्दू राजाओं और सेठ-साहूकारों ने ब्रिटिश व्यापारियों का पक्ष लेकर मुसलमानी शासन को उखाड़ तो फेंका और अपने देश में अंग्रेजों की सत्ता कायम तो की मगर यह नहीं कह सकते कि इस कार्य में उन्होंने

[1] Notes on the Administration of India by Sir John Molcum Part I, Page 139

जाग्रत वर्ग-भावना से काम लिया हो। बात यह है कि अंग्रेज व्यापारी राज-क्रान्ति की विधि जानते थे और उन्होंने इस वर्ग को अपनाकर राज-क्रान्ति की और राजसत्ता को भी खुद ही हड़प बैठे। यदि बंगाल के व्यापारी-वर्ग ने वर्ग-भावना से अथवा राज-क्रान्ति करने के इरादे से उसमें भाग लिया होता तो उसके मन में इस बात पर कि सारी सत्ता अंग्रेजों ने खुद् अपने हाथ में रखी और उसके बल पर आगे चलकर हिन्दुस्तान का व्यापार भी छीन लिया, अंग्रेजों से ईर्ष्या या द्वेष हुआ होता, परन्तु यह व्यापारी-वर्ग तो उस समय जानता ही नहीं था कि राजनीति में हम पड़ सकते हैं या राज-क्रान्ति कर सकते हैं और अपने हाथ में राजसत्ता ले सकते हैं। हां, राजा राममोहन राय के वक्त में अर्थात् १६वीं सदी के पहले चरण के अन्त में अलबत्ता बंगाली लोगों को कुछ-कुछ यह ज्ञान होने लगा था कि सामन्त-युग हटकर जब व्यापारी-वर्ग का उत्कर्ष होता है और यह आगे बढ़ता है, तब लोकसत्तात्मक राज-क्रान्ति हो सकती है।

'बंगाल हैरल्ड' नामक अखबार में '१८२६ में बंगाल का उत्कर्ष' शीर्षक लेख में कहा गया है कि "कलकत्ता व कुल बंगाल प्रान्त में आजकल सम्पत्ति बढ़ रही है। इसका कारण यह है कि व्यापार पर रुकावट की कमी हो गई है और यूरोपियन लोग वहां ज्यादा तादाद में रहने लगे हैं और जमीन की कीमत बढ़ गई। जो जमीन ३० बरस पहले कलकत्ता में १५) रुपये में मिलती थी, उसका दाम आज ३००) रुपये हो गया है। इसके कारण उच्च जमींदार-वर्ग और गरीब जनता इनके बीच एक नया वर्ग पैदा हो गया है। इसके पहले देश की सम्पत्ति बहुत थोड़े लोगों के पास थी और दूसरे सब लोग इसी छोटे वर्ग पर अवलम्बित रहते थे। सामान्य जनता शारीरिक और मानसिक दृष्टि से भी बहुत दरिद्र थी। हिन्दू लोगों की गुलामी का कारण धर्म अथवा आबहवा की अपेक्षा यह विषम परिस्थिति ही अधिक मालूम होती है। यह एक नवीन युग का उषाकाल है। जब-जब समाज में ऐसा वर्ग-निर्माण होता है, तब-तब स्वतन्त्रता अपने-आप आती है। इंग्लैंड का ही उदाहरण लीजिये—जब जर्मन लोगों ने हॉलैंड पर विजय की, तब वहां भी हमारे यहां की तरह जमींदार लोग थे और सब उनके भूदास थे। परन्तु आठवें हैनरी तक उनकी प्रगति को देखें तो उस समय

समाज का साम्पत्तिक विभाग समान होने लगा था और आगे चलकर एक खटीक के लड़के (क्रॉमवेल) ने वहां के राजा को कत्ल करके हॉलैण्ड के प्रजासत्तात्मक राज्य का दौर-दौरा और कीर्ति सारी दुनिया में फैला दी। समाज में जब जमींदार और किसान ऐसे दो ही वर्ग होते हैं, इसका नमूना देखना हो तो स्पेन की ओर देखो। वहां हर मनुष्य बौद्धिक और शारीरिक श्रम किये बिना जीना चाहता है। दूसरा उदाहरण पुर्तगाल का लीजिये, वहां जमीन के साथ-साथ किसानों का भी क्रय-विक्रय होता है। ऐसी दशा में बंगाल में आज जो एक मध्यम-वर्ग निर्माण हो रहा है, वह एक अत्यन्त उत्साहवर्द्धक दृश्य है।"[1]

इस उद्धरण में वर्णित अर्थशास्त्र बहुत उथला ही नहीं, बल्कि भ्रमोत्पादक है, क्योंकि कलकत्ता जैसे राजधानी के और व्यापारी शहर में जमीन की कीमत का बढ़ जाना और उसकी बदौलत कुछ लोगों को बहुत पैसा मिलने लगना तथा अंग्रेजों का पक्का माल यहां लाकर बेचनेवाले और यहां के उद्योग-धन्धों को बरबाद करके कच्चा माल बाहर भेजनेवाले व्यापारियों का धनी होना, अथवा नील के व्यापारियों जैसे कुछ अंग्रेजों का इस देश में आकर बस जाना और खेतों व खानों में काम करनेवाले मजदूरों को कुछ मजदूरी अधिक नकदी पैसों के रूप में देने लगना और इसपर ही यह मान लेना कि सारा देश धनी होने लगा है अथवा ऐश्वर्य बढ़ने लगा है, गलत था। परन्तु इस विवेचन में अंग्रेजों ने यहां के मध्यम वर्ग को एक-दो नये सिद्धान्त सिखाये हैं और वही इस नवीन युग के निदर्शक हैं। पहले के युग में परोपजीवी जमींदार और कष्टशील किसान—ये ही दो वर्ग समाज के प्रमुख थे। उस समय सारी सम्पत्ति जमींदारों के पास संचित थी और शेष सारा समाज दासता और दरिद्रता में फंसा हुआ था। अब व्यापारियों का एक नवीन मध्यम वर्ग व्यापारियों में महत्व पाने लगा—इस कारण सारे राष्ट्र का साम्पत्तिक उत्कर्ष होने लगा और इस नवीन वर्ग के उदय में से अन्त में इंग्लैण्ड की तरह हिन्दुस्तान में राजनैतिक स्वतन्त्रता का और लोक-सत्ता का विकास होगा, इस प्रकार के ये सिद्धान्त हैं। इस मध्यम व्यापारी

[1] Indian Speeches and Documents on British Rule, Page 36–37.

वर्ग का और अंग्रेजी सुशिक्षितों का उदय, अंग्रेजी इतिहास का ज्ञान और सामन्तशाही युग का अन्त, इन घटनाओं में से अन्त को आधुनिक राष्ट्रीयता का निर्माण हिन्दुस्तान में हुआ और शुरू-ही-शुरू में वह बहुत-कुछ अंग्रेजों के सहवास और शिक्षण के द्वारा हुआ, यह कहना बेजा न होगा। परन्तु आधुनिक राष्ट्रीयता के उदय होने में (१८२९ से लेकर) पचास वर्ष का समय लगा होगा। ब्रिटिश-शासन में उत्कर्ष पानेवाला यह नया व्यापारी और सुशिक्षित वर्ग उस समय, अर्थात् १८२९ के आसपास, अंग्रेजी शासकों का गुणगान करने में और लोगों को इस बात का कायल करने में कि पहले के जमींदार वर्ग के जालिम-शासन से मुक्त करनेवाला ब्रिटिश राज्य परमेश्वर का प्रसाद है और उनकी उन्नति में बाधक विदेशयात्रा-निषेध आदि सामाजिक और धार्मिक बन्धनों के खिलाफ बगावत करने में अपनेको धन्य मान रहा था। पुरानी सामन्तशाही का कवच तोड़कर ब्रिटिश साम्राज्यवादी व्यापारियों ने यहां के मध्यम वर्ग को राजनैतिक अवस्था से मुक्त किया था, परन्तु पुराने सामाजिक और धार्मिक बन्धनों को तोड़ने में अंग्रेजी सत्ता का उपयोग अभी उसे करना बाकी था। यह नया सुशिक्षित मध्यम वर्ग जब-तब इस काम में लगा हुआ था और जबतक उसे यह अनुभव नहीं हुआ था कि हमारे औद्योगिक अभ्युदय में ब्रिटिश सत्ता बाधा डाल रही है, तबतक वह इस देश में अंग्रेजी सत्ता स्थिर करने में ईमान-धर्म और वफ़ादारी के साथ ब्रिटिश राज्य की सेवा कर रहा था। जो सामन्त-वर्ग इस ख़याल से कि अंग्रेजों ने हमारे राज्य, राज्य-सत्ता और वैभव को छीन लिया असन्तुष्ट होकर उन्हें बुरा-भला कहता था, उसे वे बागी समझते थे और उसका दमन करने में अंग्रेजों की सहायता करते थे। अंग्रेज़ भी इस नवीन वर्ग की सहायता से अपनी सत्ता इस देश में सुस्थिर कर रहे थे। मतलब यह कि अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को जीतते समय और जीतने के बाद अपनी सत्ता सुस्थिर करते हुए इस देश में एक सामाजिक क्रान्ति कर डाली थी और एक वर्ग को जीतने के लिए दूसरे वर्ग को अपनाने और उसे ऊपर उठाने का आभास तो उत्पन्न किया ही था अर्थात् अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को जीतकर एक राज्य-क्रान्ति ही नहीं बल्कि एक सर्वांगीण समाज की क्रान्ति करने का भी बीजारोपण किया।

सर जॉन सिली ने 'इंग्लैण्ड का विस्तार' नाम की एक पुस्तक लिखी है। उसमें उसने यह प्रतिपादित किया है कि अंग्रेजों के द्वारा हिन्दुस्तान जीते जाने की जो राजनैतिक घटना हुई, वह दूसरे देश को जीत लेने की पर-राष्ट्रीय राजनीति के मद में डाली जानेवाली बात नहीं, बल्कि वास्तव में भारतीय समाज के एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग को गिराने व एक वर्ग की सत्ता दूसरे वर्ग के हाथ में देने जैसी अन्तर्गत क्रान्ति का स्वरूप रखनेवाली थी। उसका रहस्य पाठक अब ठीक-ठीक समझ सकेंगे। वह कहते हैं—

"एक राज्य के द्वारा दूसरे राज्य के जीते जाने-जैसा उदाहरण यह नहीं है। जिसमें निदान प्रत्यक्षतः तो दो राज्यों का परस्पर संघर्ष हो, ऐसी यह घटना नहीं है। परराष्ट्रीय विभाग से इस घटना का कोई सम्बन्ध नहीं आता। यह तो भारतीय समाज की एक अन्तर्गत क्रान्ति है और इसकी तुलना उस प्रकार की घटना से की जानी चाहिए, जिसमें किसी समाज में कुछ अन्धाधुन्धी होने पर उसीके एक वर्ग द्वारा एकदम राजसत्ता छीन ली गई और शान्ति-स्थापना की गई। थोड़ी देर के लिए हम यही कल्पना करें कि जिन व्यापारियों ने राजसत्ता हथियाई, वे विदेशी नहीं थे, ऐसा मानने पर भी इस घटना का स्वरूप बदल नहीं जाता। हम यह कल्पना करें कि राजनैतिक अन्धाधुन्धी के कारण अपनी व्यापार-हानि से ऊबकर बम्बई के पारसी व्यापारियों ने चन्दा जमा कर अपनी रक्षा के लिए किले बनाये होते और सेना खड़ी कर ली होती और सुदैव से उन्हें शूर-वीर सेनापति मिल गये होते तो वे भी पलासी और बक्सर जैसी लड़ाइयां जीत सके होते। उन्हें भी यदि मुगल सम्राट् के द्वारा किसी प्रान्त की दीवानगीरी मिल गई होती तो अपनी सत्ता की ऐसी बुनियाद डाल सके होते कि जिसपर सारे भारतीय साम्राज्य की इमारत खड़ी की जा सकी होती।"[1]

यहां यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है कि यहां का सेठ-साहूकार और व्यापारी-वर्ग यदि सामन्त-वर्ग की जुल्म-ज्यादतियों, लड़ाइयों और तज्जात अशान्ति से ऊब उठा था तो उसीने राज्य-क्रान्ति क्यों नहीं कर ली? इसका उत्तर यही हो सकता है कि हिन्दुस्तान के तत्कालीन समाज में लोक-सत्तात्मक क्रान्ति करके आधुनिक ढंग का राष्ट्रनिर्माण करने के विचार

[1]'Expansion of England' : By J.R. Seely, Page 210-11.

किसीके दिमाग में आये ही नहीं थे। यूरोप में उस समय चारों ओर ये विचार फैल रहे थे और ब्रिटिश राष्ट्र में तो बहुत अंश तक प्रस्थापित भी हो चुके थे। परन्तु इधर हिन्दुस्तान में 'हिन्दूपद पादशाही' अथवा 'मुगल बादशाही'—के ध्येय का ही झगड़ा हो रहा था। कोई यह नहीं जानता था कि भिन्न-भिन्न धर्म के लोगों को एक राष्ट्र बनाया जा सकता है, सामन्त-पद्धति के बिना भी बड़े राज्यों का शासन चलाया जा सकता है और समाज के सामान्य नागरिक भी राज्य-क्रान्ति करके राज्यसत्ता अपने हाथ में ले सकते हैं। यद्यपि प्राचीन वर्ण-व्यवस्था अपने शुद्ध रूप में कहीं भी नहीं थी, तथापि उस समय यही कल्पना रूढ़ हो रही थी कि राजे-रजवाड़े और सरदार ही राज करें। ब्राह्मण और वैश्य का काम करनेवालों के लिए राजनैतिक क्षेत्र नहीं है। यदि कुछ ब्राह्मण राजा और सरदार थे तो कुछ वैश्य भी राजा और सामन्त बनते होंगे, परन्तु उसका अर्थ यह नहीं था कि वैश्य-वृत्ति करनेवाले राजनीति में पड़ें और अपने प्रतिनिधियों के द्वारा राज्य-शासन चलायें। अर्थात् वैश्यों को यदि अपने राजा का शासन अवांछ-नीय मालूम हुआ तो वे दूसरे राजा का आश्रय ले लेते और ब्राह्मण भी जो कोई राजा हो जाता उसके आश्रित बनकर रहने में कोई दीनता नहीं सम-झते थे। अंग्रेजों की सेना में अनेक ब्राह्मण नौकर थे और शास्त्र-धर्म के अनुयायी के नाम से प्रसिद्ध राजपूत भी बहुत थे। बंगाल और मद्रास प्रांत की अंग्रेजी सेना में बहुतेरे उच्चवर्णीय हिन्दू थे, परन्तु बम्बई प्रान्त की सेना में ऐसा नहीं था। इससे यह मालूम होता है कि बम्बई प्रान्त के उच्च वर्णियों को परकीय और परधर्मी शासकों की सेना में भरती होने की अपेक्षा स्वकीय राज्य-कर्ताओं की सेना में नौकरी करके जमीन-जागीर प्राप्त करना अधिक आकर्षक मालूम पड़ता होगा, और उनके सद्गुणों, स्वाभि-मान और स्वामिनिष्ठा को स्वराज्य-सेवा का स्वरूप प्राप्त हो गया होगा। फिर भी तत्कालीन भारत के हिन्दू-समाज की ओर देखें तो अनेक लेखकों ने जो यह लिखा है कि उसमें स्वाभिमान, स्वामिनिष्ठा, धर्मनिष्ठा, शौर्य्य, धैर्य्य, आदि गुण-सम्पत्ति भरपूर थी परन्तु राष्ट्राभिमान बिल्कुल नहीं था, वह सही मालूम होता है।

यहां धर्माभिमान अथवा धर्मनिष्ठा का कुछ विवेचन कर लेना ठीक

होगा। स्वधर्म-निष्ठा और स्वराज्य-निष्ठा का संयोग इस समय बिल्कुल नहीं दिखाई देता। धर्माभिमान से प्रेरित होकर शिवाजी ने स्वराज्य-स्थापना की, ऐसा हम मानते हैं और किसी समय स्वधर्म-भावना ने आधुनिक राष्ट्र-निष्ठा का कार्य किया भी होगा, परन्तु अठारहवीं सदी के हिन्दुओं में यह ज्ञान बिल्कुल नहीं पाया जाता कि स्वराज्य-निष्ठा और स्वधर्म-निष्ठा में कुछ समन्वय है। उस समय व्यापारियों और सेठ-साहूकारों को अंग्रेजों ने यह आश्वासन दिया कि हम तुम्हारे धर्म में हस्तक्षेप नहीं करेंगे और तुम्हारे मन्दिरों की रक्षा करेंगे। इससे उनके मन में यह खयाल आया दिखाई नहीं देता कि यह आश्वासन देनेवाले विधर्मी और विदेशी हैं और उनकी सहायता करके स्वधर्मी और स्वदेशी राजाओं को उनका गुलाम बना देना अपने धर्म का घात है। व्यापारी और सेठ-साहूकारों की शान्ति और धर्म-मन्दिरों की रक्षा के लिए स्वराज्य-स्थापना की आवश्यकता मालूम नहीं होती थी। राजनीति में पड़ना और राज-काज करना उन्हें अपना धर्म नहीं मालूम होता था, इसलिए विदेशियों को अपने धर्म में घुसाने की राजनीति के वे शिकार हो गये। धर्म-संरक्षण का भार जिस ब्राह्मण-वर्ग पर था, उसकी यह दशा थी। कुछ ब्राह्मण राजा जरूर थे, परन्तु महाराष्ट्र के कुछ ब्राह्मणों को छोड़कर और कहीं भी ब्राह्मणों को अपना यह कर्तव्य नहीं मालूम होता था कि विदेशी और विधर्मी आक्रमणों के विरुद्ध सबको जाग्रत और संगठित किया जाय। हम मानते हैं कि समर्थ रामदास और शिवाजी का महाराष्ट्र-धर्म यही था। परन्तु राष्ट्र-धर्म की भावना ब्राह्मणों और क्षत्रियों में व्यापक रूप से फैली हुई नहीं दिखाई देती। यूरोप में भी भारत की तरह मध्ययुग में आनुवंशिकता नहीं परन्तु एक प्रकार की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था जरूरी थी; पर वहां की धर्म-संस्था हमारे यहां की अपेक्षा अधिक संगठित थी और जब वहां के मुसलमानों के हमले ईसाइयों के धर्म-स्थानों पर हुए, तब वहां के धर्माधिकारियों ने यूरोप के तमाम राजाओं को मुसलमानों के खिलाफ धर्म-युद्ध करने को प्रोत्साहन दिया तथा प्रत्यक्ष रणक्षेत्र में जाकर लड़नेवाले नये धर्म-सम्प्रदाय भी बनाये। हमारे यहां ऐसा हुआ दिखाई नहीं देता। स्वधर्म-रक्षण के लिए स्वराज्य की आवश्यकता होती है, यह प्रतीति धर्माधिकारी ब्राह्मण-वर्ग में मुसलमानों के आक्रमण के समय भी व्यापक

रूप में नहीं दिखाई देती। कहीं यह इसी भावना का फल तो न हो कि राज-काज क्षत्रियों का काम है, उससे ब्राह्मणों को क्या लेना-देना !

कारण कुछ भी हो, ब्राह्मण व वैश्य-वृत्ति के और अन्य वर्ण के लोगों में राजनीति की, स्वराज्य-रक्षण की अथवा स्वराज्य-संस्थापन की आवश्यकता की प्रतीति दिखाई नहीं देती। हमारा स्वधर्माभिमान स्वराज्याभिमान से प्रायः अलिप्त ही था। निदान मुसलमानों के सैकड़ों वर्षों के शासन के बाद तो ऐसी स्थिति हो गई थी,यह निर्विवाद है। उनमें समर्थ रामदास अथवा शिवाजी का अपवाद हो सकता है और इसीलिए उनके महाराष्ट्र-धर्म को महत्व दिया जाता है। परन्तु यह महाराष्ट्र-धर्म भी उत्तर-पेशवाई में बच नहीं रहा था और अन्य प्रान्त के हिन्दुओं में तो उसका नामो-निशान भी नहीं था। मराठों ने साम्राज्य-स्थापना का प्रयत्न जरूर किया मगर आखिर में इस साम्राज्य के भिन्न-भिन्न सरदारों ने अंग्रेजों के पक्ष में मिलकर स्वामि-द्रोह और स्वराज्य-द्रोह किया, यह स्पष्ट है। सर जॉन मालकम ने सन् १८३० में लिखा है कि इन सरदारों ने पिछले तीस साल तक स्वामि-द्रोह करके ब्रिटिश राज्य के प्रति एकनिष्ठा दिखलाई है और इसके उपलक्ष में ब्रिटिश सरकार से सिफारिश की है कि इनके इनाम और जागीर जब्त न की जाय। मतलब यह है कि उस समय हमारा स्वामिनिष्ठा का गुण भी बहुत-कुछ लुप्त हो गया था और हमारे उच्च-वर्णीय, उच्च-कुलीन सरदार द्रोही बन गये। हमारी-धर्म-निष्ठा जिस प्रकार हीन और संकुचित बन गई थी और विदेशी और विधर्मी शासकों की ओर से जिस प्रकार हमारे धार्मिक रस्मो-रिवाज में हस्तक्षेप न करने और हमारे धर्म-मन्दिरों पर हाथ न डालने का अभिवचन पाकर उनकी सहायता करने के लिए हम तैयार थे, उसी प्रकार हमारी स्वामि-निष्ठा भी इतनी संकुचित हो गई थी कि हमारे ऊपरी निकट सैनिक अधिकारी यदि हमसे प्रेम की दो मीठी बातें कर लेते तो हम प्राणपन से उनकी सेवा करने को तैयार हो जाते थे। वह स्वामी हमारे गांव का, धर्म का अथवा राज्य का होना चाहिए, ऐसी भावना समाज के कनिष्ठ ही नहीं वरिष्ठ समझे जानेवाले वर्ग में भी जाग्रत न थी, अर्थात् राष्ट्रीयता की दृष्टि से सब वर्ग शूद्र अथवा दास बन गये थे। उनके मन से यह खयाल ही निकल गया था कि अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए स्वराज्य की आवश्य-

कता है। सारांश यह है कि धर्मनिष्ठा व स्वामि-निष्ठा इन गुणों से स्वराज्य-स्थापना अथवा स्वराज्य-संरक्षण होगा, ऐसी हमारी स्थिति उस समय नहीं रह गई थी। हमारे पास केवल वैयक्तिक सद्गुण थे। राष्ट्र-निर्माण व स्वराज्य-निर्माण के लिए आवश्यक सद्गुण बिल्कुल लुप्त हो गये थे।

धर्म-जाति-निरपेक्ष आधुनिक लोक-सत्ता वा राष्ट्रीयता तो उस समय हमारे देश में नहीं थी, परन्तु धर्मनिष्ठा और स्वामि-निष्ठा इन सद्गुणों के बल पर जो एक स्वराज्य-निष्ठा मराठों में शिवाजी और सम्भाजी के समय में और बाद में राजाराम के समय में दिखाई दी वह भी उत्तर-पेशवाई में बाकी नहीं बची। इसकी जिम्मेदारी पेशवाओं पर कितनी और दूसरे सरदारों पर कितनी आती है, इसकी चर्चा की गुंजाइश यहां नहीं है। बाजीराव यदि अयोग्य था तो उसे हटाकर सबके एक मुख्य प्रयत्न करने का मार्ग तमाम सरदारों को ग्रहण करना चाहिए था, परन्तु इसके विपरीत वे अंग्रेजों द्वारा मिली अपनी जागीर, जमीन और इनाम को स्थिर और चिरन्तन करने में लग गये—यह राज्य-द्रोह, धर्म-द्रोह और स्वामिद्रोह नहीं तो और क्या है? इस तरह हिन्दू-समाज को इस स्थिति पर पहुंचाने का पाप उसके कर्तृत्ववान ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण और सरदार वर्ग को लगे बिना नहीं रह सकता। हां, इसकी ज़िम्मेदारी किसी एक व्यक्ति पर नहीं डाली जा सकती।

यूरोप के व्यापार-पेशा साम्राज्यवर्द्धक लोग यदि सत्रहवीं, अठारहवीं सदी में हिन्दुस्तान में आये ही न होते तो सम्भव था कि गिरते हुए मुगल-साम्राज्य को मिटाकर दिल्ली में मराठा-शाही अथवा हिन्दू-पद पादशाही-स्थापित की जा सकती थी, ऐसी कल्पना की जा सकती है; परन्तु वह निरर्थक है। यूरोप में जो नई व्यापारी-संस्कृति निर्माण हुई उससे टक्कर लेने का सामर्थ्य भारतीय संस्कृति में अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में बाकी नहीं बचा था और यह माने बिना गति नहीं है कि आधुनिक, मध्ययुगीन किंवा प्राचीन किसी भी प्रकार के स्वराज्य-रक्षण या स्वराज्य-संस्थापन के लिए वह असमर्थ हो गई थी। मुसलमानी साम्राज्य और उसमें से निर्माण हुए दूसरे राज्यों को मराठों ने ढीला और निर्जीव कर दिया था और उन्हें ऐसी आशा होने लगी थी कि हम हिन्दुस्तान की सार्वभौम सत्ता बन जायंगे।

इतने में ही अंग्रेजों ने उनकी सत्ता को डगमगा दिया और भारतीय हिन्दू-मुसलमानों को यकीन करा दिया कि आधुनिक राष्ट्रीयता का पाठ हमसे सीखे बगैर तुम इस दुनिया में स्वतन्त्र होकर नहीं रह सकते। १८१८ ईस्वी में पेशवाई का अन्त होने से प्राचीन व मध्ययुगीन भारत का अन्त हुआ और आधुनिक भारत का इतिहास अथवा यों कहें कि भारत का आधुनिक इतिहास शुरू हुआ। इस आधुनिक भारत के निर्माण में किसने क्या-क्या पराक्रम किया और इसके विधाता कौन-कौन हैं यही इस पुस्तक का विषय है।

अनेक धर्म और जातियों के लोगों में राष्ट्रीयता कैसे पैदा की जाय और सामन्तशाही को हटाकर लोकशाही अर्थात् प्रजातन्त्र की स्थापना कैसे की जाय—ये दो सबक उन भारतीयों को यूरोपियनों से सीखने थे। भारत उन्हें अब सीख चुका, पर उधर ब्रिटेन में आज पूंजीवाद के कारण राष्ट्रीयता का नाश होकर उसके अन्तर्गत वर्ग-युद्ध जम रहा है और लोक-शाही धनिक-शाही बन गई है। अब भारत के युवक-समाज के सामने यह एक महत्व का प्रश्न है कि आधुनिक भारत पूंजीवाद, तज्जन्य अपरिहार्य वर्ग-युद्ध और अन्त को प्रजातन्त्र का त्याग और राष्ट्रीयता का विपर्यास—इस मार्ग को स्वीकार करेगा या दूसरे किसी मार्ग को ग्रहण करके राष्ट्रीयता और प्रजासत्ता का विकास यूरोप से भिन्न दिशा में करके यूरोप को शान्ति, समता, सुख और स्वतन्त्रता का अभिनव मार्ग दिखायेगा। इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले भारतीय युवकों को आधुनिक भारत के पिछले सौ वर्षों के इतिहास का अवश्य मन्थन करना चाहिए। इस काल में जो महान् राष्ट्र-भक्त विभूतियां हुईं उनकी सत्य-निष्ठा व स्वातन्त्र्य की आत्म-प्रेरणा उन्हें अपने अंतःकरण में जाग्रत करनी चाहिए और उस प्रेरणा से बनी तेजस्वी बुद्धि के द्वारा संसार के घटना-चक्रों को देखकर अपना भावी इतिहास स्वातन्त्र्य की आत्म-प्रेरणा और बुद्धि-बल की सहायता से निर्माण करना चाहिए।

: २ :

अंग्रेजी-राज्य कैसे जमा ?

"जबतक हम लोगों के रीति-रिवाज न बदलें तबतक इस देश का हित नहीं हो सकता और जबतक इसमें खुद स्वराज्य चलाने का सामर्थ्य न आ जायगा तबतक अंग्रेजों के इस देश से चले जाने से कोई लाभ न होगा। फिर अन्धेर-गर्दी होगी और किसीका जान-माल सुरक्षित न रहेगा। जबरदस्त का बोलबाला होगा और कमजोर भूखों मरेंगे। उन्हें सबकुछ खोना होगा। इसलिए जो सुज्ञ हैं उन्हें चाहिए कि वे अंग्रेजों के जाने की इच्छा न करें।"
—लोक हितवादी, २० जनवरी, १८५०, शतपत नं० ८६

"If the argument be that the spread of knowledge may eventually be fatal to our rule in India, I maintain that whatever may be the consequence, it is our duty to communicate the benefits of knowledge. If India could only be preserved as a part of the British Empire, by keeping its inhabitants in a state of ignorance, our domination may be a curse to the country and ought to cease. But I see more ground for just apprehension in ignorance itself. I look the increase of knowledge with a hope that it may strengthen our Empire."[1]

अंग्रेजी राज्य यहां कैसे जमा? इसका उत्तर अंग्रेजी शासकों की समय-समय पर हुई उन चर्चाओं से मिल सकता है कि यहां की शासन-पद्धति किस प्रकार की हो, उसकी नीति और अन्तिम ध्येय क्या हो और यहां के निवासियों के साथ उनका व्यवहार कैसा हो, उनके प्रति हमारा भाव क्या हो? उसी प्रकार यहां की शासन-पद्धति का विकास कैसा होता गया, उसे वर्तमान स्वरूप कैसे प्राप्त हुआ, और उसका भविष्य क्या होगा?—इस-पर जो प्रकाश डाला गया है और जो चर्चा हुई है उन्हें पढ़ने से भी यह

[1] Lord Metcalf 'Life of Lord Metcalf'—Vol. II., Page. 262–264.

मालूम हो सकता है। सन् १८१८ में पेशवाई नष्ट होने के बाद सारे हिन्दुस्तान का सार्वभौमत्व प्राप्त होने का निश्चय अंग्रेजों को हो गया और वे इस बात का विचार करने लगे कि इस सार्वभौमत्व की बुनियाद मजबूत कैसे हो, और वह अधिक-से-अधिक समय तक कैसे टिका रहे ? ऐसा विचार करके जो नीति उन्होंने निश्चित की, उसमें उन्हें बहुत सफलता मिली और उसमें उन्होंने समय-समय पर जो सुधार किये, उन्हें देखते हुए यह कहना पड़ता है कि उनके सार्वभौमत्व को ज्यादा-से-ज्यादा समय कायम रखने के लिए इससे अच्छी नीति दूसरी नहीं हो सकती। उस दूरदर्शी नीति के कारण भारतीय जनता की भवितव्यता पर इसका कैसा, क्या असर पड़ेगा इसका विचार उन्होंने पहले से ही कर रक्खा था और यह कहना होगा कि पिछले सौ-सवा सौ वर्ष के इतिहास को देखते हुए उनके दूरदर्शी राजनीतिज्ञों का अन्दाज बहुत-कुछ सही निकला।

पिछले प्रकरण में यह बताया जा चुका है कि अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान पर जो विजय भी पाई वह विदेश या पर-राज्य पर आक्रमण करने के स्वरूप की नहीं थी, बल्कि बहुत-कुछ एक अन्तर्गत क्रान्ति करने के ढंग की, कम-से-कम शुरू-शुरू में, थी। हिन्दुस्तान के किसी भी प्रथम-श्रेणी के राज्य पर चढ़ाई करके उसपर अपना स्वामित्व प्रकट रूप से उन्होंने नहीं जमाया। किसी राज्य में दो पक्ष हो गये तो कमजोर पक्ष को अपना बल देकर उसे सत्ताधारी बना देना, माण्डलिकों को सार्वभौम-सत्ता के खिलाफ खड़ा कर देना, सरदारों को राजा-नवाबों के खिलाफ भड़का देना और कहीं-कहीं नामधारी राजा को अपनाकर प्रजा में फूट डलवा देना, इसी प्रकार की भेद-नीति के द्वारा उन्होने अधिकांश राज्यों को पराजित किया है और बंगाल को सर करने में तो उन्होंने मुसलमानों के खिलाफ हिन्दुओं का और सरदार-सामन्तों के विरुद्ध व्यापारी मध्य-वर्ग का दुरुपयोग करके धर्म-द्वेष और वर्ग-द्वेष तक का भी उपयोग किया दिखाई देता है। हिन्दुस्तान का सार्वभौमत्व प्राप्त होने के बाद तो उन्होंने हिन्दुस्तान में एक सर्वांगीण क्रान्ति कर डालने की नीति सोच-समझकर स्वीकार की थी। उनमें एक दल ऐसा भी था जो यह मानता था कि इस सर्वांगीण क्रान्ति का अन्तिम परिणाम हमारी साम्राज्य-सत्ता के लिए घातक सिद्ध होगा; परन्तु साथ

ही उनमें एक दूसरे पक्ष का मत था कि यद्यपि अन्तिम परिणाम आगे जाकर कभी घातक सिद्ध हो तो भी इस नीति का सन्निकट परिणाम हमारे साम्राज्य का पाया सुदृढ़ करने में कारगर साबित होगा। इस नीति का अवलम्बन उग्रता के साथ न करके नरमी के साथ धीरे-धीरे किया जाय तो भारतीय राष्ट्र की सर्वांगीण क्रान्ति होने में जो सौ-दो सौ साल लगेंगे, उनमें तो हमारे राज्य को भीतरी खतरे का अन्देशा न रहेगा। इतना ही नहीं, बल्कि हमारी इस नीति के फलस्वरूप जो एक सर्वांगीण सुधारवादी नेता-वर्ग उत्पन्न होगा वह हमारे साम्राज्य पर होनेवाले विदेशी आक्रमणों का मुकाबला करने में काम आयगा, ऐसा इन राजनीतिज्ञों का मत था और वह बहुत-कुछ सही निकला। अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान का सार्वभौमत्व प्राप्त करने के बाद जो एक सर्वांगीण सुधारक-वर्ग निर्माण किया, वह ब्रिटिश-साम्राज्य के प्रति वफादार रहा और पहले-पहल तो बिल्कुल अराष्ट्रीय बनकर विदेशियों का एजेण्ट ही बन गया। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने इस बात की बड़ी सावधानी रक्खी थी कि इस तरह अंग्रेजों की प्रेरणा से जो सर्वांगीण सुधारवाद हिन्दुस्तान में उदय हुआ वह राजनिष्ठा की मर्यादा को न छोडे। जिस प्रकार रामदासी सम्प्रदाय का उपयोग शिवाजी के स्वराज्य-सम्बन्धी प्रेम को हिन्दू-जनता में फैलाने में हुआ, उसी तरह इस नव-सुशिक्षित वर्ग का उपयोग ब्रिटिशों के साम्राज्य-सम्बन्धी प्रेम को अशिक्षित हिन्दी जनता में फैलाने में होगा—ऐसी ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की कल्पना थी और इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार यह पर-राज्य-प्रेरित सुधारवाद भारतीय राष्ट्र की बुद्धिमत्ता को राजनीति-विमुख अथवा अराष्ट्रीय बनवाने में कुछ समय तक कारणीभूत हुआ। यही कारण है कि हिन्दुस्तान में जब वास्तविक राष्ट्रीयता उदय हुई तब सर्वांगीण सुधारों के विरोध के रूप में उसका जन्म हुआ, तथापि उसका वास्तविक अन्तरंग सामाजिक और धार्मिक सुधारों का विरोध नहीं, बल्कि दूरदर्शी और गहरी राजनैतिक दृष्टि और प्रखर राष्ट्राभिमान ही है। भारतीय राष्ट्रवाद यद्यपि इस प्रकार शुरू-शुरू में सामाजिक और धार्मिक सुधारों की प्रतिकार भावना के रूप में उत्पन्न होने जैसा प्रतीत हुआ, तथापि आगे चलकर अपने राष्ट्राभिमान की ज्योति जगाने के लिए उसे भी सामाजिक और धार्मिक सुधारों का उपयोग करना पड़ा

और इसीलिए भारतीय राष्ट्रवाद आज धीरे-धीरे सर्वांगीण क्रान्तिवाद का रूप धारण कर रहा है। समाज की सर्वांगीण क्रान्ति के लिए समाज के आर्थिक संगठन की बुनियाद ही पहले बदलनी पड़ती है और उसके पहले देश की शासन-सत्ता सामान्य जनता के हाथ में आने की जरूरत है, क्रान्ति-शास्त्र के इस अधारभूत सिद्धान्त का ज्ञान आज भारतीय लोगों को हो गया है। इस कारण आज भारतीय राष्ट्रवाद यद्यपि सर्वांगीण क्रान्तिवाद का स्वरूप धारण कर रहा है तो भी राजनीति पर उसका जोर कम न होकर अधिकाधिक बढ़ ही रहा है। पहले का सर्वांगीण सुधारवाद ब्रिटिश-साम्राज्य का वफादार मित्र था तो आज का सर्वांगीण क्रान्तिवाद ब्रिटिश-साम्राज्य का कट्टर शत्रु है। पहले का सुधारवाद शुरू में राजकरण-विमुख और बाद में नरम राजनैतिक था तो आज का सर्वांगीण क्रान्तिवाद पहले राजनैतिक क्रान्ति और बाद को सर्वांगीण क्रान्ति-शास्त्र के तत्व को पहचान कर चलनेवाला है। इस तरह हिन्दुस्तान में जो सर्वांगीण सुधारवाद पिछले शतक में निर्मित हुआ उससे आज का सर्वांगीण क्रान्तिवाद भिन्न है और पहले के सुधारवाद की राजनीति बहुत नरम थी तो आज के क्रांतिवाद की राजनीति बहुत गरम है, ऐसा आक्षेप भारतीय राष्ट्रवादी उसपर कर सकते हैं। परन्तु भारतीय राष्ट्रवाद का भावी विकास इस सर्वांगीण क्रांतिवाद की दिशा में ही होता जायगा इसके विषय में अब अधिक शंका नहीं रह गई है। पहले के सुधारवाद में जहां प्रेरक शक्ति ब्रिटिश इतिहास थी वहां आज के क्रांतिवाद की प्रेरक शक्ति रूस की क्रांति है। अलबत्ता पहले के सुधारवाद की तरह इस क्रांतिवाद का भी राष्ट्रीयकरण होना आवश्यक है और जब वह भारतीय जनता के अन्तःकरण में स्थान ग्रहण कर लेगा तभी उसका वास्तविक सामर्थ्य प्रकट होगा।

राजा राममोहन राय से लेकर जस्टिस रानडे तक जो सर्वांगीण सुधारवादी हुए उनके भाषण और लेखों में कुछ भाव यद्यपि हमें राष्ट्रीयता से असंगत मालूम होते हैं तो भी कुल मिलाकर विचार करने से मालूम पड़ता है कि आधुनिक भारत का जन्म इन्हींके प्रयत्न और प्रचारों से हुआ है और आज भारतीय राष्ट्रवाद को जो सर्वांगीण क्रान्तिवाद का स्वरूप प्राप्त हुआ है उसके बीज भी उनके द्वारा हिन्दुस्तान में प्रवर्तित नवीन विचार-युग में

मिल सकते हैं। भारतीय संस्कृति के इतिहास में इस सुधारवादी विचार-युग का विशेष महत्त्व है और यह सुधारवाद यद्यपि कुछ समय तक ब्रिटिश-साम्राज्य को सुस्थिर बनाने में कारणीभूत हुआ हो तो भी यह कहना कि ये सामाजिक और धार्मिक सुधारक देश-द्रोही थे, कृतघ्नता होगी। उनके अन्तःकरण की प्रेरक शक्ति शुद्ध देशभक्ति और देशोद्धार ही थी और उन्होंने देश में जो नव-ज्योति प्रज्ज्वलित की इसके सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। उस विचार-ज्योति के प्रकाश में भारतीयों की आंखें कुछ समय तक चौंधिया गई हों तो उसका दोष उस प्रकाश को नहीं बल्कि भारतीय संस्कृति पर जो कुछ समय तक अन्धकार फैल गया था, उसका था। जिन ब्रिटिश दूरदर्शी राजनीतिज्ञों ने भारतीय लोगों को पाश्चात्य शिक्षा देकर धीरे-धीरे राज-काज में स्थान देने की नीति स्वार्थभाव से निश्चित की, उन्हें इस विचार-ज्योति को प्रथम प्रज्ज्वलित करने का बहुत-कुछ श्रेय है, फिर भी अपने साम्राज्य को बल प्राप्त कराने के लिए इस ज्योति को जगानेवाले ब्रिटिश राजनीतिज्ञ और अपने देश में फैले अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए पाश्चात्य विद्या की ज्योति सर्वत्र फैलाने की इच्छा रखनेवाले सर्वांगीण सुधारवादी भारतीय देशभक्त दोनों को हम एक ही श्रेणी में नहीं बिठा सकते। इसी प्रकार जिन ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने दूरदर्शी स्वार्थ के वशीभूत होकर ही क्यों न हों, भारतीय लोगों को ज्ञान-दान देकर धीरे-धीरे राज-काज में उनका प्रवेश कराने की नीति निर्धारित की, उनके भी दूरदर्शी अथवा बुद्धिमत्तायुक्त स्वार्थ के लिए भारतीय देश-भक्तों को कृतज्ञ होना अनुचित नहीं है। इस कृतज्ञता के कुछ इष्टानिष्ट परिणाम भारतीय राष्ट्रीयता के विकास पर हुए दिखाई देते हैं। उसकी चर्चा इस पुस्तक में आगे स्थान-स्थान पर होनेवाली ही है; परन्तु इससे पहले अंग्रेजों के सार्वभौमत्व हस्तगत करते ही अपने साम्राज्य की जड़ मजबूत करने के लिए उन्होंने कौन-सी दूरदर्शी नीति अख्तियार की, इसका ज़रा विस्तार मे विचार कर लेने की जरूरत है।

माउण्ट स्टुअर्ट एलिफस्टन ने १८१८ ई० में पेशवाई को खत्म करके हिन्दुस्तान में अंग्रेजों का सार्वभौमत्व स्थापन किया और पेशवाई के बाद वही बम्बई प्रान्त का पहला गर्वनर हुआ। १८१९ से १८२७ तक वह

गवर्नर रहा। इसी समय में सर टॉमस मनरो मद्रास का गवर्नर था। इन दोनों ने ब्रिटिश शासन में उदार-नीति दाखिल की या दिखाई और इसकी घोषणा करके उन्होंने यहां के लोगों का हृदय आकर्षित कर लिया। मई १८१९ में एल्फिन्स्टन सर जॉन माल्कम को लिखता है—"आज या कल सारा देश हम अपना बना लें यही बहुधा वांछनीय है—यदि हम यहां की देशी सेना को काबू में रख सकें और रूसी लोगों को दूर रख सकें तो जबतक देशी लोग हमारी शिक्षा से समझदार न बन जायं और जबतक दोनों के हित की दृष्टि से हमारा सम्बन्ध तोड़ना इष्ट न हो तबतक दूसरा कोई भय मुझे हमारे साम्राज्य के लिए दिखाई नहीं देता।"[1]

इसके बाद अगले महीने में वह मेकेंटॉश को लिखता है—"हमारा भारतीय साम्राज्य अधिक समय नहीं टिकेगा, यह मत महज एक कुशंका नहीं बल्कि युक्तियुक्त है। इस साम्राज्य का अन्त किस प्रकार होगा यह समझना बड़ा मुश्किल है, परन्तु रूस अथवा किसी विदेशी आक्रमण से यह बच गया तो उसके विनाश के बीज देशी सेना में मिलेंगे ऐसा मुझे प्रतीत होता है। यह देशी सेना बड़ा नाजुक और भयंकर यन्त्र है और उसकी व्यवस्था में ज़रा भी कहीं भूल हुई तो बात-की-बात में वह हमारे खिलाफ हो जायगी। हमारे प्रभुत्व का अत्यन्त इष्ट अन्त यही हो सकता है कि हमारे शासन में यहां के लोगों के अन्दर इतने सुधार हो जायं कि किसी भी विदेशी सत्ता का राज्य करना असम्भव हो जाय। परन्तु यह समय कितना लम्बा होगा इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता···फिर भी हमारे सम्बन्ध-विच्छेद का समय कभी-न-कभी आये बिना नहीं रह सकता और यहां के लोग जंगली बने रहकर अत्याचार करके हमसे सम्बन्ध तोड़ डालें इससे तो हमारे लिए यही अधिक हितकारक है कि भले ही वह जल्दी टूट जाय; परन्तु टूटे वह उनका सुधार होने के बाद। यदि पहली बात हुई तो हमारे यहां बसनेवाले सब लोग और हमारा सारा व्यापार तहस-नहस हो जायगा और इस देश में हमने जो संस्थाएं स्थापित की हैं वे भी नष्ट हो जायंगी।"[2]

---

[1] Mount Stuart Elphiniston By J. S. Cotton, Page 185

[2] Ibid P. 185–6

इन दो अवतरणों से उस समय के दूरदर्शी ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के विचारों की कल्पना हमें हो सकती है। उन्हें अपने साम्राज्य के लिए तात्कालिक संकट दो ही मालूम होते थे। एक रूस-जैसी विदेशी यूरोपीय सत्ता का भय और दूसरी भारतीय सेना की बग़ावत का संकट। यहां के राजे-रजवाड़ों का उन्हें बिल्कुल डर नहीं था और विदेशी संकट के लिए भी वे एशिया के किसी भी राष्ट्र का उल्लेख नहीं करते हैं। यह बात याद रखने लायक है कि उन्होंने महज़ रूस का जिक्र किया है। नेपोलियन की पराजय के बाद फ्रेंच लोगों का संकट उन लोगों के लिए बाकी नहीं रह गया था; और एशियाई राज्य से उन्हें कोई डर नहीं मालूम होता था। उन्हें डर था तो हिन्दुस्तानी सेना की बगावत का। वे मानते थे कि हिन्दुस्तानियों की सहायता से जीते हुए हिन्दुस्तान को हिन्दुस्तान की सहायता से ही अपने ताबे में रख सकेंगे। यहां के राजे-रजवाड़ों से उन्हें कोई डर न था। पर अगर देशी सेना बिगड़ गई तो हमारा पता न लगेगा, यह भय उन्हें अवश्य था। उन ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को उस समय यह आशंका बिल्कुल नहीं थी कि यहां के सब राजे-रजवाड़े एक झंडे के नीचे एकत्र होकर हमारे विदेशी साम्राज्य को हटा देंगे और हिन्दुस्तान पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेंगे। वे जानते थे कि हिन्दुस्तानी राजे-महाराजे, सरदार-जागीरदार अथवा उनके विद्वान-अविद्वान राजनीतिज्ञ हिन्दुस्तान में राष्ट्रीयता पैदा नहीं कर सकते, क्योंकि वे संसार की संस्कृति में पिछड़े हुए हैं, अर्द्ध-जंगली हैं, आपस में एक-दूसरे से लड़ते हैं, अनुशासन और कवायद के महत्व को नहीं जानते, विदेशी प्रभुत्व पर उनके दिल को चोट नहीं लगती, वे धर्मान्धता में डूबे हुए हैं, आधुनिक राष्ट्र-निर्माण से दूर हैं, उन्हें लोक-सत्ता का ज्ञान नहीं है, संसार के घटना-चक्र से वे अपरिचित हैं और उनके पास हमारे जैसे शस्त्रास्त्र भी नहीं हैं। वे यह खयाल करते थे कि यदि नेपोलियन की शिकस्त न होती तो भारतीय लोगों के सुधार का काम फ्रेंच लोगों को करना पड़ता, परन्तु अब उसकी जिम्मेदारी हमपर आ गई है। वे जानते थे कि यदि हमने इन्हें सुधारा, राज-काज का सबक सिखाया और अपनी ही संस्कृति की लोक-सत्तात्मक राष्ट्र-निर्माण की कल्पना यहां जड़ पकड़ गई तो फिर यही लोग एक होकर हमारा मुकाबला करेंगे और फिर उनके मुकाबले में हम टिक न

सकेंगे। परन्तु इस बात में सौ, दोसौ साल लग जायंगे और तबतक हम इनपर अपनी सत्ता चला सकेंगे, ऐसा उनका आत्म-विश्वास था। तब बहुत दूर के इस तीसरे संकट को छोड़ दें तो फिर ऊपर लिखे मुताबिक तात्कालिक संकट दो ही रह जाते हैं--एक बाहर से रूस के हमले का और एक भीतर से हिन्दुस्तानी सेना की बगावत का। इसे दूर करने के लिए उन्होंने क्या-क्या तजवीजें की, इसका अब विचार करें।

वे यह जानते थे कि जबतक हिन्दुस्तान के जन-साधारण में राष्ट्र-भावना न पैदा होगी तबतक यदि महज सेना की बगावत के बल पर हिन्दुस्तान आजाद होना और सुख-शांति से रहना चाहे तो यह अशक्य है। महज सैनिक विद्रोह के द्वारा राष्ट्र-निर्माण नहीं हो सकता—हां, देश में अंधाधुन्धी और पिंडारगर्दी अलबत्ता हो सकती हैं। यहां के हिन्दू-मुसलमान राजा-नवाबों का यह खयाल हो सकता है कि यूरोपियन लोग यदि इधर आये ही न होते तो सम्भव था कि इस अंधाधुन्धी से कोई सम्पन्नशाही-ढंग का तितर-बितर साम्राज्य स्थापित कर पाये होते; परन्तु यहां के बेवकूफ और नालायक राजे-रजवाड़े यह समझे हुए थे कि अंगरेजों की कवायद-निपुण तालीमयाफ्ता सेना के और भेद-नीति के मुकाबले में और एक बड़े क्षेत्र में शांति का शासन स्थापित करके आम लोगों के हृदय को आकर्षित कर लेने की उनकी कला के सामने हमारा कुछ बस न चलेगा। इधर अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने अपने मन में यह तय किया होगा कि हमारी शक्ति है तो बहुत थोड़ी, परन्तु इन मूर्खों को वह बहुत बड़ी मालूम होती है, क्योंकि राष्ट्र-निर्माण का वा आपस में एका करके विदेशियों से लड़ने का महत्व वे नहीं जानते हैं, आपस के लड़ाई-झगड़ों के या पेट के लिए दूसरों को घर बुलाकर उनकी नौकरी-चाकरी करने में इन्हें जब शर्म नहीं आती तब इनसे डरने की कोई आवश्यकता नहीं है। फ्रेड्रिक जॉन शीअर नामक अंग्रेज लेखक सन् १८३५ में अपने 'इण्डियन आर्मी' नामक लेख में इसी बात का प्रतिपादन करता है कि हिन्दुस्तानियों में आत्म-विश्वास नहीं है, न राष्ट्राभिमान है और वे एका भी नहीं कर सकते—यही हमारे साम्राज्य का सामर्थ्य है—

इस कथन का कि "हमारा भारतीय-साम्राज्य लोकमत के आधार पर खड़ा है, अर्थ मैंने अब समझा है। इसका अर्थ समझा तो यह जाता है कि लोग

हमारे न्याय-भाव पर और हमारी बात पर ज्यादा विश्वास रखते हैं और इसलिए हिन्दुस्तानियों से हमारी हुकूमत को ज्यादा पसन्द करते हैं। परन्तु जिस राजनीतिज्ञ ने यह पहला रूप बनाया उसका अर्थ इतना ही है कि—हिन्दुस्तानी यह जानते हैं कि हमारा सामर्थ्य बहुत है और इसलिए हमारा विरोध करना व्यर्थ है। परन्तु यदि वे एका कर लें तो बहुत आसानी से हमारा नामोनिशां मिटा सकेंगे—ऐसा मुझे भय है। जो हो, हमारे साम्राज्य का आधार तो तलवार ही है, जनता की इच्छा व प्रेम नहीं। यदि हमारी फौज वापस बुला ली जाय या उसकी संख्या कम कर दी जाय तो इसकी प्रतीति हो जायगी, लेकिन उसका फल भी हमें भोगना पड़ेगा।"[१]

भारतीय सेना की वफादारी के सम्बन्ध में यह लेखक कहता है—"मतलब यह कि अपने गांव के अलावा हिन्दुस्तानी नहीं जानते कि देश-प्रेम क्या चीज है? किसी अधिकारी अथवा स्वामी के प्रति उसका प्रेम और वफादारी हो सकती है, परन्तु सारी राज्य-व्यवस्था के बारे में वह बेफिक्र रहता है। जो वेतन देते हैं उनके लिए वह लड़ता है और यदि कहीं उसे ऐसा दिखाई दिया कि जिस सरकार की मैं नौकरी करता हूं वह गिर या टूट रही है तो उसकी नौकरी छोड़कर ज्यादा वेतन अथवा लूट की आशा से शत्रु के यहां भी नौकरी कर लेगा।"[२]

ऐसी संस्कृति में पले सैनिकों को खुश रखने के लिए उन्होंने दो उपाय ईजाद किये थे। एक तो यह कि उन्हें काफी और नियमित समय पर वेतन दे देना और ऐसा कोई काम न करना जिससे उनके जात-पांत या अन्ध-विश्वासों को धक्का लगे। इतनी सावधानी रखने पर उन्हें बहुत-से सैनिक मिल जाते थे और उनको यह अनुभव था कि उन्हें कवायद-परेड सिखाकर नये शस्त्रास्त्र दे दिये जाते हैं तो फिर उनके आगे देशी राजाओं की दाल नहीं गल सकती। परन्तु मनरो, एलफिन्स्टन आदि पहले के उदार समझे जानेवाले अंग्रेज मुत्सद्दियों को इस बात का भी पता था कि भरपूर तनख्वाह और धार्मिक मामलों में दस्तंदाजी न करने की नीति से सिपाहियों को खुश रखने के बाद भी यह सावधानी रखना आवश्यक है कि उनमें राजनैतिक

[१] Notes on Indian Affairs, By F.J. Shore, Vol. II, P.419

[२] Ibid P. 521-2

स्वातन्त्र्य के विचारों का प्रवेश न हो। इसीलिए उनका यह मत था कि हिन्दुस्तानियों को मुद्रण स्वतंत्रता न दी जाय। कम-से-कम उनपर बहुतेरे बन्धन तो जरूर ही लगा दिये जायं। मनरो, एल्फिन्स्टन, माल्कम ये गवर्नर लोग और उनकी नीति को चलानेवाले गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बैंटिक—सबने समय-समय पर ऐसे विचार प्रदर्शित किये हैं कि भारत-वासियों में शिक्षा का प्रचार किया जाय, धीरे-धीरे शासन-कार्य में उनका अधिकाधिक प्रवेश कराया जाय और समय पाकर जब वे स्वतन्त्र होने के योग्य हो जायंगे तब ऐसी सावधानी रखकर उन्हें स्वतंत्र होने देना चाहिए, जिससे हमारा व्यापार और हमारी स्थापित संस्थाएं सुरक्षित रहें। फिर भी वे इस बात पर तो ज़ोर ही दिया करते थे कि उन्हें मुद्रण-स्वातंत्र्य न दिया जाय, क्योंकि उन्हें डर था कि इससे राजनैतिक स्वतन्त्रता के खयाल और भाव लोगों के अन्दर पैदा होंगे और वे हिन्दुस्तानी सेना में तुरन्त फैल जायंगे। मद्रास का गवर्नर सर टॉमस मनरो इस विषय में १८२२ ईस्वी में लिखता है :

"इस देश के लोगों को मुद्रण-स्वातंत्र्य देने के विषय में विचार करते हुए मैं इस बात को नहीं भुला सकता कि इन लोगों को मुद्रण-स्वातन्त्र्य उपयोग करने देने की शर्त पर हम इस देश में नहीं रह सकते। इसीलिए देश में शांति-रक्षा तथा हमारे साम्राज्य की रक्षा दोनों दृष्टियों से वर्तमान तमाम बन्धनों को कायम रखना मुझे जरूरी मालूम होता है। यदि यहां के सभी लोग हमारे देशबंधु होते तो आत्यन्तिक मुद्रण-स्वातन्त्र्य को मैं पसंद कर सकता था; परन्तु जब कि वे ऐसे नहीं हैं, उन्हें मुद्रण स्वातंत्र्य देना सबसे भयंकर बात होगी। इससे उपयोगी ज्ञान का प्रसार होने के बजाय, अथवा शासन-कार्य में सुधार होने के बजाय लोगों में उद्दण्डता, बगावत और अराजकता फैलने की ही सम्भावना है।

"मुद्रण-स्वातन्त्र्य और विदेशी-शासन ये दोनों परस्पर बिल्कुल असंगत बातें हैं और इनका संयोग अधिक दिनों तक नहीं टिक सकता, क्योंकि स्वतंत्र अखबारों का पहला कर्तव्य क्या है ? अपने देश को विदेशियों के जबड़े से छुड़ाना और इस महान ध्येय की सिद्धि के लिए तमाम क्षुद्र विचारों को छोड़ देना। और हमने यदि यूरोपियन तथा हिन्दुस्तानी दोनों को वास्तविक

मुद्रण-स्वातंत्र्य दे दिया तो उसका इसके सिवा दूसरा नतीजा हो ही नहीं सकता।

'मुद्रण-स्वातंत्र्य के समर्थक कहते हैं कि हमारा यह प्रयत्न इसलिए है कि हमारी शासन-व्यवस्था में सुधार हो और यहां के निवासियों की स्थिति तथा मन-बुद्धि पर भी अच्छे संस्कार पड़ें। परन्तु उनका यह इच्छित हेतु उन साधनों के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता, जिनका अवलम्बन वे करना चाहते हैं। इस देश में हमारे शासन-कार्य का विचार करते समय दो मार्के की बातों पर हमेशा ध्यान रखना चाहिए। पहली बात तो यह कि हमारा प्रभुत्व अधिक-से-अधिक समय तक कायम रहे, और दूसरा यह कि जब हमें अपना प्रभुत्व छोड़ना पड़े तब लोगों में स्वातंत्र्य-मण्डित तथा सुनियन्त्रित सरकार स्थापित करने इतनी क्षमता आ जानी चाहिए। यह बात नियन्त्रित मुद्रण-स्वातंत्र्य से ही पूरी पड़ सकती है। छापेखाने की और अखबारों की पूरी स्वतन्त्रता से ये कदापि सिद्ध न होंगे; क्योंकि सुधार में जल्द-बाजी करने से वे सब लाभ नष्ट हो जायंगे, जो छिपे-छिपे तथा सावधानी के साथ करने से हो सकते हैं।

"जो बन्धन सुझाये गए हैं उनसे यहां के लोगों में ज्ञान-प्रसार होने में बाधा नहीं पड़ सकती, उलटे उनसे उसमें स्थायित्व ही आयगा; क्योंकि वह स्वाभाविक रूप में होता रहेगा और सैनिक विद्रोह तथा अराजकता के भावों से वह सुरक्षित रहेगा। ज्ञान-प्रसार का स्वाभाविक मार्ग है जनता में धीरे-धीरे शिक्षण का प्रचार करना तथा सब वर्गों में धार्मिक और नैतिक ज्ञान का प्रचार करना, न कि यूरोपियनों के निकट सम्पर्क में आनेवालों में पत्र-पत्रिकाओं का प्रचार करना। **हम आज़ाद हों और अपना राज-काज खुद चलावें**—यह आकांक्षा फौज में पैदा होने के पहले सामान्य जनता में होनी और फैलनी चाहिए और जो सुधार कई पीढ़ियों में होने चाहिए, यदि हमने जल्दी मचाकर उन्हें थोड़े ही समय में करने के फेर में पड़कर इस कार्य में बाधा न डाली तो इसमें कोई सन्देह नहीं है कि स्वतन्त्रता की यह आकांक्षा हिन्दुस्तान में घर-घर अवश्य फैलेगी। यदि हमने सौम्य और न्याय-युक्त शासन-व्यवस्था रखी, लोगों के धार्मिक भावों पर हमला न करते हुए अच्छी पुस्तकों का उसमें प्रचार किया, उनके द्वारा स्थापित शिक्षण-संस्थाओं को

संरक्षण देकर जहां अच्छी शिक्षा दी जाती हो वहां आर्थिक सहायता दी या उनका सम्मान किया, जिन संस्थाओं को आर्थिक सहायता की जरूरत है उन्हें वह दी, और सबसे अधिक स्थानिक विद्वानों को अधिकार और सम्मान के पद देकर उनके दिलों में यह आकांक्षा पैदा की कि हम शिक्षा और ज्ञान संपादन करें तो हम उन्हें शासन-कार्य में अधिक भाग लेने का मौका देकर धीरे-धीरे उनकी धर्मान्धता दूर कर देंगे और हमारे देश में जिन उदात्त मतों और तत्त्वों का प्रचार हुआ है, उन्हें इन लोगों में भी फैला सकेंगे।"

"परन्तु यदि हमने इसके विरुद्ध मार्ग ग्रहण किया और मुट्ठीभर यूरोपियन पत्रकारों के हित पर दृष्टि रखकर यदि यूरोपियनों के चारित्र्य और सत्ता के प्रति हिन्दुस्तानियों के आदर-भाव में मुद्रण-स्वातन्त्र्य की सुरंग लगा दी तो देशी सेना में हम असन्तोष के बीज बो देंगे और हम बगावत और विद्रोह के संकट से कभी मुक्त न हो सकेंगे, निःशंक न रह सकेंगे। इस संकट के लिए यह जरूरी नहीं है कि आज की अपेक्षा उनकी बुद्धि अधिक तीव्र हो, या उन्हें राष्ट्रीय अथवा मानवी स्वत्वों का अधिक ज्ञान हो। हमारे अधिकारियों और यूरोपियनों के चारित्र्य के प्रति जो आदर आज उनके मन में है वह खत्म हुआ कि बस। जिस दिन ऐसा होगा उसी दिन वे हमारे खिलाफ बगावत का झण्डा खड़ा कर देंगे—मगर इस बगावत की मन्शा यह न होगी कि उन्हें आज़ादी मिले, बल्कि यह होगी कि उनके हाथों में सत्ता आ जाय और वे लूट-पाट कर सकें। हम एक ऐसा प्रयोग कर रहे हैं, जो दुनिया में कहीं नहीं हुआ—वह यह कि जिस राष्ट्र की सेना के सहारे अपना प्रभुत्व कायम रखना और उसी समय मुद्रण-स्वातन्त्र्य प्राप्त करके हमें यहां से निकाल बाहर करने और अपने देश को आज़ाद करने का पाठ उन्हें पढ़ाना। यह अन्देशा सिर्फ हिन्दुस्तानी पत्रकारों के बारे में ही है और इन विचारों की खलबली जब हमारी देशी सेना में मचेगी तभी उसके भयानक परिणाम हमें दिखाई देने लगेंगे। एक ओर जहां बहुतेरे लोग हिन्दू अखबारों के प्रयत्नों की तारीफ करने लगेंगे और ऐसी आशा बांधने लगेंगे कि अब हमारे लोगों में खूब ज्ञान-प्रसार होगा, वहां उसी समय दूसरी ओर इन्हीं अखबारों के प्रचार से जन्मी एक भयंकर क्रान्ति हमारी सत्ता को असमय में उखाड़ फेंकने की तैयारी करने लगेगी और यदि ऐसा हुआ तो हमारी सब

आशाएं चूर-चूर हो जायंगी और हमने हिन्दुस्तान को जिस स्थिति में देखा था, सुधार की दृष्टि से वह उससे भी अधिक निराशामय स्थिति में जा गिरेगा।"[१]

इसी तरह १८२६ ई० में बारकपुर-विद्रोह को मिटाने के बाद एल-फिन्स्टन सर चार्ल्स मेटकाफ को लिखता है—

"मुझे ऐसा लगता था कि हमारा साम्राज्य कांच का ही बना हुआ है। परन्तु पहले और अब जो आघात उसने सफलता के साथ सहन किये हैं, उन्हें देखते हुए ऐसा भासित हो सकता है कि वह फ़ौलाद का है। परन्तु मेरा यह विश्वास है कि वह फौलाद का है तथापि यदि वह गाफिल लोगों के हाथों में जा फंसा तो उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाने की भी संभावना है।"[२]

फिर भी १८३५ में लार्ड विलियम बैंटिंग के चले जाने के बाद १८३६ में जब सर चार्ल्स मेटकाफ गवर्नर-जनरल हुआ तो उसने हिन्दुस्तान को मुद्रण-स्वातन्त्र्य के अधिकार दे दिये। इस 'अपराध' के लिए उसे उसके पद से हटा दिया गया, फिर भी उसने अपना यह मत न बदला कि मुद्रण-स्वातन्त्र्य देने में ही भारतीयों तथा हमारे साम्राज्य का वास्तविक हित है। उसकी दलीलें इस प्रकार हैं—

"यदि यह कहा जाता हो कि ज्ञान-जागृति के फलस्वरूप हमारे भारतीय राज्य का ख़ातमा हो जायगा तो इसपर मेरा जवाब यह है कि नतीजा जो कुछ भी हो, उन्हें ज्ञान-लाभ कराना हमारा कर्तव्य ही है। यदि हिन्दुस्तानियों को अज्ञान में रखने से ही यह देश हमारे साम्राज्य में रह सकता हो तो हमारा प्रभुत्व इस देश के लिए शाप-रूप ही सिद्ध होगा और उसका अन्त हो जाना ही आवश्यक होगा।

"परन्तु मुझे तो ऐसा मालूम पड़ता है कि यह मानना ही अधिक युक्तियुक्त और साधार है कि लोगों को अज्ञान बनाये रखने में ही अधिक डर है। मैं तो यह सोचता हूं कि ज्ञान-जागृति से हमारा साम्राज्य अधिक बलिष्ठ ही होगा। इससे शासक और प्रजाजन दोनों में सहानुभूति पैदा होगी और परस्पर एकता का भाव बढ़ेगा और आज जो खाई उनमें है वह धीरे-धीरे

---

[१] Memoir of Sir Thomas Munro, Dated 12th April, 1822
[२] Mount Stuart Elphinston by J.S. Colton, P. 186

बिल्कुल पट जायगी।"[१]

ज्ञान-जागृति से ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ अधिक मजबूत होगी या ढीली, इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर अवलम्बित है कि वह ज्ञान किस प्रकार का होगा। अंग्रेजों के प्रथम शासन-काल में यहां के शिक्षित लोगों में जिस ज्ञान का प्रचार हुआ उससे ब्रिटिश साम्राज्य को कुछ समय तक तो निस्संदेह बल ही मिला। इस प्रकरण के आरम्भ में 'लोक-हितवादी' का जो उद्धरण दिया गया है उसमें यह परिणाम साफ तौर पर दिखाई देता है। उसमें वे स्पष्ट ही कहते हैं—"सुज्ञ लोगों को चाहिए कि वे अंग्रेजों के जाने की इच्छा कदापि न करें।" क्योंकि वे समझते थे कि इससे फिर अराजकता फैलेगी।

'लोकहितवादी' का यह लेख १८५० का अर्थात् मेटकाफ द्वारा मुद्रण-स्वातन्त्र्य मिलने के पन्द्रह साल बाद का है। उससे १८२२ में सर टामस-मनरो को मुद्रण-स्वातन्त्र्य देने से जिन भयंकर परिणामों का डर लगता था वह सच नहीं मालूम होता। बल्कि अंग्रेजी शिक्षा से जिनकी आंखें खुल गई थीं, उन्हें ऐसा नहीं मालूम हुआ, और उलटा वे ऐसा प्रचार करने लगे कि जबतक हमारे देश का भीतरी और बाहरी सारा रंग नहीं बदल जाता, तब-तक अंग्रेजी राज्य रहना चाहिए और किसी भी बुद्धिमान् मनुष्य को यह इच्छा न करनी चाहिए कि अंग्रेजों का राज्य यहां से चला जाय। उन्होंने अपने देश के सर्वांगीण सुधार का बीड़ा उठाया और राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य का विचार कुछ समय के लिए दूर रख दिया। इससे मेटकाफ का ही यह विचार सच साबित हुआ कि मुद्रण-स्वातन्त्र्य से तो हमारे साम्राज्य की जड़ और मजबूत ही होगी।

१८२३ ई० में बंगाल के राजा राममोहन राय आदि सुशिक्षित भारतीय नेताओं ने मुद्रण-स्वातन्त्र्य के विषय में एक निवेदन-पत्र ब्रिटिश राजा को भेजा था। इसमें वे लिखते हैं—"महाराज इस बात को जानते हैं कि मुद्रण-स्वातन्त्र्य की बदौलत किसी देश में आजतक राज्य-क्रान्ति नहीं हुई, क्योंकि जहां स्थानिक अधिकारियों की शिकायतें बड़े अधिकारियों तक

---

[१] The development of an Indian Policy by Anderson and Subedar, P. 143

पहुंचने का मार्ग सुलभ हो और वे दूर कर दी जाती हों, वहां असन्तोष-जनित क्रान्ति का कारण ही नष्ट हो जाता है। इसके खिलाफ जहां मुद्रण-स्वातन्त्र्य बिल्कुल नहीं है और इसलिए न तो शिकायतें प्रकट ही की जा सकती हैं, न दूर ही होती हैं, वहां दुनिया के सब हिस्सों में असंख्य राज्यक्रान्तियां हो चुकी हैं और सरकार ने शस्त्र-बल का आश्रय लेकर जहां-जहां उन्हें रोक दिया है, वहां-वहां लोग बगावत करने के लिए सर्वदा तैयार रहे हैं।"[1]

आधुनिक प्रजातन्त्र-शास्त्र का यह तात्विक सिद्धान्त मनरो आदि को मालूम न था, सो बात नहीं। परन्तु उन्हें डर यह था मुद्रण-स्वातन्त्र्य मिलने से हमारा साम्राज्य विदेशी होने के कारण, पहले ये लोग इस राज्य का ही नाश करने में जुट पड़ेंगे और बाद को अन्तर्गत सुधारों की तरफ ध्यान देंगे। परन्तु अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार से जब यहां के पढ़े-लिखे लोगों को यह ज्ञान हुआ कि हम तो अपने देश की शासन-व्यवस्था करने के बिल्कुल अयोग्य हैं, तब तो मेटकाफ का मत ही अधिक ठीक साबित हो गया। अंग्रेजी ज्ञान और विद्या के प्रचार ने जो पहला काम किया उसका विचार यदि केवल राष्ट्रीयता की दृष्टि से किया जाय तो सब लोगों को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वह कुछ समय के लिए तो राष्ट्रीयता का मारक ही सिद्ध हो गया था। महाराष्ट्र के इतिहासाचार्य श्री० राजवाड़े ने राष्ट्रीयता की एक बढ़िया व्याख्या की है—

"जिस समाज के बहुतम व्यक्तियों में यह भावना पैदा हो गई कि अपने देश की सारी व्यवस्था, खास करके शासन-व्यवस्था, हम खुद करेंगे और उसके लिए जिस समाज के लोग प्राण अर्पण करने को तैयार हो गये हों, उस समाज को राष्ट्र कहना चाहिए। जबतक यह भावना समाज में पैदा न हुई हो तबतक उसे 'लोक' कहना होगा। उस 'लोक' में भले ही एक देश, एक भाषा, एक आचार-विचार, एक वंश, एक धर्म और एक कानून हो— इतने सब समान बन्धन विद्यमान हों तो भी यदि उनमें अपना शासन-भार खुद उठाने की अर्थात् स्वराज्य-संचालन करने की उत्कट इच्छा नहीं है तो उस 'लोक' को 'राष्ट्र' नहीं कह सकते।"

[1] Indian Speeches and Documents in British Rule, P. 21 by J. K. Majumdar.

अंग्रेजी शिक्षा के संस्कारों से और अंग्रेजी शासकों के प्रोत्साहन से जो सर्वांगीण सुधारक वर्ग उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में यहां पैदा हुआ, उसने चाहे धार्मिक और सामाजिक विषयों में अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये हों परन्तु यह भावना कि हम अपने देश का शासन करने के अयोग्य हैं, दूर न करके उल्टे अधिक ही फैलाई। इससे मनरो का यह सिद्धान्त कि स्वतन्त्र पत्रकार का पहला कर्तव्य है अपनी मातृ-भूमि को राजनैतिक दासता से मुक्त करना, निर्मूल सिद्ध हुआ और इसीलिए इस पाठ और उपदेश से ऊब-कर १८वीं सदी के चौथे चरण में विष्णु शास्त्री चिपलूणकर ने ज़ोर की आवाज उठाई—"हमारे देश की प्रकृति में अभी कोई कहने लायक खराबी नहीं हुई है, उसकी नाड़ी साफ चल रही है।" ऐसा कहकर उन्होंने लोगों के राष्ट्रीय स्वाभिमान को जाग्रत करना शुरू किया। इसीपर से यह चर्चा हुई कि पहले राजनैतिक सुधार हो, या सामाजिक सुधार और यह कहा जाने लगा कि राष्ट्रीय दलवालों को सामाजिक सुधार प्रिय नहीं हैं। इसके लिए उचित कारण भी थे।

फिर भी निष्पक्ष दृष्टि से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि महाराष्ट्र के राष्ट्रीय पक्ष ने सामाजिक सुधारों का विरोध करने में अतिरेक से काम लिया तथापि लोकमान्य तिलक ने अपने जीवन के अन्तिम समय में राष्ट्रीय पक्ष की जो सामाजिक नीति निश्चित की थी वह अब भी माननीय ही मालूम होती है। एक जगह उन्होंने कहा है—"स्वाभिमान, उत्साह, स्वराज्य-निष्ठा—यही राष्ट्र के सच्चे प्राण हैं। और यह सजीवता जहां होगी वहां सुई के पीछे धागे की तरह, सामाजिक सुधार भी अपने-आप आते चले जायंगे। इतिहास इसका साक्षी है। इसीलिए राष्ट्रीय पक्ष राज-नैतिक आन्दोलन को जितना महत्व देता है उतना सामाजिक आन्दोलन को नहीं। उसका यह कहना नहीं है कि राष्ट्र की सामाजिक प्रगति न होनी चाहिए बल्कि यह कि वह राजनैतिक प्रगति और स्वाभिमान के साथ-साथ होनी चाहिए। राष्ट्रीय पक्ष का सिद्धान्त यह है कि यदि हम ढीला-ढाला विरोध करते हुए राजनैतिक परतन्त्रता को मंजूर करते रहेंगे तो सजीव सुधार हरगिज न हो सकेंगे।"[1]

[1] लो० तिलकांचे केशर तील लेख, भाग ३, पृष्ठ ४३६

खैर; किसने क्या किया होता तो क्या हुआ होता—इस बात को छोड़ दें तो अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग १८वीं सदी के पूर्वार्द्ध में ब्रिटिश साम्राज्य के प्रामाणिक प्रचारक बन गये और राजनैतिक स्वातन्त्र्य का प्रश्न अति भविष्य काल पर छोड़ सामाजिक और धार्मिक सुधार का बीड़ा उठाकर राष्ट्रनिर्माण के कामों में प्रवृत्त हुए; परन्तु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। भारतीय राष्ट्र-संस्कृति विश्व-संस्कृति के मुकाबले में दो-तीन सदी पिछड़ गई थी और उस समय के शिक्षित मध्यवर्ग को यह खयाल हुआ कि हमें इस अन्तर को मिटा देने का यह अच्छा अवसर मिल गया है। १६वीं सदी से यूरोप में जो-जो नवीन राजनैतिक, सामाजिक व धार्मिक विचार पैदा हुए वे सब अंग्रेजों के राज्य के साथ ही यहां आये। इन सुशिक्षित लोगों ने ईमानदारी से यह महसूस किया कि इन्हें आत्मसात् किये बगैर संसार में हम एक स्वतन्त्र राष्ट्र की हैसियत से खड़े नहीं रह सकते और इसीलिए वे इनमें जुट पड़े। उस समय उन्हें यह ठीक-ठीक खयाल न हुआ कि अंग्रेज लोग विदेशी हैं और उनके राज्य से हमें कितनी आर्थिक हानि होगी। उन्हें यह तो स्पष्ट दिखाई देता था कि हमारे देश के सरदार, जागीरदार और विद्वानों में खपनेवाले शास्त्री-पण्डित राष्ट्र का नेतृत्व करने के योग्य नहीं हैं। परन्तु ऐसा आत्म-विश्वास उनमें नहीं था, जिससे वे खुद राजनैतिक मैदान में कूद पड़ते और जनता को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का मार्ग दिखा देते, और इसके अभाव में राजनैतिक क्षेत्र के लिए आवश्यक त्याग भी उनसे नहीं हो सकता था। उसी प्रकार यह अनुभव भी इन लोगों को हो रहा था कि अंग्रेजी लिख-पढ़ गये, या थोड़ा-बहुत व्यापार करने लगे तो अंग्रेजी सरकार में नौकरी और अंग्रेज व्यापारियों की दलाली मिल जाती है, जिससे धन भी कमा सकते हैं। इन लोगों के मन में यह आशा उत्पन्न हो गई थी कि अब हमारे देश में सामन्तशाही-युग समाप्त होकर जो व्यापारी-मध्यम-वर्ग का युग शुरू हुआ है उससे हमारे देश में ज्ञान और धन दोनों की वृद्धि होगी और इंग्लैण्ड की तरह यहां भी सब तरह के सुधार हो जायंगे एवं इसीके बल पर अंग्रेज राजनीतिज्ञों को अपने साम्राज्य को बल मिलने की आशा हो रही थी। पेशवाई के डूबने के बाद बंगाल में ऐसा वर्ग तैयार हो रहा था। मनरो-एलफिन्स्टन ने इस वर्ग को धीरे-धीरे शासन-कार्य में जोतने

की नीति स्वीकार की थी और आंख खोलकर की थी। वे यह अच्छी तरह जानते थे कि यदि आज हमने इन्हें छोटे अधिकार के पद दिये तो कल ये सारे शासनाधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे; परन्तु वे यह भी जानते थे कि हमारे साम्राज्य को स्थिर करने का दूसरा कोई कारगर उपाय नहीं, और इसलिए वे इस नीति का विरोध करनेवाले अपने देश-बन्धुओं के आक्षेपों को बहुत महत्व नहीं देते थे। १८२४ में एल्फिन्स्टन ने कोर्ट ऑव डाइरेक्टर को एक शिक्षण-विषयक वक्तव्य भेजा था। उसमें वह कहता है—

"यह आपत्ति उठाई जायगी कि यदि हमने यहां के लोगों को शिक्षा देकर अपने बराबर का दर्जा दे दिया और शासन-कार्य में भी उन्हें हिस्सा देते चले गये तो वे उन पदों पर ही सन्तुष्ट नहीं रह सकेंगे जो हम उन्हें देंगे; बल्कि वे सारे शासन पर अपना अधिकार साबित किये बिना खामोश न बैठे रहेंगे। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसा डर रखने के कई कारण हैं। परन्तु दूसरी किसी नीति द्वारा हम अधिक स्थायी बन सकेंगे—ऐसा मुझे विश्वास नहीं होता। यदि हमने देशी लोगों को नीचे ही दबा रक्खा तो उनके प्रतिकार से ही हमारा राज्य उथल-पुथल हो जायगा और यह संकट पूर्वोक्त संकट की अपेक्षा अधिक भयंकर और अधिक अकीर्तिकर होगा। इस खींचा-तानी में हमें सफलता मिल भी गई तो हमारे साम्राज्य के लोगों से एकरस न होने के कारण विदेशी आक्रमण से अथवा हमारे ही वंशजों की बगावत से उसके उखड़ पड़ने की सम्भावना है। हमारी कीर्ति और हित दोनों दृष्टियों से एवं मानव-जाति के कल्याण की दृष्टि से भी विचार किया जाय तो जिन लोगों के हित के लिए इस सत्ता की धरोहर ईश्वर ने हमें दी है उन्हींके हाथों में उसे वापस सौंप दें, यही बेहतर है बनिस्बत इसके कि उसे विदेशी हमसे छीन लें या हमारे ही कुछ मुट्ठी भर उपनिवेशवासी जन्म-सिद्ध अधिकार कहकर अपने हाथ में ले लें।"[१]

मुद्रण-स्वातन्त्र्य और अधिकार के पद की तरह पश्चिमी शिक्षा का प्रवेश करते समय भी इस प्रकार की चर्चा ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने की है। अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार करने से आगे जाकर हमारा राज्य नष्ट हो गया

१ Monnt Stuart Elphinston by J. S. Colton P. 189

तो भी आज तो उसीके द्वारा हमारे साम्राज्य को बल मिलनेवाला है और आगे जब कभी हमारा साम्राज्य नष्ट होगा तब कम-से-कम हमारा व्यापार तो कायम रहेगा और इस देश में बसनेवाले हमारे देशबन्धु तो सुरक्षित रहेंगे—इस बात को सोच-समझकर और सारे प्राणियों का खयाल करके ही उन्होंने पूर्वोक्त नीति निश्चित की थी। उस समय अंग्रेज राजनीतिज्ञों का यह अनुमान था कि सामन्तशाही-युग से निकलकर हाल में ही भारतीय राष्ट्र के लोक-सत्तात्मक राष्ट्र बनने में और हमारे उपदेश से निर्मित सर्वांगीण सुधार-वर्ग के राजनैनिक आन्दोलन में पड़ने में सौ-डेढ़सौ साल लग जायंगे। इतना समय बीतने पर यदि हमारी इस नीति के फलस्वरूप साम्राज्य पर आन्तरिक संकट आया भी तो उस समय उन्हें व्यवहार्य राजनीति की दृष्टि से उसका विचार करने की जरूरत नहीं थी। तत्कालीन परिणाम की दृष्टि से देशी लोगों को सुशिक्षित बनाना, उन्हें अधिकार के पद देकर शासन-कार्य में अधिकाधिक सहायता उनसे लेते जाना और मुद्रण-स्वातन्त्र्य देकर उनका उपयोग सामाजिक और धार्मिक सुधारों में करने का प्रोत्साहन देना, यही नीति सबसे अधिक हितकर है। ऐसा एलफिन्स्टन, मनरो, माल्कम के काल में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का मत था और बैंटिंक तथा मेटकाफ आदि गवर्नर-जनरलों के शासन-काल में इसका खुलकर श्रीगणेश किया गया। तत्कालीन शिक्षित भारतवासियों को यह नीति आकर्षक मालूम हुई और इस कारण वे ब्रिटिश साम्राज्य के चाहक और पृष्ठ-पोषक बन गये। जो-जो राजा-नवाब, सरदार और जागीरदार अंग्रेजों का प्रभुत्व स्वीकार करके पारतन्त्र्य में सुख अनुभव करते थे उनके साथ भी प्रेम और आदर का व्यवहार रखना यह एलफिन्स्टन व माल्कम की नीति थी। इस कारण अपने स्वतन्त्रता-हरण से असन्तुष्ट होते हुए भी इन लोगों की स्वतन्त्रता के लिए बगावत कर बैठने की आशंका न थी। मतलब यह कि उनके प्रति व्यवहार की ऐसी नीति अंग्रेजों ने अख्तियार की थी, जिससे हिन्दुस्तानी फौज यदि बगावत कर भी बैठे तो सामान्य जनता अथवा राजा-सरदार उसका नेतृत्व न करें बल्कि उलटा उसे दबाने में उनकी सहायता करें। इसमें उन्होंने तत्कालीन लोगों की धर्म-भावनाओं का भी खूब विचार कर लिया था और इस बात का पूरा ध्यान रक्खा था कि लोगों के धार्मिक

भावों को आघात न पहुंचाया जाय। इस सारी नीति का लाभ उन्हें १८५७ के सैनिक-विद्रोह के समय मिला।

१८५७ के गदर के बाद ब्रिटिश राजनीतिज्ञ यह विचार कर रहे थे कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से राज-सत्ता ले ली जाय। तब कम्पनी ने ऐसा न करने के लिए एक आवेदन-पत्र ब्रिटिश राज्य की सेवा में भेजा था। उसमें कम्पनी की तरफ से कहा गया है—

" 'हमारा धर्म खतरे में है' ऐसे निराधार भय से जो गदर हुआ, ऐसा कहते हैं, उसमें राजा-सरदारों ने हमारी सहायता करने के बजाय यदि उनका नेतृत्व किया होता या सामान्य जनता उसमें शरीक हुई होती तो उसका दूसरा ही परिणाम निकला होता। उसी प्रकार यदि इस सन्देह के लिए भी कि धर्म-परिवर्तन के आबोताब में ब्रिटिश सरकार का हाथ है, कुछ गुंजाइश होती तो ये दोनों बातें कितनी सम्भवनीय होतीं, यह बताने की जरूरत नहीं है।"[१]

इस गदर के समय कलकत्ते में एक 'संवाद भास्कर' नामक प्रसिद्ध अखबार निकलता था। उसने गदर के समय में लोगों से सरकार की सहायता करने की जोरदार अपील की थी—

"जो सैनिक राज्य की रक्षा करते थे, उन्होंने उसके खिलाफ हथियार उठाये हैं, इसलिए सरकार अपने मित्रों से धन-जन की सहायता चाहती है। सारे राज-भक्त प्रजाजन को इसका अच्छा उत्तर देना चाहिए। यदि बाहर के धनी-मानी लोगों ने राजधानी की रक्षा की जिम्मेदारी अपने पर ले ली तो गवर्नर-जनरल की चिन्ता कम होगी। यदि वह आपत्ति इतनी गम्भीर न होती तो सिन्धिया और पटियाला नरेश ने अपनी सेना सरकार की सहायता के लिए न भेजी होती। ब्रिटिश सरकार के शासन में हमें प्राय: पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त है। मुसलमानों के शासन-काल में इतनी सुशिक्षितता थी क्या ? अंग्रेजों ने हमें ज्ञान-दान दिया है और हमारे लिए सुख-सुरक्षितता से जीवित रहना सम्भव बनाया है। यह रामराज्य से कम नहीं है। इसलिए लोगों को इस समय सरकार की हर तरह सहायता करनी चाहिए।"

पेशवाई के अन्त से १८५७ के गदर तक चालीस साल में हिन्दुस्ता-

---

[१] Petition of the East India Company, 1857

नियों की कैसी स्थिति थी, इसका वर्णन स्व० राजवाड़े इस प्रकार करते हैं—

"इस अवधि में तंजोर, सतारा, इन्दौर, धार, ग्वालियर, बड़ौदा, पूना, कोल्हापुर, नागपुर, बुन्देलखण्ड आदि रियासतों में बड़ी-बड़ी क्रान्तियां हो गईं, कितनी रियासतें बिल्कुल तहस-नहस हो गईं, कितनों की आजादी कम हो गई और कितनी ही केवल जमींदारी की हालत को पहुंच गईं। लड़वैये घर बैठ गये, जनता निःशस्त्र हो गई, कारकुनों और मुन्शियों का पेशा डूब गया, व्यापारियों का व्यापार चौपट होने लगा, कारीगरों का रोजगार बैठने लगा, सोना पश्चिम की तरफ बहने लगा, खेती पर लोगों की गुजर-बसर का कठिन अवसर आया, पंडे-पुजारियों की वृत्तियां बन्द हुईं, शास्त्री-पण्डित निराश्रय हो गये, मतलब कि अब लोगों में गोलमाल हो गया। परन्तु इस अमर्याद क्रान्ति का परीक्षण करके इसे रोकने की तरफ किसीका ध्यान नहीं गया। तत्कालीन समाज का चरित्र, समाज के घटना-चक्र का कार्य-कारण-सम्बन्ध, अथवा समाज का शास्त्र, और समाज का तत्त्वज्ञान—इनमें से किसीका भी पता इन चालीस सालों में न था। जो विचारशील और तत्व-जिज्ञासु थे, वे एकदेशीय साधु-सन्त और विरक्त थे। वे संन्यास और योग-साधना में गर्क थे और जो दुनियादार अथवा संसार-व्यवहारी राजा-नवाब, सरदार-जागीरदार, व्यापारी, कारीगर, मुत्सदी, कारकुन थे, वे इन घटना-चक्रों का अर्थ ही न समझ पाये और मोहान्ध होकर किसी तरह संसार और समाज की गाड़ी खींच रहे थे। 'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः'। हम कर क्या रहे हैं और जा कहां रहे हैं—इसे समझने की जरूरत जिन्हें नहीं मालूम हुई, उन मोहान्ध लोगों को क्या तो राष्ट्र की और क्या लोक-व्यवहार और इतिहास की परवाह।"[१]

इस स्थिति का अन्त १८५७ के ज्वालामुखी सदृश विस्फोट से हुआ। यह विस्फोट संन्यासी, तत्वज्ञानी और अविचारी हिन्दू-मुसलमान नेताओं ने बंगाल के सैनिकों की सहायता से किया। काल्पनिक तत्वज्ञान का और सुयंत्रित शासन का यह झगड़ा था। पहले के पृष्ठपोषक हिन्दू-मुसलमान नेता थे और दूसरे के पाश्चात्य थे। इसमें सुयंत्रित शासन की विजय हुई।

[१] ऐतिहासिक प्रस्तावना, खण्ड ६, पृ० ३५३-५४

इधर यह तूफान उठ खड़ा हुआ, उधर उत्तर हिन्दुस्तान, पंजाब और कर्नाटक के राजे-रजवाड़े, महाजन और साधारण जनता कुछ समय तक तो शंकित रहकर तटस्थ रहे, पर अन्त को विजेता पक्ष में शामिल हो गये। हलके दर्जे के, कुलहीन और ऐरे-गैरे छोटे-बड़े शिक्षित और अल्प-शिक्षित परराज्य-सेवकों का जो नवीन वर्ग बना था, अथवा सच पूछो तो बनाया गया था, वह विजयी होनेवाले और विजयी हुए सुयन्त्रित पक्ष की ओर पहले से ही था। उसकी शिक्षा में स्वराष्ट्र, समाज जैसे शब्द ही नहीं थे। बंगाल, राजपूताना और महाराष्ट्र प्रान्तों के कितने ही बड़े नौकर लोग कहते हैं कि १८५७ के इस तूफान का मर्म समझने की क्षमता ही हममें नहीं थी, फिर स्वपक्ष और पर-पक्ष में आने-जाने की तो बात ही दूर रही ! प्राचीनता के अभिमान और स्मरण से पैदा होनेवाला सहज जोश भी इन कुलहीन, राष्ट्रहीन व समाजहीन लोगों में नहीं था।

१८५७ के गदर में ब्रिटिश-सत्ता पर ऐसा मर्माघात होते हुए भी उसका लाभ उठाकर स्वतन्त्र राष्ट्र-निर्माण करने का सामर्थ्य और ज्ञान हिन्दुस्तान में किसीके पास नहीं था—यह साबित हो जाने पर भारतीयों में राष्ट्रीयत्व के अभाव का दूसरा प्रमाण और ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की नीति की सफलता की दूसरी गवाही देने की आवश्यकता नहीं है। इस आपत्ति से ब्रिटिश राज्य कैसे बच गया इसकी मीमांसा सर जॉन सीली ने इस प्रकार की है—

"एक जाति के खिलाफ दूसरी जाति को लड़ाकर ही बहुतांश में यह गदर मिटाया गया है, जबतक ऐसा किया जा सकता है और जबतक यहां के लोग सरकार की आलोचना करने और उसके खिलाफ बगावत करने के आदी नहीं हो जाते तबतक इंग्लैण्ड में बैठकर हिन्दुस्तान में हुकूमत की जाती है और यह कोई बड़ी बात भी नहीं है। परन्तु यदि यह हालत बदल गई और किसी भी तरह लोगों में समरसता पैदा होकर एक राष्ट्र बन गया और यदि हिन्दुस्तान और हमारा सम्बन्ध थोड़ा भी आस्ट्रिया या इटली की तरह बन गया तो मैं इतना ही नहीं कहता कि हमारा प्रभुत्व खतरे में है, बल्कि उसके आगे हमें अपने प्रभुत्व के क़ायम रहने की आशा भी बिल्कुल छोड़ देनी चाहिए।"[1]

[1] The Expansion of England by Seely, Page. 239.

अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने १८५७-५८ में यह साबित ही कर दिया कि जबतक हिन्दुस्तान में एकता कायम नहीं होती तबतक महज गदर से हमारा साम्राज्य नष्ट नहीं हो सकता। अब इस बात का विचार करना चाहिए कि भारतीय नेताओं ने एक राष्ट्रीयता निर्माण करने के क्या-क्या प्रयत्न किये। ऐसे पहले प्रयत्न का जन्म राजा राममोहन राय की सर्वांगीण सुधारवाद प्रणाली से हुआ और उसीको स्व० रानडे ने नरम प्रागतिक राजनीति का रूप १९वीं सदी में दिया।

: ३ :

सर्वांगीण सुधार की आधुनिक ज्ञान-ज्योति

"जो बात व्यक्ति की, वही देश की। वास्तविक उन्नति के लिए पहले उन्नत धर्म का प्रचार होना चाहिए। राजनैतिक अधिकार प्राप्त करने के लिए चाहे राष्ट्रीय सभा (कांग्रेस) कीजिये, चाहे प्रान्तिक सभा; अथवा सामाजिक सुधार करने के लिए सामाजिक परिषद् कीजिये; परन्तु जबतक धर्म-जागृति नहीं हुई, तबतक देश को इसमें वास्तविक सफलता नहीं मिल सकती। सबसे पहले आत्मा की उन्नति होनी चाहिए।"[1]

"इस युग के प्रारम्भ में पश्चिमी शिक्षण से नास्तिकता और पाखंडवाद की ऐसी जबरदस्त लहर उठी थी कि उसने, जैसा कि कितने ही लोग कहते हैं, शीघ्र ही सारे देश में फैलकर हिन्दू-धर्म को जड़ से उखाड़ फेंक दिया होता। परन्तु ईश्वर की अभिनय नियति के कारण उस समय राजा राममोहन राय के रूप में एक अलौकिक पुरुष हुआ और उसने 'एकेश्वरी पन्थ' की एक नवीन लहर पैदा की, जिससे यह भावी आपत्ति टल गई।"[2]

इधर महाराष्ट्र में मराठी साम्राज्य के रसातल में पहुंचने और अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना के रूप में राज्य-क्रान्ति हो रही थी, उधर उन्हीं दिनों बंगाल में राजा राममोहन राय के नेतृत्व में पश्चिमी ज्ञान से नवीन दृष्टि-

[1] स्व० डा० भण्डारकर—'यांचे धर्म पर लेख व व्याख्यानें, पृ० ३४२-४३

[2] श्री सदाशिव कृष्ण फडके, नवयुग धर्म, पृ० ३०

प्राप्त बंगाली हिन्दू अपने धार्मिक आचार-विचार में क्रान्ति करके आधुनिक भारत के निर्माण का यत्न कर रहे थे। वे भारतीय समाज में एक सर्वांगीण क्रान्ति करना चाहते थे और उसके लिए हमारे धार्मिक आचार-विचार में पहले क्रान्ति होनी चाहिए, यह उनका दृढ़ विश्वास था। पहला धार्मिक सुधार, दूसरा सामाजिक सुधार और तीसरा राजनैतिक सुधार—यह क्रम उन्होंने अपने मन में निश्चित कर रक्खा था। इसका अर्थ यह न लगाना चाहिए कि धर्म-सुधार के अन्तिम शिखर तक पहुंचने के बाद समाज-सुधार का श्रीगणेश किया जाय और उसके शिखर तक पहुंचकर राजनैतिक सुधार की पहली सीढ़ी पर कदम रक्खा जाय। सर्वांगीण सुधार के विरोधी आलोचक उनके भाषणों और कृतियों का ऐसा अर्थ करते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं हैं। धर्म समाज का हृदय है और यदि समाज के सब व्यवहारों में सुधार, परिवर्तन अथवा क्रान्ति करनी है तो पहले उसके हृदय में परिवर्तन होना चाहिए—अथवा डाक्टर भण्डारकर के शब्दों में "पहले आत्मा की ही उन्नति होनी चाहिए।" ऐसा राजा राममोहनराय प्रभृति सर्वांगीण सुधारकों का मत था। उनकी राजकीय नीति के संबंध में किसीका कितना ही मतभेद हो, अथवा उनके प्रतिपादित धार्मिक या सामाजिक सुधार-विशेष का कोई कितना ही तीव्र विरोध करता हो तो भी इस विवाद में अधिक मतभेद नहीं हो सकता कि यदि किसी समाज में सर्वांगीण सुधार, परिवर्तन अथवा क्रान्ति करनी हो तो सबसे पहले उसकी आत्मा की उन्नति होनी चाहिए, उसका हृदय-परिवर्तन होना चाहिए, अथवा उसके धार्मिक विचार, भावना और आचार-व्यवहार में परिवर्तन होना चाहिए, खासकर उस समाज के सर्वांगीण सुधार पर तो यह न्याय और भी अधिक लागू पड़ता है, जिसके सब व्यवहारों पर धर्म का नियन्त्रण रहता है। प्राचीन समय में और मध्ययुग में यूरोपीय और भारतीय दोनों समाजों के सब व्यवहारों पर धर्म की सत्ता चलती थी। धर्म की इस सर्वव्यापिनी सत्ता को नष्ट करके राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवहार के स्वतन्त्र शास्त्र-निर्माण करना और धर्म के पास सिर्फ अन्तरंग सुधार का अथवा आत्मिक उन्नति का काम रखना आधुनिक यूरोपीय संस्कृति का एक लक्षण है। आधुनिक यूरोपीय सुधार में सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक व्यवहारों से धर्म का कुछ वास्ता नहीं रहा है; यही नहीं, बल्कि

यह भी प्रतिपादन किया जाता है कि नीतिशास्त्र का भी धर्म या आत्मा से कुछ सम्बन्ध नहीं है। यही विचारसरणि आज हमारे देश में प्रचलित होना चाहती है। परन्तु राजा राममोहन राय के समय हिन्दू-समाज की ऐसी स्थिति नहीं थी। उस समय का हिन्दू-समाज मध्ययुगीन यूरोपीय समाज के जैसा था। उसके मन में ये स्पष्ट कल्पनाएं नहीं थीं कि राज्य-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र, आदि शास्त्र, धर्म-शास्त्र से पृथक् हो सकते हैं। उसके सब व्यवहारों पर धर्म की सत्ता पूरी-पूरी नहीं तो भी तत्त्वत: जरूर चल रही थी। निदान भारतीय समाज की यह मान्यता और श्रद्धा थी कि ऐसा होना ही साहजिक व इष्ट है। इस अवस्था में जो समाज हो उसके सर्वांगीण सुधार में लगनेवाले का पहले धार्मिक सुधार में प्रवृत्त होना बिल्कुल स्वाभाविक है। राजनैतिक परतन्त्रता के जबड़े में फंसे राष्ट्र के लिए पहले सर्वांगीण सुधार में लगनेवाले का सुधार करना ठीक है या राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की स्थापना करके फिर इस महत्कार्य में पड़ना उचित है, इसमें मतभेद हो सकता है। परन्तु यदि हम इस बात को मानकर ही चलें कि सर्वांगीण सुधार हुए बगैर हम अथवा हमारा राष्ट्र स्वतन्त्रतापूर्वक रह ही नहीं सकता तब मध्ययुगीन अवस्था के धर्माधिष्ठित समाज का सर्वांगीण सुधार चाहनेवालों के लिए उसके धार्मिक आचार-विचार-भावनाओं के सुधार को प्रथम स्थान देना बिल्कुल स्वाभाविक है। राजा राममोहन राय द्वारा बंगाल में स्थापित ब्रह्म-समाज की महाराष्ट्रीय शाखा 'प्रार्थना-समाज' के एक अध्वर्यु स्वर्गीय डा० भंडारकर का जो अवतरण इस प्रकरण के शुरू में दिया गया है, उसमें यही दृष्टिकोण है।

इसीके नीचे एक और उद्धरण 'नवयुग-धर्म' के लेखक श्री फडके का दिया गया है। श्री फडके उन लोगों में से हैं, जिन्हें ब्रह्म-समाज का धार्मिक और सामाजिक सुधार अधिकांश में मान्य नहीं है और न राजा राममोहन राय की विभूतिमत्ता के प्रति ही जिन्हें अकारण आदर हो सकता है। उनके जैसे लाग राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित एकेश्वरी ब्रह्म-समाज को किस दृष्टि से देखते हैं और उनके कार्य को कितना महत्व देते हैं, यह दिख-लाने के लिए ही उनके वचन उद्धृत किये गए हैं। राजा राममोहन राय

के कुछ धार्मिक विचार मान्य न हों तो भी उन्होंने धार्मिक सुधार की जो एक जबरदस्त लहर १९वीं सदी के प्रारम्भ में पैदा की उसके कारण पश्चिमी शिक्षा और ज्ञान के संस्कारों से ईसाई-धर्मी शासकों के प्रति होनेवाले कुतूहल और आदर के कारण ईसाई-धर्म की दीक्षा लेने से मिलनेवाले मौलिक लाभों के लोभ से, जबरदस्तों के सामने सिर झुकाने की हीन मनोवृत्ति के कारण, (ईसाई-धर्म-प्रचारकों के दिखाये हमारे धर्म के मिथ्या-दोषों के कारण,) और आधुनिकता का प्रकाश बहुत वर्षों से न मिलने के कारण हिन्दू-धर्म को जो हीन व अवनत स्वरूप प्राप्त हुआ, उससे हिन्दू-शिक्षित लोगों का जो झुकाव ईसाई-धर्म ग्रहण करने की ओर हो रहा था, वह रुक गया और उन्हें यह निश्चय हो गया कि भारतीय राष्ट्र के सर्वांगीण सुधार के लिए उसे ईसाई-धर्म की दीक्षा देने की आवश्यकता नहीं, बल्कि ऐसा करना सुधार का वास्तविक उपाय नहीं है।

अंग्रेजों ने जब हिन्दुस्तान में राज्य-स्थापना की, तब उन्होंने अपनी यह शासन-नीति रक्खी थी कि हिन्दुओं के धर्म में हस्तक्षेप न किया जाय तथापि उनका उस समय यह दृढ़ विश्वास था कि जबतक कोई राष्ट्र या समाज ईसाई-धर्म का अनुयायी नहीं हो जाता तबतक उसे ऐहिक अभ्युदय और पारमार्थिक सद्गति नहीं मिल सकती। यह मत ईसाई-पादरियों का ही नहीं, यहां आनेवाले अंग्रेज अधिकारी और व्यापारियों का भी था। फर्क इतना ही था कि राजकाजी लोग अपने इस विश्वास के लिए भारतीय जनता में सद्धर्म का प्रचार करके अपने राज्य और व्यापार को नुकसान पहुंचाना नहीं चाहते थे। इस कारण ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारी पादरियों के धर्म-प्रचार-सम्बन्धी उत्साह को एक मर्यादा में रखने की कोशिश करते रहते थे। अंग्रेज राजकाजियों में, जिन्हें भारतीय संस्कृति के प्रति आदर या उसका ज्ञान न था, वे जिस तरह यह चाहते थे कि हिन्दुस्तानी ईसाई-धर्म ग्रहण कर लें, उसी तरह जिन अंग्रेज राजकाजियों को या विद्वानों को भारतीय संस्कृति का अच्छा ज्ञान और उसके प्रति आदर था, एवं जो यह चाहते थे कि भारतीय समाज-सुधार में आगे बढ़े तथा अन्त का जाकर स्वतन्त्रता भी प्राप्त करले, उन्हें भी यह आशा थी कि हिन्दुस्तानी आज या कल ईसाई-धर्म को अवश्य ग्रहण कर लेंगे। अलबत्ते ये लोग. धर्म-प्रचार के

लिए पादरी जिन साधनों का उपयोग करते थे, परिणाम की दृष्टि से उनका निषेध करते थे और यह स्पष्ट रूप से कहते थे सरकार द्वारा होनेवाले लोक-शिक्षण के प्रयत्नों में धर्म-प्रचार का प्रत्यक्ष मिश्रण न किया जाय।

फ्रेडरिक जॉन शोअर नामक अंग्रेज अधिकारी ने सन् १८३७ में एक पुस्तक लिखी थी—'Notes on Indian Affairs'। यह ब्रिटिश राज्य के दोषों और तत्कालीन भारतीय संस्कृति के गुणों को ध्यान में रखकर लिखी गई थी। ब्रिटिश शासन-पद्धति के घोर आर्थिक परिणाम, लोगों पर होनेवाले अन्याय, जबरदस्त कर और लोगों को विश्वास में न लेकर, बल्कि उन्हें तुच्छ समझकर चलाई हुई शासन-पद्धति के बदौलत तत्कालीन जनता के मन में उत्पन्न असंतोष और तिरस्कार का बहुत अच्छा वर्णन उसमें किया गया है। ऐसे सहानुभूति-पूर्ण लेखक को भी यह विश्वास होता था कि हिन्दू जनता धीरे-धीरे ईसाई बन जायगी। यह कैसे होगा, इसके सम्बन्ध में उसके विचार इस प्रकार के थे :

"मानवी प्रयत्नों में ये साधन मुख्यत: फलदायी हो सकते हैं—(१) हमें अपने उदाहरण से लोगों को यह दिखला देना चाहिए कि हम जिस धर्म का प्रचार करते हैं उसपर हमारी सच्ची श्रद्धा है और हमारा आचरण भी उसीके अनुसार है, (२) नवीन पीढ़ी में शिक्षा का प्रचार करना चाहिए, (३) एक वर्ग ऐसा तैयार करना चाहिए, जिसमें धर्मान्तरित लोगों का समावेश किया जा सके और उनका जाति से बहिष्कार न हो, इसका ध्यान रखना चाहिए। यदि इन उपायों से काम लिया गया तो थोड़े ही समय में बहुत सफलता मिल सकती है। धर्म और जाति-सम्बन्धी बहुत-से पुराने अन्धविश्वास अब कमजोर हो गये हैं, उनमें जिज्ञासा बढ़ रही है और जो लोग अंग्रेजी से दूर-दूर भागते थे, यहांतक कि किसान लोग भी, पादरियों के पास आने लगे हैं और ऐसे-ऐसे प्रश्न पूछने लगे हैं कि सचमुच हमारा कोई धर्म है भी, और यदि है तो उसमें क्या-क्या बातें हैं? उसमें शिक्षा का तथा नवीन विचारों का खूब प्रचार होने के बाद उन्हें अपनी मूर्ति-पूजा की पद्धति का दोष दिखाई देने लगेगा। आज भी उन्हें इतना तो महसूस होने लगा है कि इस धर्म से उनके अन्त:करण को शांति और समाधान नहीं मिलता। हिन्दुओं में यदि कोई राजा अथवा प्रभावशाली पुरुष कान्स्टेनाइन

की तरह (धर्म-प्रचार करने के लिए) कमरबस्ता हो जाय तो उसका अनुकरण करके जनता सामुदायिक धर्मान्तर के लिए तैयार हो जायगी। जबतक ऐसा न हो तबतक अकेले धर्माधिकारियों या पादरियों को चाहिए कि वे बप्तिस्मा देकर धर्मान्तर करने की विशेष उत्कटता न दिखावें।"[1]

इसी लेखक ने अंगरेजी सेना के दो ब्राह्मण सिपाहियों का एक संवाद दिया है, जो उस समय का है जबकि काशी में हिन्दू-मुसलमानों का दंगा हुआ और मंदिरों में गाय का खून तथा मसजिदों में सूअर का मांस डाला गया था। एक कहता है—"देखोजी, जो बात अबतक सपने में नहीं हुई, वही सामने दिखाई देती है। शंकर के हाथ का त्रिशूल नष्ट-भ्रष्ट हो गया है और थोड़े ही दिनों में हम सब एक जाति के हो जायंगे। यदि ऐसा हुआ तो हमारा धर्म क्या होगा?" दूसरा जवाब देता है—"मैं समझता हूं वह ईसाई-धर्म होगा।" तब पहला समर्थन करता है—"मैं भी ऐसा ही समझता हूं, क्योंकि अभी जो काण्ड हुए उन्हें देखकर तो हम मुसलमान हरगिज न बनेंगे।" इस संवाद के आधार पर इस लेखक का कहना है कि इस देश में ऐसे खयालात फैल रहे हैं कि सब हिन्दू ईसाई हो जायंगे। तात्पर्य यह कि यह कहना यदि सही हो कि अंग्रेज शासकों ने इस देश में सर्वांगीण सुधारों की आकांक्षा जाग्रत की तो उसके साथ यह भी सच है कि उसके फल-स्वरूप उन्हें अपने साम्राज्य को कुछ समय के लिए बल मिलने और जब हिन्दुस्तान स्वतंत्र होगा तब अपना व्यापार कायम रहने और सब हिन्दुओं को ईसाई बनाने की आशा भी थी। उन्हें यह आशा नहीं थी कि यहां के मुसलमान ईसाई होंगे। पूर्वोक्त लेखक मुसलमानों के ईसाई मजहब-सम्बन्धी रुख के बारे में लिखता है—"हिन्दुओं की बनिस्बत मुसलमान कम दुराग्रही और सहिष्णु हों, और उनके विचार अधिक उदार हों तो भी उन्हें ईसाई-धर्म में दीक्षित करना औरों की अपेक्षा कठिन होगा। इस विषय में मुसलमानों की भावना बड़ी विचित्र है। इधर बुतपरस्त कहकर वे हिन्दुओं को तुच्छ मानते हैं और उधर ईसाइयों से भी नफरत करते हैं। इसलिए नहीं कि हम ईसामसीह को मानते हैं (क्योंकि उन्हें तो वे भी पैगम्बर मानते हैं)

[1] Notes on Indian Affairs Vol. II, P. 466-77 by Hon. Fredrick John Shore.

वल्कि इसलिए कि हम उनके पैगम्बर मुहम्मद को नहीं मानते हैं।''[1]

यह धर्म-संशोधन का आन्दोलन हिन्दुओं में ही चला --मुसलमानों और पारसियों में नहीं, क्योंकि उन्हें उसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। प्रार्थना-समाज और ब्रह्म-समाज के प्रवर्तकों को यह आशा रही कि हिन्दू-धर्म-संशोधन का असर दूसरे धर्मों पर भी पड़ेगा। वस्तुतः ब्रह्म-समाज और प्रार्थना-समाज को आगे जाकर संशोधित हिन्दू-धर्म का ही रूप प्राप्त हो गया।

अब हम राजा राममोहन राय के समय की परिस्थिति का उनकी दृष्टि से अधिक विचार करें। इस समय बंगाल में ईसाई-धर्म-प्रचारकों ने हिंदू धर्म पर खुला हमला शुरू कर दिया था और छिद्रान्वेषण-बुद्धि से उसपर टीका करने का बीड़ा उठा लिया था। उनका सम्बोधन कर वे कहते हैं— "ब्रिटिश सरकार ने अपनी यह नीति जाहिर की थी कि धर्म के सम्बन्ध में तटस्थता रक्खी जायगी, अतएव अब विजेता के धर्म का खुला प्रचार करने देना और पराजित लोगों के धर्म की खुली निन्दा करने की इजाजत देना उसके विरुद्ध है। दूसरे हिन्दू व मुसलमान धर्मों के दोष-दर्शन के ही लिए व्याख्यान देना अथवा पत्र-पत्रिका बांटना अनुचित है। तीसरे, भौतिक उन्नति का प्रलोभन देकर धर्मान्तर करना अश्लाध्य है। सरकार के बंगाली प्रजाजन दुर्बल और दरिद्र हैं—अंग्रेजों का नाम सुनते ही वे भयभीत हो जाते हैं। ऐसे लोगों पर राज-सत्ता की सहायता ले सख्ती करना बहुत निंद्य है।" इस तरह हिंदू-धर्म पर होनेवाले पादरियों के आक्रमण का प्रतिकार करना भी राजा राममोहन राय का एक अंगीकृत कार्य था; परन्तु ब्रह्म-समाज की स्थापना करने में ईसाई-धर्म का प्रतिकार करना, यह मूल प्रेरक भावना नहीं थी। हिंदू-धर्म में सुधार किया जाय, एकेश्वरी धर्म का सर्वत्र प्रचार करके यह बताया जाय कि सब धर्मों का अन्तरंग एक ही है, और इस तरह संसार के धर्म-भेदों का अन्धकार दूर करनेवाले सार्वत्रिक विश्व-धर्म के सूर्य का प्रकाश सर्वत्र फैलाना उनकी एक बड़ी महत्वाकांक्षा थी।

"जिस तरह भिन्न-भिन्न शरीरस्थ जीवात्मा उन-उन शरीरों को चैतन्य देकर उसका नियमन करते हैं, उसी तरह अखिल विश्वरूप समष्टि शरीर

[1] I bid P. 468.

को चैतन्य देकर उसका नियंत्रण करनेवाले एक सत्तत्व की हम आराधना करते हैं। हमारी इस श्रद्धा को यद्यपि हमारे धर्म के आधुनिकों ने छोड़ दिया है तथापि वह पवित्र वेदान्त-धर्म से सम्मत है। हम सब प्रकार की मूर्ति-पूजा के विरुद्ध हैं। परमेश्वर की प्रार्थना का हमारा एक ही साधन है—भूत-दया अथवा परोपकार-भाव से परस्पर व्यवहार करना।"[१]

राजा राममोहन राय ने वेदान्त तथा ईसाई और इस्लाम धर्मों के तत्वों का अच्छा अध्ययन किया था। उनकी धर्म-जिज्ञासा बड़ी प्रखर थी और उनकी बुद्धि निष्पक्ष, निरहंकार और सर्व-संग्राहक थी। हिन्दू-समाज का उद्धार करने की 'तड़प' उन्हें उपनिषदों के वेदान्त से मिली थी। अंग्रेज राज-काजी उनसे ईसाई-धर्म ग्रहण करने की आशा रखते थे और पादरी उन्हें इसका खुला उपदेश भी करते थे। क्योंकि वे मानते थे कि हिन्दू लोगों के ईसाई हो जाने से अपने राजनैतिक और व्यापारिक साम्राज्य को स्थिरता मिलेगी।

वेदान्त-प्रतिपादित परमात्मा के स्वरूप का शुद्ध और उच्च ज्ञान लोगों को मिले, इसलिए राजा राममोहन ने काफी प्रचार-कार्य किया। वह ईसाई मजहब की खुली तारीफ करते थे, ईसा-मसीह को पूज्य मानते थे और कहते थे कि नीतितत्वों का जितना सामूहिक विवेचन ईसाई-धर्म में किया गया है उतना मैंने किसी धर्म में नहीं देखा। इससे ईसाई-धर्म-प्रचारकों को यह खयाल हो गया था कि वह ईसाई हो जायंगे। वह यह तो मानते थे कि ईसा के जीवन और उपदेश का सन्देश दैवी है। वह उस महान् विभूति के प्रति आदर भी करते थे और समझते थे कि ईसा के चारित्र्य से मनुष्य की नैतिक उन्नति में जितनी सहायता हुई है उतनी और किसी से नहीं; परन्तु ईसाइयों का यह मत उन्हें मान्य नहीं था कि ईसा ईश्वर का प्रत्यक्ष पुत्र था। इस कारण पादरी लोग उनसे नाराज भी रहते थे।

उनका यह मत था कि हिन्दुओं का उद्धार वेदान्त के आधार पर, मुसलमानों का कुरान के सहारे और ईसाइयों का इंजील की सहायता मे किया जाय। और ऐसा करते हुए प्रत्येक धर्म के शुद्ध एकेश्वरी विचारों के लोग परमेश्वर की उपासना करने या तत्वज्ञान की देन-लेन करने के लिए

[१] Raja Ram Mohan by Nalin C. Ganguli P. 69-70

एकत्र हों—इसीमें सारे जगत् के उद्धार का बीज उन्हें दिखाई देता था। उनका यह विश्वास था कि तलवार, बन्दूक, लोभ, मोह अथवा नीति की सहायता में धर्मान्तर का आन्दोलन चलाने और दूसरे के धर्म की निन्दा करके धर्म-कलह फैलाने में संसार का किसी प्रकार हित नहीं है। वह मानते थे कि नीति-प्रचार में ईसाई-धर्म आगे निकल गया है, मुसलमानों का देवता-काण्ड (Theology) शुद्धतम है और हिन्दुओं का वेदान्त-सिद्धान्त अत्यन्त प्रगल्भ है। ब्रह्म-समाज किसी भी ग्रन्थ को ईश्वर-निर्मित नहीं मानता। वह एक शुद्ध और बुद्धिगम्य एकेश्वरी पन्थ है। सब धर्मों का संशोधन करके उन्हें एकेश्वरी रूप देना और सब तरह की मूर्ति-पूजा नष्ट करना उनका ध्येय था। फिर भी उनका यह मत था कि प्रत्येक धर्म का संशोधन उसी परम्परा के लोगों को करना चाहिए। इसलिए वह अपनेको 'एकेश्वरी हिन्दू' (Hindu Unitarian) कहा करते थे।

राजा राममोहन राय के धार्मिक सुधार की नीति दो प्रकार की थी एक तो वह हिन्दू-समाज के बाह्यविधि-विधानों और कर्मठता की जड़ को खोद डालना चाहते थे, क्योंकि इन बाहरी आधारों के फेर में पड़ जाने से अन्तःकरण की शुद्धि और परमात्मा की प्राप्ति, जो धर्म का मूल उद्देश्य है, वह एक तरफ रह जाता है और धर्म को सकाम कर्म का बाजारू स्वरूप प्राप्त हो जाता है। भौतिक फल के लिए भौतिक प्रयत्न करना छोड़कर मनुष्य दैववादी, आलसी और अन्धा बन जाता है; एवं चमत्कार और अद्‌भुतता के चक्कर में पड़कर सृष्टि-नियमों का ज्ञान प्राप्त करने से विमुख हो जाता है। प्रत्येक धर्म-सुधारक को सकाम व्रतादि, धर्म के बाहरी क्रिया-कांड का खंडन करके धर्म का अन्तरंग लोगों के सामने रखना पड़ता है। भागवत-धर्म के सन्तों ने भी मध्ययुग में यह काम किया था; और वेदान्त के आधार पर शुद्ध परमार्थ-ज्ञान का प्रचार किया था।

राजा राममोहन राय मायावाद को मानते थे और उसका समर्थन भी करते थे; परन्तु माया को वह एक अव्यक्त परमात्मा की शक्ति मानते थे। माया को परमात्मा की शक्ति मानने से निर्गुण ब्रह्मवाद का महत्व कम हो जाता है, इसलिए शांकर-वेदान्त के साम्प्रदायिक अनुयायी उसे शक्ति नहीं कहते और न यही मानते हैं कि इस शक्ति की सहायता से परमात्मा ने

जगत् निर्माण किया है। क्योंकि उनके मतानुसार जग और माया दोनों असत् अर्थात् मिथ्या हैं। इसीमें निवृत्ति मार्ग का उद्गम हुआ है। राम-मोहन राय निवृत्ति मार्ग के अनुयायी नहीं थे और जगन्मिथ्यावाद उन्हें मान्य न था। जगन्मिथ्या अथवा इसके जैसे उपनिषद् के वचनों का अर्थ इन्होंने यह किया है कि परमात्मा के अतिरिक्त जगत् का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वे वेदान्त को प्रवृत्तिपर बनाने के पक्ष में थे और आधुनिक समय में उन्होंने निवृत्तिपरक समाज को कर्म-प्रवण बनाने का प्रथम प्रयत्न किया है। उनका यह भी मत था कि वेदान्त-ज्ञान के साथ ही हिन्दुओं में भौतिक विद्या का ज्ञान भी फैलाना चाहिए। इसके लिए उन्होंने सरकार-द्वारा संस्कृत अध्ययन पर होनेवाले खर्च को कम करके पश्चिमी शिक्षा और विद्याओं के लिए खर्च करने पर ज़ोर दिया।

इंग्लैण्ड में जबसे लार्ड बेकन ने अनुभवगम्य ज्ञान का युग शुरू किया, तबसे मनुष्य को यह विश्वास होने लगा कि हम अपने ज्ञान-बल के द्वारा किसीपर प्रभुत्व कर सकते हैं और ज्ञान-प्राप्ति के साधन की दृष्टि से ग्रंथ प्रामाण्य की अपेक्षा अनुभव-प्रामाण्य और बुद्धि-प्रामाण्य को अधिक प्रभुत्व मिलने लगा। वस्तुतः ग्रंथों की उत्पत्ति भी मनुष्य के अनुभव और तर्क मे होती है, परन्तु ग्रंथकार के प्रति रहनेवाले पूज्यभाव से विभूति-पूजा जन्मती और विभूति-पूजा का अन्त ग्रंथ-विशेष को परमेश्वर-निर्मित मानने की प्रवृत्ति में होता है। ऐसा होने पर ग्रंथ-प्रामाण्य का अतिरेक होता है और मनुष्य की बुद्धि अपने अनुभव से न चलकर अथवा स्वतन्त्र तर्क का उपयोग न करके प्राचीन ग्रन्थों की और उनके शब्दों और वचनों की दासी बन जाती है। इस तरह अगली पीढ़ी जब पिछली पीढ़ी की दासता स्वीकार कर लेती है तब ज्ञान की प्राप्ति रुक जाती है और मनुष्य अपनी बुद्धि का उपयोग सिर्फ शब्दार्थ करने में ही करने लगता है। वह यह भूल ही जाता है कि अनुभव और तर्क से ही सृष्टि का ज्ञान धीरे-धीरे होता है। पेशवाई के अन्तिम और ब्रिटिश राज्य की स्थापना के समय हमारे शास्त्री-पण्डितों की यही अवस्था हो गई थी।

इस ग्रन्थ-प्रामाण्य के युग के विरुद्ध बगावत का झण्डा खड़ा करने का श्रेय हमारे यहां आधुनिक काल में राजा राममोहन राय को देना होगा।

ब्रह्म-समाज अथवा प्रार्थना-समाज की स्थिति के सम्बन्धमें डॉ० भांडारकर कहते हैं—"प्रार्थना-समाज वेद को ईश्वर-प्रणीत नहीं मानता। यही सत्य-पक्ष है। धर्म का बीज सबके अन्तःकरण में है और यह ईश्वर से मिला हुआ है। किसीके हृदय में यह प्रफुल्लित, विकसित मिलता है और ऐसी के उपदेश अथवा ग्रन्थों के द्वारा दूसरों को धर्म-सम्बन्धी ज्ञान होता है। इस तरह ईश्वर ही अपना ज्ञान विकसित करता है और यह क्रम शुरू से अबतक चला आ रहा है। एक ही समय अथवा एक ही व्यक्ति को ईश्वर ने सारा धर्म-ज्ञान दे दिया—यह सम्भवनीय नहीं। क्योंकि धर्म सर्वदा विकासशील है। परमेश्वर धर्म-तत्वों का प्रचार मनुष्यों के द्वारा ही कराता है और मनुष्य की शक्ति परिमित है। उसकी दुर्बलता के कारण सत्य बहुत बार एक तरफ रह जाता है और असत्य की तरफ वह झुकने लगता है। इस कारण सभी धर्मो में सत्य है और असत्य भी है। इसलिए असत्य को छोड़कर हमारी वृत्ति हमेशा सत्य ग्रहण करने की ओर रहनी चाहिए। वेद में प्रार्थना-समाज के सब तत्वों का बीज मात्र है। उपनिषद् और गीता में वह विकसित हुआ है।"[1]

इसलिए वह सब धर्मों के प्रति समबुद्धि रखकर सार्वत्रिक अथवा विश्व-धर्म का विश्वास करने के पक्ष में है।[1] हिन्दुओं के वेदान्त-सिद्धान्त से उन्हें यह व्यापक और सहिष्णु वृत्ति मिली है; लेकिन ईसाई-धर्म-प्रचारक और इस्लाम धर्मानुयायी को वह नहीं पटती है। यूरोप में यह बौद्धिक दासता बेकन के बाद नष्ट हो गई और लोग भौतिक ज्ञान में आगे बढ़ गये। इसी उद्देश्य को लेकर हमारे देश में पश्चिमी शिक्षा व ज्ञान के प्रचार के लिए अनेक उद्योग हुए। राजा राममोहन राय के सर्वांगीण सुधार का यह दूसरा अङ्ग था। उन्होंने भिन्न-भिन्न शिक्षा-संस्थाओं के द्वारा दोनों दिशाओं में प्रयत्न किया। समाज-सुधार की दिशा में सती-प्रथा को मिटाने के आंदोलन में प्रमुख भाग लिया। सती-प्रथा, स्त्री-दास्य की एक प्रतीक थी। राममोहन राय ने स्त्री-स्वातन्त्र्य के व्यापक प्रश्न को प्रथम गति दी और स्त्रियों को घर की सम्पत्ति में विरासत का हक मिले, इसका भी प्रयत्न किया। कन्या-विक्रय, बहु-विवाह आदि कुरीतियां बन्द करने के लिए भी उन्होंने

---

[1] डा० रा० गो० भाण्डारकर यांची धर्म पर व्याख्यानें ४-३२६

लोक-जागृति की।

सती की प्रथा तो लार्ड वेंटिक ने कानून द्वारा बन्द कर दी; परन्तु उसमें लोगों की दुर्बलता और भीरुता का सहारा लिया गया था। जिस विभाग में सती की प्रथा थी, उसकी प्रतिकार-भावना बिल्कुल मृतवत् हो गई है, वे दुर्बल और भीरु हैं, इसका फायदा उठाकर लोगों के भाव और मत के विरुद्ध किसी विदेशी सरकार का कोई कानून लोगों पर लादा जाना राष्ट्रीय दृष्टि से प्रशस्त नहीं मालूम होता। राष्ट्रीय राजनीति की लड़ाई में असली पूंजी लोगों की प्रतिकार-भावना ही है। यह पूंजी यदि न रही तो लोग विदेशियों के अत्याचारों के खिलाफ बगावत कैसे करेंगे? इसी विचार को लेकर अठारहवीं सदी के अन्त में राष्ट्रीय राजनीति की नींव डालने-वाले लो० तिलक ने विदेशी सरकार के कानून के द्वारा सामाजिक सुधार करने के तरीके के खिलाफ आवाज उठाई थी।

परन्तु अभी हिन्दुस्तान में आधुनिक राष्ट्रवाद का निर्माण होना बाकी था। राजनैतिक गुलामी सच्चे सामाजिक व धार्मिक सुधार में कैसी विघा-तक होती है इसका अनुभव सर्वांगीण सुधारकों को होना बाकी था। उस समय के शिक्षित लोग यह साफतौर पर नहीं जानते थे कि ब्रिटिश साम्राज्य-शाही हमारी आर्थिक उन्नति में किस तरह से बाधक हो रही है। राजा राममोहन राय को इस बात की बड़ी चिन्ता थी कि ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ लोगों की प्रतिकार-भावना जाग्रत न हो और लोग बगावत न कर बैठें। आधुनिक राष्ट्र-निर्माण के लिए आवश्यक मानसिक और धार्मिक मनो-रचना आज लोगों में नहीं है और उसके होने तक अंग्रेजी राज्य का रहना आवश्यक है, ऐसा वे मानते थे। १९वीं सदी के साथ अन्त में इस विश्वास को धक्का पहुंचानेवाली विचार-सरणि और मनोरचना शिक्षित वर्ग में निर्माण होने लगी।

'सामाजिक सुधार' शब्द में स्त्री-शूद्र [illegible] समाज के दीन, दुर्बल, दलित लोगों को समानता प्राप्त करा देना मुख्य है। यह समता-तत्त्व श्री-कृष्ण, गौतम बुद्ध और मध्ययुगीन साधु-सन्तों के ग्रन्थों और प्रयत्नों में मिलता है। समाजशास्त्र की दृष्टि से विचार करें तो प्राचीन और मध्य-युगीय धर्म-सुधारकों की तरह अर्वाचीन सुधारकों को समत्व-भाव की

अध्यात्म-वृत्ति से अपने सुधारों का आधार मिला था। फिर भी यह समता किस परिस्थिति में कितनी अमल में लाई जाय, इसका विचार समाज के भौतिक ज्ञान और साधनों की दृष्टि से करना चाहिए। आर्थिक समता सामाजिक समता का आधार है, मगर आर्थिक समता समाज की धनोत्पादन कला व पद्धति की प्रगति पर और आध्यात्मिक उन्नति पर अवलम्बित है। इस दृष्टि से विचार किये बगैर वर्ण-भेद और जाति-भेद इष्ट वा अनिष्ट इसका सही निर्णय नहीं हो सकता। १९वीं सदी में जो व्यक्तिवादी सामाजिक तत्वज्ञान अंग्रेजों द्वारा हिन्दुस्तान में आया उसमें यह विचार नहीं था और इसलिए वह भारतीय सुधारकों में नहीं पाया जाता। उनकी विचार-श्रेणी में भूत-दया व समता इस आध्यात्मिक वृत्ति तथा व्यक्तिवादी अर्थोन्नति व राष्ट्र-भावना (Individualist Nationalism) की ही प्रधानता थी।

राजा राममोहन राय इस बात को तो जानते थे कि हमारे समाज के आर्थिक संगठन में एक जबरदस्त उथल-पुथल हो रही है। पहले समाज में एक जमींदार-जागीरदारों का उच्च वर्ग था और दूसरा गरीब और दुर्बल किसानों का। व्यापारी व कारीगरों के पास बहुत धन-सम्पत्ति न थी। यह स्थिति बदलती जा रही है और उसकी जगह अंगेज व्यापारियों और पूंजीपतियों के सहारे एक मध्यम व्यापारी व शिक्षित वर्ग हमारे समाज में बनता जा रहा है और उसकी सम्पत्ति बढ़ती जा रही है। वे इस आर्थिक बनाव-बिगाड़ का महत्व भी जानते थे और उन्हें यह आशा थी कि अन्त में इसी वर्ग में से राजनैतिक लोक-सता का आन्दोलन करनेवाला दल तैयार होगा और इंग्लैंड की तरह यहां भी लोक-नियन्त्रित राज-सत्ता स्थापित हो जायगी; परन्तु वे यह नहीं जानते थे कि इस वर्ग की वृद्धि और उन्नति में भी ब्रिटिश साम्राज्य बाधा डाल रहा है। वे यह भी नहीं जानते थे कि इस व्यापारी मध्यम वर्ग में से कारखानेदारी निर्माण होने के लिए हमें संरक्षक चुंगी अथवा स्वदेशी जैसे आन्दोलन की जरूरत रहेगी और उसमें ब्रिटिश शासक, अंग्रेज व्यापारी और अंग्रेज पूंजीपतियों का हिन्दुस्तानी मध्यम व्यापारी वर्ग में से पैदा होनेवाले पूंजीवालों का विरोध उत्पन्न होगा। आर्थिक दृष्टि से वे खुले व्यापार के प्रेमी थे। उनका मत था कि

ब्रिटिश माल, पूंजी और पूंजीवालों के इस देश में अधिक परिमाण में आने से देश का अहित नहीं, हित ही होगा। हां, वे यह जरूर कहते थे कि हिन्दुस्तान से बाहर जानेवाले माल पर अंग्रेज लोग जो भारी कर लगाते हैं वह उन्हें उठा देना चाहिए।

१८२० मे १८३० तक राममोहन राय प्रभृति बंगाली नेता यह समझते और कहते थे कि हिन्दुस्तान सघन होता जा रहा है, क्योंकि शहरों में मजदूरी की दर बढ़ गई थी, और मध्यम वर्ग के कुछ लोगों को अच्छी नौकरियां मिल रही थीं। परन्तु वे यह भूल जाते थे कि इससे अधिक मात्रा में भाव भी बढ़ गये थे और इसलिए पन्द्रह-बीस वर्ष के बाद ही महाराष्ट्र के 'लोकहितवादी' ने विलायती माल के बहिष्कार और स्वदेशी व्रत की पुकार मचाई।

अब राममोहन राय के राजनैतिक विचारों को देखें। पहले के मुसलमान जमींदारों के शासन में हिन्दुओं को जितने बड़े-बड़े पद व अधिकार मिलते थे, उतने अंग्रेजी राज में नहीं मिलते। इससे उन्हें दुःख होता था; परन्तु मुसलमानों के शासन की अपेक्षा इसमें नागरिक स्वातन्त्र्य और धर्म-स्वातन्त्र्य मिलता है और जान-माल अधिक सुरक्षित व स्थायी रहता है। फिर इनके साहचर्य से हमारे देश में अनेक विद्या, कला आदि का उदय हो रहा है, इसे वे अधिक महत्व देते थे। नागरिक-स्वातन्त्र्य व धर्म-स्वातन्त्र्य के रहने से हमारे देश में सर्वांगीण सुधार का ज्ञान-रवि उदय हो रहा है और उससे हमारा जो हित हो रहा है उसकी तुलना पहले के बड़े अधिकारों और जागीरों से नहीं हो सकती, ऐसा वे समझते थे। परन्तु जब लार्ड हेस्टिंग्ज के जमाने में नागरिक स्वातन्त्र्य पर पदाघात हुआ और अखबारों की स्वतन्त्रता छीन लेने का सिलसिला शुरू हुआ तब ब्रिटिश राज्य के प्रति उनकी श्रद्धा को धक्का लगा और ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार के खिलाफ उन्होंने ब्रिटिश राजा तक दाद मांगी। भारत सरकार के अन्याय के विरुद्ध वैध प्रतिकार का यह पहला उदाहरण है। मगर उनके प्रतिकार का कुछ फल न निकला। मुद्रण-स्वातन्त्र्य छीन लिया गया। अखबारों के लिए इजाजत लेने का कानून बन गया और अखबारों पर सेंसर बैठ गया। इसके विरोध में उन्होंने अपना अखबार बन्द कर दिया।

१८३१ में वे विलायत गये। वहां ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने उनका खूब सम्मान किया। वहां कम्पनी के बोर्ड ग्रॉव कंट्रोल को जो मत-पत्रिका उन्होंने भारतीय शासन के सम्बन्ध में पेश की, उसमें उन्होंने ये सुझाव पेश किये: (१) पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियों को बड़ी-बड़ी नौकरियां दी जायं और अपढ़ लोगों को सैनिक शिक्षा देकर फौजी स्वयंसेवक दल तैयार किये जायं। (२) न्याय और शासन-विभाग अलग-अलग रक्खे जायं और न्याय-विभाग में हिन्दुस्तानियों की भर्ती अधिक की जाय। (३) सदर दीवानी अदालत को 'हेबस कार्प्स रिट' देने का अधिकार देकर नागरिक स्वातन्त्र्य सुरक्षित किया जाय। (४) न्याय-विभाग में पंचायत-पद्धति व जूरी-पद्धति का प्रवेश किया जाय। (५) जमींदार लगान कम करें। (६) सरकार जमींदारों से कम मालगुजारी ले और इसकी पूर्ति के लिए ऐश-आराम के माल पर कर बैठाया जाय। (७) इंग्लैंड से नमूने के तौर पर कुछ जमींदार यहां लाये जायं और उनके द्वारा यहां लोगों को कृषि-सुधार की शिक्षा दी जाय। (८) किसानों को मौरूसी हक दिया जाय। (९) भारत-सरकार का विलायत में होनेवाला खर्च कम किया जाय और (१०) भारत सरकार को कुछ बातों में विलायत-सरकार के नियन्त्रण से मुक्त रक्खा जाय। इसमें प्रतिनिधिक संस्थाएं स्थापित करने की मांग नहीं की गई है, परन्तु इसके पन्द्रह वर्ष बाद महाराष्ट्र के 'लोकहितवादी' ने पार्लमेंट स्थापित करने की सूचना दी है। इस तरह 'स्वदेशी' की तरह 'स्वराज्य' की कल्पना का स्पष्ट उच्चार व प्रचार पहले-पहल महाराष्ट्रीय सुधारक ने किया।

अब यहांपर महाराष्ट्र के आदि सुधारकों से परिचय कर लेना ठीक होगा। महाराष्ट्र में सुधार-आन्दोलन का जन्म बम्बई में १८४० के लगभग हुआ। पहले-पहल श्री बालशास्त्री जांभेकर ने १८३२ में 'दर्पण' नामक साप्ताहिक और 'दिग्दर्शन' नामक मासिक शुरू किया। इन्होंने विधवा-विवाह का तथा पतित-परावर्तन अर्थात् दलितोद्धार तथा शुद्धि का श्रीगणेश किया। इनके सहायक थे मराठी के सुप्रसिद्ध व्याकरणकार श्री दादोबा पांडुरंग तर्खड और बम्बई के नगर-सेठ श्री जगन्नाथ नाना शंकर सेठ। श्री दादोबा पांडुरंग ने १८४० में बम्बई में एक 'परमहंस मंडली' नामक गुप्त संस्था जाति-भेद को तोड़ने के लिए स्थापित की। इसी संस्था की राख में

से १८६७ में बम्बई में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। स्व० रानडे व भाण्डारकर-जैसे विद्वान और सुशील लोगों का हाथ इसमें हाने के कारण कुछ समय तक इसका खूब बोलबाला रहा। फिर भी बंगाल की तरह महाराष्ट्र में प्रार्थना-समाज को अधिक महत्व नहीं मिला। महाराष्ट्र में चिपलूणकर, आगरकर और तिलक इन तीन महान् विभूतियों ने राष्ट्रवाद और बुद्धि-वाद की स्थापना की। १८८० में तिलक-आगरकर ने आजन्म देश-सेवा की दीक्षा लेनेवाले लोगों का एक दल खड़ा करने की जो अपूर्व प्रथा डाली, उससे प्रार्थना-समाज की सुधारक-मंडली का तेज फीका पड़ गया और महा-राष्ट्रीय युवकों के हृदय में तिलक-आगरकर ने घर कर लिया। फिर भी महाराष्ट्र में सर्वांगीण सुधार का सर्वव्यापक और सर्वस्पर्शी विचार लोगों के सामने रखने और राजनैतिक तथा आर्थिक अवनति से अपना सिर ऊंचा उठाने का नवीन मार्ग सरदार गोपालहरि देशमुख उर्फ 'लोकहितवादी' ने दिखाया। पहली पीढ़ी में यदि यह सम्मान 'लोकहितवादी' को मिला तो दूसरी पीढ़ी में इस गौरव की माला स्व० रानडे के गले में डालनी पड़ेगी। १८३४ में लोकहितवादी ने सुझाया था—"हम सब गरीब-अमीरों को मिल-कर रानी के पास एक अर्जी भेजनी चाहिए कि वर्तमान शासन-पद्धति से हमें लाभ नहीं है और हमारे राज्य-सम्बन्धी हक मारे जाते हैं। अंग्रेज भी वैसे ही मनुष्य हैं जैसे कि हिन्दू। इनका वर्तमान भेद मिटाकर इन्हें एक समान बनाने के लिए हिन्दुस्तान में पार्लमेंट स्थापित की जाय और उसकी बैठक बम्बई में हो। उसमें सब जातियों और स्थानों के समान प्रतिनिधि हों। तभी लोगों की दरिद्रता दूर होगी और अंग्रेजों का यह भ्रम भी दूर होगा कि भारतवासी मूर्ख हैं। इससे राज्य में उत्तम सुधार होंगे और लोगों को यह सहज दिखाई पड़ेगा कि राजा के शासन में क्या सुख था और लोक-सत्तात्मक राज्य में क्या सुख है।" इस अवतरण से लोकहितवादी की बुद्धि-मत्ता, प्रतिभा और देश-सुधार के उपाय का अचूक निदान ये गुण स्पष्ट दिखाई देते हैं।

परन्तु राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए केवल बौद्धिक साहस अथवा प्रतिभा-सम्पन्न कवि-कल्पना काफी नहीं होती। उसके लिए असा-धारण स्वार्थ-त्याग, दीर्घकालीन उद्योग और निश्चय, संगठित लोकमत की

शक्ति और उस शक्ति को जाग्रत करने के लिए आवश्यक राजनीतिज्ञता और दुर्बल, भीरु, स्वार्थी लोक-समाज में स्वार्थ-त्याग, धैर्य, आत्मविश्वास और प्रभावकारक सामर्थ्य निर्माण करने के लिए आवश्यक साहस, और दृष्टि-निश्चय इन गुणों से मण्डित चारित्र्य नेता के पास होना चाहिए। ऐसे नेता महाराष्ट्र को १८८० के लगभग चिपलूणकर, आगरकर और तिलक के रूप में मिले।

लोकहितवादी के समय में ही विष्णुबुवा ब्रह्मचारी ने 'सुखदायक राज-प्रकरणों' नामक निबन्ध में समाजवाद का प्रतिपादन किया है—यह देखकर सबको आश्चर्य होगा। वे कट्टर ब्राह्मण थे और हमारी प्राचीन संस्कृति में से ही हमें अपने भावी अभ्युदय का मार्ग मिलेगा—ऐसा उनका खयाल था। वह कहते हैं—

"सब लोग मिलकर सारी जमीन जोतें और बोवें और हर गांव में अनाज के कोठार रक्खे जायं और उनमें से ग्रामवासी पेटभर अन्न और पशुओं के लिए आवश्यक घास-दाना ले लिया करें। यह सब पैदावार एक के ही कब्जे में रहे और सब उससे आवश्यक सामान ले जायं। राजा को चाहिए कि वह सूत, ऊन, रेशम के कपड़े तैयार करावे और जिसको जिस कपड़े की जरूरत हो वह ले जाय। गहने भी गढ़वा के हर गांव में रक्खे जायं और सब स्त्री-पुरुष उनका इस्तेमाल करें। हर प्रकार के शस्त्र और खेल प्रत्येक गांव में रहें। रेल और तार भी रहें। राजा, कारखाने के मालिक और किसान सब एक-सा अहिंसक भोजन करें और वह सबको एक ही कोठार से मिले। सबकी शादियां राजा विवाह-विभाग के द्वारा वर-वधू की इच्छा और रजामन्दी से कराये और जिसको कोई स्त्री पसन्द न हो या जिसे कोई पति पसन्द न हो, उसे दूसरी स्त्री या पति का प्रबन्ध कर दिया जाय अर्थात् स्वयंवर की प्रथा डाली जाय। पांच वर्ष का बालक होते ही उसे राजा के ताबे कर दिया जाय। उसकी शिक्षा-दीक्षा और काम-धन्धे का प्रबन्ध राजा करे। वृद्ध-पुरुषों को पेंशन मिले और इन भिन्न-भिन्न विभागों के लोग पार्लमेंट के सभासद हों।"[1]

कार्ल मार्क्स से अपरिचित विष्णुबुवा को ये कम्युनिज्म के ढंग के

[1] 'आजकालचा महाराष्ट्र,पृ० ११२-११३

विचार सूझे कैसे ? इसका जवाब यह है कि एक ही बाह्य परिस्थिति को देखकर सात्विक व राजस अथवा परार्थी व स्वार्थी मन पर भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं। इन्द्रियों के द्वारा मन पर और बुद्धि पर होनेवाले संस्कार एक से होते हैं; परन्तु जिसकी बुद्धि स्वार्थ से मलिन हो गई है, उसे उनमें से स्वार्थ का मार्ग सूझता है और जिसकी बुद्धि परार्थी बनी हुई है, उसको उस स्थिति में परार्थ का मार्ग दिखाई दे जाता है। ऐसी दशा में संन्यस्त-वृत्ति और लोक-कल्याण में ही आनन्द माननेवाले सात्विक शुद्ध मन में पूर्वोक्त सर्वसुख और समान-सुख की कल्पना क्यों न आनी चाहिए ?

लोकहितवादी की धर्म-सुधार-सम्बन्धी सूचनाएं इस प्रकार हैं :

(१) सब लोग ईश्वर का भजन सच्चे मन से करें।

(२) अपने जैसा ही दूसरों को समझें।

(३) उपनयन, विवाह और अन्त्येष्टि क्रिया—इन तीन संस्कारों के अलावा सब संस्कार रद्द किये जायं—जो कर्म कराये जायं वे स्वभाषा में हों।

(४) अपने विचार के अनुसार लिखने, बोलने और चलने की आजादी रहनी चाहिए।

(५) धार्मिक तथा लोक-व्यवहार में स्त्री-पुरुषों के अधिकार समान हों। इसमें विधवा-विवाह आ गया।

(६) लोकाचार की अपेक्षा नीति को प्रधानता दी जाय।

(७) बेमतलब की कोई बात न बोलनी चाहिए।

(८) किसी मनुष्य को तुच्छ न समझना चाहिए। जाति-अभिमान न रखना चाहिए। सबके साथ दया का व्यवहार किया जाय और सबका कल्याण करना चाहिए।

(९) स्वदेश के प्रति प्रीति और उसका कल्याण विशेष रूप से किया जाय।

(१०) जिसको जो धन्धा पसन्द हो वह करे।

(११) जाति-भेद का आधार गुण व कर्म हो, कुल न हो।

(१२) सरकार से प्रजा के अधिकार अधिक हों अर्थात् जनता के लिए जो कानून हितकारी हों वे सरकार से लड़कर बनवाने चाहिए।

(१३) जो नियम राजा ने बनाये हों और जो ईश्वरी बुद्धि-सूचित हों उन्हें मानना चाहिए।

(१४) सब विद्या-वृद्धि के लिए परिश्रम करें। दुखी को सुख, बीमार को दवा, मूर्ख को ज्ञान व कंगाल को धन यथा-शक्ति देना चाहिए।

(१५) सब सत्य पर चलें—सत्य के विरुद्ध कुछ न करें।

इन पन्द्रह नियमों में स्वदेश-भक्ति, लोक-सत्ता, विद्या-वृद्धि इत्यादि सब बातें आ जाती हैं। इनके समकालीन एक दूसरे सुधारक ज्योतिराव फुले थे। उन्होंने महाराष्ट्र में अब्राह्मण-आन्दोलन को जन्म दिया। उसमें स्थापित सत्यशोधक समाज के द्वारा सामाजिक आन्दोलन को सामाजिक वर्ग-विग्रह का रूप प्राप्त हुआ। ब्राह्मण-जाति के प्राधान्य के खिलाफ यह हलचल अब्राह्मण में स्वाभिमान पैदा करने की दृष्टि से आवश्यक भी थी। इसने अब्राह्मण-जाति के दुराध्य व दुराग्रही लोगों को सामाजिक समता के तत्व पर विचार करने के लिए बाध्य करने का काम किया भी। लेकिन इस आन्दोलन के उत्पादकों और प्रचारकों में ब्रिटिश-राजनीति को पहचानने की योग्यता न थी—इससे कुछ समय तक यह नौकरशाही के हाथ की कठ-पुतली बनती रही और मांटेगू-सुधार के बाद इसने अराष्ट्रीय राजनीति का विघातक रूप धारण किया। महाराष्ट्र में अस्पृश्यता-निवारण के आन्दोलन का प्रथम श्रेय श्री ज्योतिराव फुले को ही प्राप्त है।

१८६७ में बम्बई में प्रार्थना-समाज की स्थापना हुई। उसके आचार्य थे स्व० डा० भाण्डारकर और रानडे। इनमें रानडे ही वास्तविक सर्वांगीण सुधारक थे। वे प्रार्थना-समाज को हिन्दू धर्म का ही एक सुधारक पन्थ मानते थे। दोनों हिन्दू धर्म के बड़े अभिमानी थे। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इस तत्व का उन्हें विशेष अभिमान था। प्रार्थना भौतिक फल की प्राप्ति के लिए नहीं, बल्कि आत्मिक उन्नति के ही लिए करनी चाहिए—ऐसा उनका मत था। प्रार्थना-समाज ने भौतिक व्यवहारों में अवैज्ञानिक चमत्कारों को हटाया है। अवतारों को वे सर्वांश में देवता नहीं, बल्कि परम आदरणीय व पूज्य विभूति मानते थे। मूर्ति-पूजा के वह खिलाफ थे। उनके मान्य सामाजिक सुधारों का समावेश 'लोक-हितवादी' के पंद्रह नियमों में हो जाता है।

१८७० के बाद महाराष्ट्र के इतिहास को एक नई दिशा मिली और उसका प्रभाव सारे भारतवर्ष पर पड़ा। १८७१ में सार्वजनिक सभा स्थापित हुई। १८७४ में चिपलूणकर की निबंधमाला शुरू हुई। १८८० में न्यू इंग्लिश स्कूल, केसरी व मराठा का जन्म हुआ। १८८५ में राष्ट्रीय महा-सभा-कांग्रेस की स्थापना हुई। १८८८ में 'सुधारक' निकला। १८९५ में लोकमान्य तिलक ने सार्वजनिक सभा हस्तगत की, आगरकर का शरीरान्त हुआ और पूना के उद्धारक बनाम सुधारकवाद को गरम-नरम राजनैतिक वाद का रूप मिलने लगा। इस वर्ष महाराष्ट्र में जो दो राजनैतिक दल बने उन्होंने सारे भारत खण्ड में प्रचण्ड आन्दोलन खड़े किये और १९२० तक के उसके इतिहास पर अपनी छाप डाली है। १८८५ में कांग्रेस की स्थापना होने के पहले ही दादाभाई और रानडे ने भारतीय राजनीति और अर्थ-नीति की नींव डाल दी थी। इन दोनों विभूतियों के विचारों में आगे की नरम-गरम राजनीति के बीज दिखाई देते हैं, जिसका अवलोकन हम अगले प्रकरण में करेंगे।

: ४ :

भारतीय राजनीति और अर्थनीति का पाया

"I entreat most earnestly that the first element viz. the material condition of India—may be most carefully lifted; and the necessary remedies be applied. If this question be not boldly and fairly grappled with, it will be, in my humble opinion, the principal rock on which the British rule will wreck. It is impossible for any nation to go on being impoverished without its ultimate destruction or the removal of the cause."

—Dada Bhai, in 1871.

"Be united, persevere and achieve self-government so

that the millions that are perishing by poverty, famine and plague and the scores of millions that are starving on scanty subsistance may be saved and India may once more occupy her proud position of yore among the greatest and civilized nations of the World."

"Self-government is the only and chief remedy. In self-government lies our hope, strength and greatness."

—Dada Bhai in 1906.

उन्नीसवीं सदी के मध्य में अर्वाचीन राजनीति की बुनियाद डाली गई। १८३३ में जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी को नई सनद दी गई तब उस समय के कानून में इस आशय की एक धारा भी डाली गई कि किसी भी भारतीय को धर्म, देश, वंश या वर्ण के कारण कंपनी की नौकरी, अधिकार अथवा पद के लिए अयोग्य न समझा जायगा। इसका जो कुछ भाष्य तत्कालीन ब्रिटिश राजनीतिज्ञ लार्ड मेकाले ने किया उससे यह नतीजा निकलता है कि उन्हें स्वार्थ, कीर्ति और राजनीति इनसब दृष्टियों से लोगों को धीरे-धीरे सुधारकर उच्च अधिकार देना और उनकी सुस्थिति में अपना स्वार्थ देखना अभीष्ट था। राज्य की अपेक्षा व्यापार की ओर उनका ध्यान अधिक था। सच पूछिये तो व्यापारी संस्कृति का यह एक उच्चतम स्वरूप है। उसमें दूरदर्शी स्वार्थ का ही अर्थ 'परार्थ' किया जाता है। इस संस्कृति का हीन स्वरूप है परार्थ का ढोंग करके दूसरे को ठगना। अंग्रेज शासक की अपेक्षा व्यापारी अधिक हैं और साम्राज्य-लोभ से व्यापार-लोभ उनके रोम-रोम में अधिक समाया हुआ है। उनके देश जीतने का हेतु व्यापारी, उनकी लूट व्यापारी, उनकी नीतिमत्ता व्यापारी और धर्म भी व्यापारी! लक्ष्मी उनकी आराध्य देवी और स्वार्थ-पोषक परार्थ उनका परमार्थ और वही उनका मोक्ष!! अमरीका के स्वतन्त्र हो जाने पर भी उनके द्वारा उलटा इंग्लैंड का व्यापारिक लाभ बढ़ गया। इस अनुभव से ब्रिटिश लिबरल दल में यह भाव बढ़ रहा था कि साम्राज्यान्तर्गत देश यदि सुसंस्कृत और सम्पन्न होकर फिर स्वतंत्र हुए तो उससे हमें आर्थिक हानि नहीं हो सकती। नेपोलियन के पराभव (१८१५) के बाद ब्रिटिश व्यापारी-वर्ग को यह डर नहीं मालूम होता था

कि अपने साम्राज्य के देश दूसरे यूरोपीय साम्राज्य के शासन में चले जायंगे। उसी प्रकार उन्हें इस समय यह अनुभव हो रहा था कि आद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप धनोत्पादन के जो प्रचण्ड साधन हमें उपलब्ध हुए हैं उनके कारण खुले व्यापार में हमारा कोई मुकाबला नहीं कर सकता। अर्थात् इस समय उनका साम्राज्य-लोभ, जो वास्तव में व्यापार-लोभ से ही पैदा हुआ था, कुछ कम हो गया था। जगत् के सुधार में हमारा लाभ है, क्योंकि जंगली लोग हमारे माल की खरीद नहीं कर सकते, यह वेदान्त उस समय लिबरल पक्ष के मुत्सद्दी दुनिया को सिखा रहे थे।

इस समय हिन्दुस्तान में जो गोरे अधिकारी, व्यापारी व धर्म-प्रचारक आये थे वे इस वेदान्त का प्रचार लोगों में करते हुए कहते थे कि तुम्हारे शिक्षित, सफल और स्वतन्त्र होने में ही हमारा हित है और यही हमारा ध्येय है। इस तरह वे यहां के शिक्षित लोगों के दिलों में ब्रिटिश राज्य के प्रति निष्ठा उत्पन्न करते थे और संसार की संस्कृति में दो-ढाई शतक पिछड़ गये हमारे इस वेदान्त को सुनकर उन्हें देवता मानने लगे। पुराण-परम्परावाले तो यह कहकर रोते थे कि सतयुग में देवता पृथ्वी पर निवास करते थे, अब वे स्वर्ग में रहने चले गये तो इधर नव-शिक्षित यह प्रतिपादन कर रहे थे कि स्वतंत्र, सुखी व सम्पन्न बनाने के लिए अंग्रेजों को ईश्वर ने देवदूत के रूप में यहां भेजा है। भारतीयों की बुद्धि एक गुलामी से निकलकर दूसरी गुलामी में प्रवेश कर रही थी और उसीको स्वतंत्रता कहती थी। ऐसी अवस्था में भारतीय मानस के लिए ब्रिटिश राजनीतिज्ञता का यह कृष्ण अन्तरंग अथवा ब्रिटिश साम्राज्य का कृष्ण-पक्ष समझ लेना बहुत कठिन था। यह कठिन कार्य जिस एक महात्मा ने किया है, उसे हमने 'आधुनिक भारत के पितामह' की महान् पदवी दी है। इस प्रकरण में हमें इसी बात का विचार करना है कि राष्ट्र-पितामह दादाभाई नौरोजी और स्व० रानडे इन दो अर्थशासन-विशारद् राजनीतिज्ञों ने भारतीय राजनीति और अर्थनीति की नींव कब और किस प्रकार डाली?

१८३२ में इंग्लैंड में पार्लामेंट में सुधार हुआ, जिसके फलस्वरूप व्यापारी कारखानेदारों का प्रभुत्व पार्लामेंट पर अधिक हो गया। इस समय इंग्लैंड में इस वर्ग के हित के अनुकूल एक नवीन सामाजिक दर्शन बना।

इस दर्शन का दारोमदार व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर था। व्यक्ति-स्वार्थ और राष्ट्र-हित, राष्ट्रस्वार्थ और जगत्कल्याण इसमें सचमुच द्वैत नहीं है—यह इस तत्वज्ञान का मूलमंत्र था। इस दर्शन से दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। एक तो यह कि परार्थ में स्वार्थ अपने-आप सध जाता है। दूसरा यह कि स्वार्थ साधने में परार्थ अपने-आप हो जाता है। जब पहली बात कहते हैं, तब उसमें स्वार्थ का अर्थ बहुत व्यापक और आध्यात्मिक दृष्टि से करना पड़ता है। स्वार्थ-भाव से परार्थ करने के सिद्धान्त पर जो लोग थोड़ा-बहुत भी चलते हैं, उनसे दुनिया का अधिक नुकसान नहीं होता। 'नीति के तौर पर सचाई' से चलनेवालों से लोगों का नुकसान प्रायः नहीं होता। परन्तु जब 'नीति' और 'सचाई' में अन्तर पड़ता है ऐसे, लोगों के लिए सचाई को ताक पर रखकर नीति को पकड़ रखने का अन्देशा रहता है; परन्तु दूसरा अर्थ यानी स्वार्थ साधने में ही परार्थ है इस सिद्धान्त को मानकर चलने-वालों से दुनिया का बड़ा नुकसान होता है। १८वीं सदी के मध्य में अंग्रेज सामाजिक तत्ववेत्ता अपने वेदान्त का प्रतिपादन पहले अर्थ में करते थे तो उनके राजनीतिज्ञ उसका आचरण दूसरे अर्थ में करते थे। हमारे शिक्षित लोगों पर ब्रिटिश तत्वज्ञों ने मोहिनी डाल रक्खी थी और ब्रिटिश राज-काजी और व्यापारी हमारी जनता को लूट रहे थे। यह 'लूट' लोक-सेवा और लोकहित का जामा पहने हुए थी। व्यापारी अथवा आर्थिक साम्राज्य-शाही का ऐसा ही मायावी मोहक रूप होता है। उस माया के उस पार निगाह पहुंचाकर उसके रक्तशोषक आसुरी रूप को देखकर उसे लोगों और शासक वर्ग के सामने रखना, नित्य के अनेक व्यवहारों में व्यस्त जनता के चित्त को पुनः-पुनः उसी सत्य की ओर खींचते रहना, जन्म भर इसी एक सिद्धान्त का और उसके भीषण परिणामों का चिन्तन करना यही एक मार्ग उस समय उस वास्तविक ज्ञान को पाने का अथवा नये यंत्र के दर्शन का था। राष्ट्र-पितामह दादाभाई ने अपने सारे जीवन में यही एक कार्य किया और वे अपने जीवन के अन्तिम दिनों में भारतीय जनता को और कांग्रेस को स्वराज्य का मन्त्र देकर अस्सी वर्ष की अवस्था में राष्ट्रसेवा से निवृत्त हुए। पारतंत्र्य के मोहान्धकार में पड़े हुए और उसीमें आनंद माननेवाले अपने अज्ञानी देश-बन्धुओं के अन्तःकरण का ज्ञान-प्रदीप उन्होंने प्रज्वलित

किया इस ब्रिटिश मायावी साम्राज्य में अपने करोड़ों देशबन्धु दरिद्रता और फाकेकशी में मर रहे हैं और इस मोहान्धकार की कालरात्रि में हम इसी तरह खुर्राटे भरते रहेंगे तो अखीर में हम सबका विनाश निश्चित है, इसका ज्ञान भारतवासियों को सबसे पहले उन्होंने कराया। इतना ही नहीं, उन्होंने लोगों को यह भी बताया कि इस भावी आपत्ति को टालने के लिए हमें किन-किन दिशाओं में उद्योग भी करना चाहिए। उन्होंने उन मार्गों पर चलने-वालों का नेतृत्व किया और अन्त में भावी पीढ़ी को अपने कर्तव्य का दिग्दर्शन कराके वे मातृभूमि के ऋण से मुक्त हुए।

१८५२ में दादाभाई ने बम्बई में 'बॉम्बे एसोसियेशन' की स्थापना की, उधर १८५१ में बंगाल में भी श्री प्रसन्नकुमार टागोर, डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र आदि ब्रिटिश इण्डिया एसोसियेशन नामक राजनैतिक संस्था स्थापित कर रहे थे। ऐसी ही एक संस्था—मद्रास नेटिव एसोसियेशन मद्रास में उदय हुई थी। पूना में एक डेक्कन एसोसियेशन बनी। इस तरह १८५१-५२ में तीन बड़े इलाकों की राजधानियों में लोकसत्तात्मक राजनीति का जन्म हुआ। १८५३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को जो नई सनद देने का कानून बना उसीके द्वारा हिन्दुस्तान में सबसे पहले धारासभा की स्थापना हुई, जिसमें कुल बारह सरकारी अधिकारी सभासद थे। गैर-सरकारी या प्रति-निधि जैसे कोई न थे। मगर फिर भी इस सिलसिले में पार्लमेंट में भाषण देते हुए लॉर्ड डर्बी ने कहा था कि मनुष्यता, उपकारिता, नीतिमत्त और धर्म—सभी दृष्टियों से हमारा यह कर्तव्य है कि भारतीयों को आन्तरिक शासन की देखरेख में अधिकाधिक अधिकार दिया जाय। पार्लमेंट में यह नीति और धर्म की भाषा पहली बार सुनी गई।

परन्तु अनुभव दूसरा ही हो रहा था। १८३३ के कानून में यह आश्वा-सन दिया था कि बिना जात-पांत, देश, धर्म के भेदभाव के हिंदुस्तानियों को उच्च अधिकार दिये जायंगे; परन्तु १८५३ तक, बीस साल में, इस कानून का फायदा एक भी हिंदुस्तानी को न मिला। १८५१–५२ से १९०६ तक—पचपन साल तक—भारतीय राजनीति में काम करने के बाद दादा-भाई ने कहा था—"शुरू से लेकर अबतक मुझे इतनी बार निराश होना पड़ा है कि दूसरा कोई होता तो उसका दिल टूक-टूक हो गया होता और

मुझे भय है कि वह बागी बन गया होता।" फिर भी उन्हें ब्रिटिश न्याय पर विश्वास रहा था और साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य प्राप्त करना उनका ध्येय था। १९०६ में यही ध्येय उन्होंने कांग्रेस के सामने स्पष्ट शब्दों में रक्खा था और इसके लिए अखण्ड आन्दोलन करने और करते रहने का सदेश उन्होंने दिया था। हमें जो अपने राजनैतिक उद्देश्य में सफलता नहीं मिली उसका कारण वह यही बताते थे कि हम आन्दोलन नहीं करते। बंग-भंग आंदोलन को देखकर उन्हें सन्तोष हुआ और बंगालियों की वे स्तुति करते थे। भावी पीढ़ी को उन्होंने संदेश दिया था—"एक होओ। दृढ़ उद्योग से काम लो और स्वराज्य प्राप्त करो।"

आर्थिक साम्राज्यशाही क्या है और विजित राष्ट्र का रक्तशोषण किस प्रकार होता है इसकी ठीक कल्पना दादाभाई के लेख और भाषण पढ़ने से होती है। कार्ल मार्क्स ने पूंजीवाद की मीमांसा अथवा विश्लेषण किया और बताया कि उसकी रचना में ही किस तरह उसके विनाश के बीज हैं। उसी तरह पूंजीवाद से पैदा होनेवाली आर्थिक साम्राज्यशाही कितनी भयानक है और उसके रक्त-शोषण में ही उसके विनाश के बीज किस तरह छिपे हुए हैं यह दादाभाई ने संसार के सामने रक्खा। कार्ल मार्क्स का जन्म एक स्वतन्त्र पूंजीवादी राष्ट्र में हुआ था और इसलिए उसने एक ही राष्ट्र का एक वर्ग जन-साधारण का रक्त-शोषण किस तरह करता है इसका वैज्ञानिक अध्ययन किया। दादाभाई का जन्म साम्राज्यवादी के जबड़े में फंसे परतंत्र राज्य में हुआ था, इसलिए उन्होंने इस बात की वैज्ञानिक खोज की कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का रक्त-शोषण कैसे करता है और अपने लोगों को तथा ब्रिटिश शासकों को दिखाया कि इसी रक्त-शोषण में साम्राज्यवाद के विनाश के बीज हैं। मार्क्स ने बताया कि एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण को रोकने का उपाय है— साम्राज्यवाद। दादाभाई ने बताया कि एक राष्ट्र के द्वारा दूसरे राष्ट्र के शोषण को मिटाने का उपाय है—स्वराज्य। मार्क्स का जन्म जिस देश में हुआ था वह औद्योगिक प्रगति और राजनैतिक स्वातन्त्र्य की दृष्टि से आगे बढ़ा हुआ था और दादाभाई जहां जन्मे वह देश दोनों दृष्टियों से पिछड़ा हुआ था। इस कारण दादाभाई ने जिन प्रश्नों को हाथ में लिया उससे आगे की अवस्था में पैदा होनेवाले प्रश्न मार्क्स के विचार में आये—

यह उसकी परिस्थिति का परिणाम है। अस्तु।

१८५१ से ७१ तक, बीस वर्ष में, दादाभाई ने इस बात का ठीक अन्दाज कर लिया कि हिन्दुस्तान के धन का शोषण किस-किस तरह हो रहा है और उससे भारतीय जनता किस तरह दरिद्र होती जा रही है एवं उन्होंने अपना यह निश्चित मत बना लिया कि जबतक यह द्रव्य-शोषण बन्द न होगा तबतक उसका उद्धार किसी तरह नहीं हो सकता। उन्होंने यह सप्रमाण सिद्ध किया था कि प्रत्येक हिन्दुस्तानी की वार्षिक आमदनी बीस रुपये है और यह आमदनी उससे भी कम है, जो सरकार एक कैदी के लिए खर्च करती है। उनकी राय में इस द्रव्य-हरण के दो रूप हैं—एक राजनैतिक, दूसरा व्यापारिक अथवा औद्योगिक। यूरोपियन अधिकारी जो रुपया विलायत भेजते हैं, भिन्न-भिन्न जरूरतों के लिए यहां तथा विलायत में जो खर्च किया जाता है, इंग्लैंड में नियुक्त अधिकारियों को जो वेतन और पेंशन आदि दी जाती है और भारत सरकार विलायत में जो खर्च करती है यह एक स्वरूप हुआ। और दूसरा स्वरूप है गैर-सरकारी यूरोपियन जो यहां से धन कमाकर विलायत भेजते हैं वह। यहां से विलायत गया रुपया वे फिर पूंजी के रूप में वापस लाते हैं और उन्हें मानो यहां के व्यापार व उद्योग का ठेका ही मिल जाता है। हिन्दुस्तान में पूंजी जमा नहीं होती है। उसका मूल कारण दादाभाई की दृष्टि में यह विलायत की ओर बहनेवाली सम्पत्ति की नदी ही है। वह यह नहीं कहते थे कि ब्रिटिश पूंजीपति हिन्दुस्तान में पूंजी न लगावें, उनका इतना ही कहना था कि वे हिन्दुस्तान की लूट बन्द कर दें, उसे दुखी व असहाय न बनावें और उन्हें लूटकर एकत्र किये धन को अपनी पूंजी न बतावें। १८८० में केपिन कमीशन के सामने गवाही देते हुए उन्होने कहा था—"दूसरे देशों में लगनेवाली और हिन्दुस्तान में लगनेवाली ब्रिटिश पूंजी में भेद है। और देशों में ब्रिटिश पूंजीपति सिर्फ ब्याज ही लेते हैं; परन्तु यहां तो मुनाफा और डिविडण्ड भी लेते हैं। इसलिए जबतक यहां हिन्दुस्तान अपनी पूंजी के कारखाने न खोल सकें तबतक उन्हें सरकार चलावे और उनमें भारतीयों से काम लें, यूरोपियनों से नहीं। इसमें हिन्दुस्तान के शरीर में फिर से रक्त-संचार होने लगेगा। हिन्दुस्तान को ब्रिटिश पूंजी की जरूरत जरूर है; परन्तु सिर्फ पूंजी

ही चाहिए। अपनी पूंजी को लेकर जो वे इस देश पर हमला करते हैं और पूंजी के द्वारा जो धन पैदा होता है उसे भी खा जाते हैं यह हमें मंजूर नहीं है।...यह कहना एक गप्प है कि हिन्दुस्तान में धन और जीवन चिरस्थायी है। एक अर्थ में वे सुरक्षित तो हैं अर्थात् अनियंत्रित हिन्दुस्तानी राजाओं के अत्याचार से वे सुरक्षित हैं; परन्तु इंग्लैंड जो हिन्दुस्तान से वित्त-हरण कर रहा है उससे धन और इसलिए जीवन बिल्कुल सुरक्षित नहीं है। यहां यदि कोई सुरक्षित है तो इंग्लैंड। निश्चित और निःशंक है तो इंग्लैंड। तीन-चार करोड़ पौंड प्रति वर्ष वे हिन्दुस्तान का धन खाते या अपने देश में बहा ले जाते हैं। यहां तो ज्ञान और समझदारी भी सुरक्षित नहीं है। हिन्दुस्तान के लाखों लोगों का जीवन अधपेट रोटी, फाकेकशी, अकाल और बीमारी से मौत—यही है।"

"जो द्रव्यहरण इस सदी के प्रारम्भ में हर साल तीस लाख पौंड होता था वह आज तीन करोड़ पौंड हो गया है। मुहम्मद गजनी ने अठारह बार हिन्दुस्तान को लूटा। उसकी सारी लूट आपके एक साल की लूट से कम है। फिर उसने जो जख्म किया वह अठारह हमले के बाद बन्द तो हो गया, परन्तु आपके किये जख़्म से तो खून की धारा बन्द होने की गुंजाइश ही नहीं।...आपका यह वैभवशाली साम्राज्य हिन्दुस्तानियों के धन और खून पर खड़ा है। हिन्दुस्तान अब आपके द्रव्यहरण से बिल्कुल थक चुका है, फिर भी रक्त-स्राव बन्द नहीं होता। इससे वह मौत की तरफ चला जा रहा हो तो आश्चर्य नहीं।"[१]

अन्त को दुखी और निराश होकर उन्हें यहांतक कह देना पड़ा कि या तो इस रक्त-शोषण से हिन्दुस्तान बरबाद हो जायगा या फिर वह जाग उठा तो उस चूसनेवाली शक्ति को ही ले बैठेगा।

इस तरह हिन्दुस्तान के सामने सबसे महत्व का प्रश्न जनता की दरिद्रता और भुखमरी का था और उसका एक ही उपाय था स्वराज्य। इसका उच्चार और प्रचार सबसे पहले दादाभाई ने ही किया। इसी प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश—यह सब भारतीय जनता के

[१] Dada Bhai's speeches and writings P. 203–4 and 236–38.

रक्त-शोषण और उसके भयंकर दारिद्रय में है उसका भी वैज्ञानिक प्रतिपादन पहले उन्होंने किया। इस सबका यह स्वाभाविक परिणाम होना था कि सब कार्यकर्ताओं की सारी शक्ति राजनीति में ही लगे। उन्हींके इन विचारों के कारण हिन्दुस्तान मे उग्र राजनीति की बुनियाद पड़ी। १८८० के बाद पूना में चिपलूणकर आगरकर और तिलक ने जो उग्र विचारों का नया राष्ट्रीय पक्ष खड़ा किया उसके आधारभूत राजनीति और अर्थनीति के सिद्धान्त दादाभाई के पूर्वोक्त विचारो में मिलते हैं। फर्क इतना ही है कि दादाभाई का विश्वास ब्रिटिश न्याय पर कायम रहा और अगली पीढ़ी का उड़ गया तथा वे अपने कर्त्तव्य पर विश्वास करने लगे।

१८८० से १८९५ तक का समय महाराष्ट्र में बड़े विचार-मंथन का समय था। इसी बीच वहां रानडे-दल और तिलक-दल बने और आगरकर की सरस्वती इस त्रिवेणी संगम में कहीं गुप्त हो गई।

दादाभाई और रानडे के विचारों में एक बड़ा भेद था। दादाभाई हिंदुस्तान की आर्थिक लूट और उसके राजनैतिक कारण पर ही सारा भार देते थे और औद्योगिक सुधार को गौण मानते थे। हिंदुस्तान के भीषण दारिद्रय से पैदा होनेवाली क्रांति की पूर्व सूचना देकर शासकों को तथा जनता को जागृत करने की उनकी सतत प्रवृत्ति भी रानडे वृत्ति से भिन्न थी। रानडे की दृष्टि से दादाभाई 'गरम' थे। रानडे का मत था कि विदेशी पूंजी का भारतवर्ष में आना लाभदायी है। उनका कहना था कि यदि हमें औद्योगिक उन्नति करना है और यदि उसके लिए आवश्यक पूंजी हमारे पास नहीं है और यदि वह हमें अग्रेज देते है तो अच्छी ही बात है। दूसरे देश यदि इंग्लैंड से पूंजी लेकर मालामाल होते हैं तो हम क्यों न लें? दूसरे पक्ष का कहना था कि अग्रेज यहां से धन लूट-लूटकर ले जाते हैं—इससे यहां पूंजी जमा नहीं होने पाती। फिर यहां खाली अंग्रेजी पूंजी ही नहीं आती, अग्रेज पूंजीपति भी आते हैं और निर्धन पाकर हमें औद्योगिक गुलाम बनाते हैं। इसके सिवा वे यह पूंजी भी तो हिन्दुस्तान से ही लूट ले जाते हैं। यह ब्रिटिश पूंजी क्या है? हमारे असहाय देश पर होनेवाली एक औद्योगिक चढ़ाई ही है। तिलक-आगरकर की पीढ़ी यह मानती थी कि हमारे और अंग्रेजों के स्वार्थ एक दूसरे से भिन्न और विरोधी हैं। इस बात

की ओर से आंखें मूंद लें तो यहां राजनैतिक काम नहीं हो सकता। इसी तरह हमारी अर्थ-नीति भी उनके और हमारे इस विरोध या द्वैत को बिना माने नहीं चल सकती।

लेकिन रानडे के कार्य का महत्व एक दूसरी दृष्टि से है और उसमें उनकी चतुरस्र राजनीतिज्ञता विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। १८७१ से वह पूना आये। तबसे १८८० तक सरकारी पद पर रहकर उन्होंने सार्वजनिक सभा के कार्य को राजनैतिक आन्दोलन का रूप दिया। उससे महाराष्ट्र में एक नवीन चेतना आई और वैध राजनीति की बुनियाद पड़ी। इसके विषय में लो० तिलक ने कहा था कि उस समय पूना की शिथिलता दूर करके उसमें नवजीवन लाने का, दिन-रात विचार करने और अनेक उपायों से पुनः संजीव करने का विकट काम सबसे पहले रानडे ने ही किया। उनके कारण पूना बम्बई प्रान्त की 'बौद्धिक और राजनैतिक राजधानी' बन गया था। १८८५ में जब कांग्रेस की स्थापना करना तय हुआ तब उसका पहला अधिवेशन पूना में करना निश्चित हुआ। उस समय पूना को जो महत्व मिला उसका श्रेय रानडे को ही है। फिर १८९५ में पूना में गरम राजनैतिक दल बना। तबसे पूना को राजनीति में जो अखिल भारतीय महत्व प्राप्त हुआ वह लो० तिलक के अवसान (१९२०) तक कायम रहा। नरम दल या प्रागतिक पक्ष रानडे को 'आधुनिक भारत का जनक' कहता है और राष्ट्रीय पक्ष अपने सम्प्रदाय का जन्मदाता लो० तिलक को मानता है।

रानडे के पूना के नेतृत्व के दो भाग हो जाते हैं—एक १८७१ से १८८० तक और दूसरा १८८० से १८८३ तक। पहले भाग में उनके दाहिने हाथ थे—स्व० गणेश वासुदेव जोशी उर्फ 'सार्वजनिक काका'। १८७० में इन्होंने सार्वजनिक सभा की स्थापना की और उसके मन्त्री रहे। शीघ्र ही रानडे के प्रयत्न से इस संस्था को राष्ट्रीय राजनैतिक स्वरूप प्राप्त हुआ। 'सार्वजनिक काका' खुद अपने काते सूत की खादी पहनते थे। यह व्रत उन्होंने आमरण कायम रखा। औद्योगिक उन्नति के कार्यक्रम में वह रानडे के दाहिने हाथ थे। पश्चिमी ढंग की औद्यगिक क्रान्ति करने के उद्देश्य से संरक्षक-कर के सिद्धान्त का प्रतिपादन रानडे ने शुरू किया था; परन्तु जर्मन महायुद्ध

जैसा भीषण युद्ध भुगताने के बाद अंग्रेजों ने साम्राज्य के माल के लिए रिआयत करके बाहर के माल पर कर लगाने की थोड़ी सुविधा हिन्दुस्तान को दी। इसमें भी भारतीय कारखानों को संरक्षण मिलने की अपेक्षा सरकारी तिजोरी की कमी की पूर्ति करने की नीति प्रधान थी। इसलिए उसका यथेष्ठ लाभ भारत को न मिला। इस कारण रानडे की अर्थनीति की अपेक्षा 'सार्वजनिक काका' के स्वार्थ-त्यागी उत्साह से जो स्वदेशी-आन्दोलन पैदा हुआ उसीके द्वारा स्वदेशी कारखानों को वास्तविक प्रोत्साहन मिला और सच्चा देश-प्रेम जाग्रत व संगठित हुआ।

रानडे ने जिस अर्थशास्त्र की बुनियाद डाली वह फ्रेड्रिक लिस्ट, कैरे प्रभृति जर्मन व अमरीकन अर्थशास्त्रियों के विचारों के आधार पर डाली थी। एडम स्मिथ, रेकार्डो प्रभृति इंग्लिश अर्थशास्त्रज्ञों ने व्यक्तिवादी खुले मैदान का अर्थशास्त्र यूरोप में रूढ़ किया था। उसमें स्थूल रूप से यह प्रतिपादन किया जाता था कि जो व्यक्ति का हित है वही राष्ट्र का हित है और राष्ट्र का हित ही जगत् का हित है। ये अर्थशास्त्रज्ञ उपदेश करते— "वैयक्तिक स्पर्धा, वैयक्तिक स्वार्थ और अन्तर्राष्ट्रीय खुले व्यापार की बदौलत जो व्यक्ति, जो राष्ट्र और जो वर्ग आगे आवेंगे वही अपना और संसार का भौतिक हित साध सकेंगे और इस प्राकृतिक चुनाव का विरोध करके व्यक्ति-विशेष, वर्ग-विशेष और राष्ट्र-विशेष को कानून के कृत्रिम बन्धनों से बांधकर और बाड़ लगाकर संरक्षण देना मानो नालायकों को सहायता देना है, जिससे कि संसार का धनोत्पादन नालायक लोगों के हाथ में जाकर समष्टि रूप से जगत् का अहित ही होगा। इस तरह खुले मैदान के और अनियन्त्रित व्यक्ति-स्पर्द्धा के तत्व का सर्वत्र प्रचार हो जाय तो उससे यह स्पष्ट ही है कि दुनिया के पिछड़े हुए राष्ट्र, दुर्बल व्यक्ति और निर्धन वर्ग का नाश होगा और उन्हें आगे बढ़े हुए राष्ट्र, प्रबल व्यक्ति, सधन वर्ग की आर्थिक और राजनैतिक गुलामी में पड़े रहना पड़ेगा।" परन्तु यह स्पष्ट सत्य नैपोलियन को पराजित करनेवाले और इस कारण 'निर्वीरमुर्वीतलम्' करने का अभिमान रखनेवाले ब्रिटिश पूंजीवाद को उन्नीसवीं सदी के अन्त तक पटा नहीं। स्वार्थ-अविरोधी बल्कि स्वार्थ-पोषक सिद्धान्त कायम करके उसका अभिमान-पूर्वक प्रचार करने में इस युग में ब्रिटिश पूंजीवाद ने अपूर्व

सफलता प्राप्त की है। परन्तु १९वीं सदी के मध्य से जर्मनी और अमरीका इन औद्योगिक प्रगति में पिछड़े हुए राष्ट्रों में राष्ट्रीय अथवा राष्ट्रवादी अर्थशास्त्र का उदय हुआ। उसने संरक्षक जकात के सिद्धान्त का प्रतिपादन जोरों से किया। इस अर्थशास्त्र का रहस्य स्वर्गीय रानडे ने बहुत खूबी से बतलाया है—"बुद्धि और साधन जहां समान हों वहां ऐसी स्वतन्त्रता देने में हर्ज नहीं, परन्तु जहां ऐसी स्थिति नहीं है वहां ऐसी भाषा बोलना जले पर नमक छिड़कने जैसा है। मुट्ठीभर प्रबल और बहुसंख्यक गर्जमन्दों में उत्पत्ति का विभाजन करते समय भी इसी सिद्धान्त का अर्थात् न्याय और सम-बुद्धि का अवलंबन करना चाहिए और जीवन के तमाम व्यवहारों में पुराने अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को निर्दोष न मानकर उनपर पुनर्विचार करना आवश्यक है।" पूंजीपतियों के मुकाबले में सरकार को निर्धन मजदूरों का पक्ष लेकर उन्हें क्यों सहायता करनी चाहिए, यह इससे अच्छी तरह समझ में आ सकता है।

परन्तु अब तो इससे भी आगे जाने का समय आ गया है; क्योंकि आज अर्थशास्त्रीय जगत् में नियोजित आर्थिक संगठन, समाजवाद और स्वयंपूर्ण प्रदेश—इस प्रकार के नवीन विचार संचार कर रहे हैं और उन सबका मन्थन करके नवीन राष्ट्रीय अर्थशास्त्र का पाया डालने की जरूरत है। अब जबकि गांधीवाद और समाजवाद का उदय हो गया है और औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न समान व न्यायोचित विभाजन के प्रश्न देश के सामने आ रहे हैं रानडे का अर्थशास्त्र इनका हल ढूंढ़ने में असमर्थ साबित होता है।

"हिन्दुस्तान पर अंग्रेजों का महज राजनैतिक प्रभुत्व ही नहीं है, बल्कि औद्योगिक प्रभुत्व भी स्थापित हो गया है और यह प्रच्छन्न औद्योगिक प्रभुत्व देश के लिए बहुत ही हानिकारक है। इसके कारण राष्ट्रीय जीवन की सब शक्तियां नष्ट हो जाती हैं और वह देश अपंग हो जाता है।" यह सिद्धान्त रानडे ने सबसे पहले लोगों के सामने रक्खा और यह आज भी सही है। फिर भी राष्ट्र-पितामह दादाभाई द्वारा प्रतिपादित यह सत्य हमारे सामने सदैव बना रहना चाहिए कि एक देश का दूसरे देश पर जो औद्योगिक प्रभुत्व हो जाता है उसका मूल कारण राजनैतिक प्रभुत्व है। इसका अर्थ यह कि आज के व्यापारियों और औद्योगिक युग में राजनैतिक साम्राज्यशाही का

परिणाम औद्योगिक प्रभुत्व में होता है और इसलिए यह साम्राज्यशाही पहले की सामन्तशाही से परिणाम में अधिक भयावह है। इस कारण जो देश पहले के अनेक सामन्तशाही साम्राज्य से बच रहा वही इस औद्योगिक साम्राज्य के ५०-७५ साल में ही मौत की तरफ जाने लगा! जो देश खेती और उद्योग-धन्धों दोनों में प्रसिद्ध था, वही महज कृषि-प्रधान रह गया और जिस देश का पक्का माल यूरोप में खपता था उसपर अपने कच्चे माल को परदेश से पक्का बनवाकर लाने की नौबत आ गई! ब्रिटिश राजनीति का और राजनैतिक लूट का यह अपरिहार्य परिणाम था और इसलिए ऐसे देश में स्वाभावतः ही राजनीति को प्रधानता मिलने लगी। १८८० में ही दादाभाई ने लिखा था—"लोग अब राजनीति में अधिकाधिक डूबने लगे हैं।"

हिन्दुस्तान में वैध राजनीति की बुनियाद डालने का श्रेय रानडे को है। देश में कानून की प्रस्थापना करना शासकों का धर्म है और उसका चुपचाप पालन करना प्रजाजनों का धर्म है, यह उनकी राजनीति का प्रमुख सूत्र है। ब्रिटिश शासन भारतीयों के साथ समानता का व्यवहार करें और भारतीय ब्रिटिश- साम्राज्य के प्रति वफादार रहें यह उनका मत था; क्योंकि वे मानते थे कि कानून और शान्ति का राज्य स्थापित करने के लिए ही ईश्वर ने अंग्रेजों को यहां भेजा है। मनुष्य-नीति के सब व्यवहारों में न्याय की स्थापना करना और वंश-भेद या श्रद्धा-भेद (धर्म-भेद) न रखते हुए सबको समान दर्जा देना—इसे वे प्रागतिक तत्व (Spirit of Liberalism) कहते थे। अंग्रेज अधिकारियों ने १८३३ में ईस्ट इंडिया कम्पनी को सनद देते हुए जो कानून बनाया उसमें इस तत्व को माना है। और बाद में १८५८ में रानी की घोषणा में भी इसका समर्थन किया गया है, इसलिए रानडे इत्यादि इसे भारतीय प्रजा का 'मेग्नाचार्टा' मानते थे। इस सनद के अनुसार अंग्रेजों की तरह यहां भी प्रातिनिधिक शासन-प्रणाली जारी हो और ब्रिटिश छत्र-छाया में हिन्दुस्तान को माण्डलिक (औपनिवेशिक) स्वराज्य मिले यह रानडे का अन्तिम राजनैतिक ध्येय था। मगर १८८० से ही पूना में चिपलूणकर, आगरकर, तिलक आदि का तरुण राष्ट्रीय पक्ष बन रहा था और उन्हें मांडलिक स्वराज्य का ध्येय उत्साह-वर्धक नहीं मालूम होता था। १८८२

में चिपलूणकर पर लिखे मृत्युलेख में आगरकर लिखते हैं—"कभी-कभी उनका कल्पना-विहग जब आकाश में ऊंची उड़ानें भरने लगता तब उन्हें हिन्दुस्तान स्वतंत्र और प्रजासत्तात्मक शासन-प्रणाली में सुख से झूमता हुआ दिखाई देता।"

रानडे प्रागतिक तो थे ही पर वैध-मार्गी भी थे। उनके वैध मार्ग का अर्थ था—बहुत दूर के ध्येय की तरफ ध्यन न देते हुए एकदम आगे देखकर चलना और इसमें समझाने-बुझाने तथा देन-लेन की समझदारी से काम लेना। वह क्रान्तिकारी विचारों को नापसन्द करते थे और उन्हें बिल्कुल अवसर न दिया जाय ऐसी उनकी प्रवृत्ति थी। सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक किसी भी क्षेत्र में क्रांति का विचार उन्हें सहन न होता था। उनके पट्टशिष्य गोखले और गोखले के शिष्य माननीय शास्त्री ने भी अपने भाषणों में कानून के राज्य को धक्का न लगने पावे ऐसी ध्वनि प्रकाशित की है। और यही कारण है जो न्याय-स्थापना अथवा सत्यनिष्ठा के लिए कानून भंग करने का सिद्धान्त रखनेवाले महात्मा गांधी भारत-सेवक-समाज के सदस्य न बन सके।

मगर दादाभाई अथवा ह्यूम, इनका खयाल रानडे से भिन्न था। ये भी राज्य-क्रान्ति नहीं चाहते थे, मगर उन्हें यह भय था कि ब्रिटिश राजनीति के कारण हिन्दुस्तान में जो भयंकर दरिद्रता फैल रही है उससे यहां राज्य-क्रान्ति अवश्य हो जायगी। इसे मद्दे नज़र रखकर ये लोग जो कुछ कहते थे और प्रचार करते थे वह शासकों को गरम और राजद्रोही मालूम होता था। उनके इसी रुख में से पहले महाराष्ट्र में और फिर सारे हिन्दुस्तान में गरम राजनीति का जन्म हुआ। इसके चिह्न दिखाई देते ही रानडे ने 'सार्वजनिक सभा' से भिन्न 'डेकन सभा' कायम की। कुछ समय तक कांग्रेस के सब सूत्र इन्हींके पक्ष के हाथ में रहे। बाद में वह लोकमान्य के गरम दल के हाथ में चली गई तब रानडे पक्ष ने 'प्रागतिक पक्ष' नामक संस्था खड़ी की।

एक ओर रानडे अपने वैध-मार्ग से लोगों के अन्दर अखिल भारतीय संयुक्त राज्य, उत्तरदायित्व के अधिकार, ब्रिटिश राष्ट्र के बराबर का दर्जा और भारतीय पार्लमेंट, इत्यादि भावनाओं के बीज बोते रहे और दूसरी ओर, १८७६ में, वासुदेव बलवंत फड़के ने नगर नासिक, खान-देश के

रामोशी और भीलों की सहायता से लोक-सत्ता की स्थापना करने का एक क्रान्तिकारी प्रयत्न किया।

: ५ :

कांग्रेस का जन्म और प्रचार

["जबकि लार्ड लिटन ने शाही दरबार में बैठे हुए यह घोषणा की थी कि इंग्लैंड की रानी अब भारत की सम्राज्ञी के पद पर प्रतिष्ठित हुई है, उसके बीस वर्ष के अन्दर ही उसी स्थान और उन्हीं दिनों में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म हुआ।"—**लाला लाजपतराय**]

एक ओर महाराष्ट्र में १८७५ से १८८२ तक चिपलूणकर, आगरकर और तिलक ने नवीन युग प्रवर्तित किया तो दूसरी ओर बंगाल में सुरेन्द्र-नाथ बनर्जी ने और रामकृष्ण मिशन ने, पंजाब में आर्य समाज ने और मद्रास में थियोसोफी ने राष्ट्रीयता का एक नया युग स्थापित किया। इस समय यद्यपि नरम दल का प्राधान्य था तथापि गरम दल धीरे-धीरे उदय हो रहा था और फड़के-जैसे सशस्त्र-क्रान्ति चाहनेवाले लोग भी थे। जनता की दरिद्रता और फाकेकशी को देखकर उनके हृदय को बड़ी पीड़ा होती थी और उससे उसका एवं राष्ट्र का उद्धार करने के लिए बगावत के सिवा उनको कोई दूसरा रास्ता नहीं सुझाई देता था। अंग्रेज राजनीतिज्ञों को यह भी डर होने लगा कि हिन्दुस्तान में जबर्दस्त राज्य-क्रान्ति हो जायगी, यदि समय पर उसकी रोक न की गई। इसे बचाने के लिए हिन्दुस्तानी देश-भक्त और कुछ अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने बम्बई में २७ दिसम्बर, १८८५ ईसवी को कांग्रेस की स्थापना की, जिसमें एक ओर ह्यूम, बेडरबर्न और दूसरी ओर दादाभाई, रानडे, बनर्जी, बोस और तैलंग मुख्य थे। सहयोग और साम्राज्य-निष्ठा की नींव पर वैध आन्दोलन के आधार पर कांग्रेस कायम हुई।

कांग्रेस की स्थापना के पहले एक-दो अखिल भारतीय आन्दोलन हो

चुके थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के 'इंडियन एसोसियेशन' ने सिविल सर्विस-परीक्षा के बारेमें आन्दोलन उठाया था। वे उम्मीदवारों की उम्र इक्कीस के बजाय उन्नीस वर्ष चाहते थे। इसके बाद ही सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को १८८३ में अदालत की तौहीन के अपराध में दो महीने की सादी कैद की सजा हुई। इधर महाराष्ट्र में इन्हीं दिनों तिलक-आगरकर को बर्वे प्रकरण में तीन-तीन महीने की सादी सजा मिली। इससे बंगाल और महाराष्ट्र में इन लोगों का प्रभाव काफी बढ़ गया। बनर्जी ने एक और आंदोलन भी उठाया, जिसका सम्बन्ध था फौजदारी मामलों में वर्ण-भेद नष्ट करने के लिए पेश हुए इलबर्ट बिल से। सुरेन्द्रनाथ ने इस बिल का समर्थन किया। इन आन्दोलनों के सम्बन्ध में अंग्रेजों ने जो रुख अख्तियार किया उसने दिखा दिया कि अंग्रेज लोगों और हिन्दुस्तानियों के दिलों में मेल बैठना मुश्किल है।

बम्बई कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में सारे देश के बहत्तर प्रतिनिधि आये थे। उमेशचन्द्र बनर्जी उसके अध्यक्ष थे। वह ईसाई थे। उन्होंने अपने भाषण में यह स्पष्ट कर दिया था कि हिन्दुस्तान में लोकसत्ता राज्य-पद्धति कायम करने के मानी ब्रिटिश साम्राज्य का द्रोह हर्गिज नहीं है। इस अधिवेशन का काम तीन दिन चला और नौ प्रस्ताव पास हुए।

पहला प्रस्ताव इस आशय का था कि शासन-व्यवस्था की जांच के लिए एक रॉयल कमीशन मुकर्रर किया जाय। एक प्रस्ताव धारा-सभाओं में बड़ी तादाद में लोकनियुक्त प्रतिनिधि लिये जायं, बजट धारा-सभाओं में पेश किये जायं, आदि का था। एक प्रस्ताव के द्वारा इंडिया कौंसिल रद्द करने की मांग की गई थी। एक प्रकार से ये प्रस्ताव अनियन्त्रित पद्धति को मिटाकर लोक-प्रतिनिधियों का प्रवेश शासन-कार्य में हो, इस दृष्टि से किये गए थे। इन मांगों का पूरा होना तो दूर, धारा-सभा में लोक-नियुक्त प्रतिनिधियों के प्रवेश १९०९ के लिए तक राह देखनी पड़ी, लेकिन तबतक भारतीय नेताओं का वैध-मार्ग से विश्वास हट चुका था और देश में निःशस्त्र क्रान्तिवादी और सशस्त्र क्रान्तिवादी ये दो नये दल हो गये थे। इसके बाद यहां की नौकरशाही में हिन्दुस्तानियों का अधिक प्रवेश हो, सिविल सर्विस परीक्षा हिन्दुस्तान में हो, सैनिक खर्च न बढ़ावा जाय, भारत सरकार के कर्ज की जिम्मेदारी साम्राज्य-सरकार ले, इत्यादि प्रस्ताव पास

हुए हैं। फिर भी कांग्रेस के आठ साल मुख्यतः पूर्वोक्त सुधार कराने के प्रयत्न में गये। १८९३ में लॉर्ड क्रॉस का इण्डियन कौंसिल बिल कानून बनकर सामने आया, जिससे भारतीय नेताओं को विश्वास हो गया कि अब दस-बारह साल तक किसी सुधार की आशा नहीं। इस कानून में लोक-नियुक्त प्रतिनिधि चुनने का अधिकार नहीं दिया गया था। इन सुधारों के थोड़े ही दिनों के बाद गरम-नरम दो दल बन गये, हिन्दू-मुसलमानों के दंगे शुरू हुए और कांग्रेस ने शासन-सुधार का आन्दोलन बन्द कर दिया। वह लोकमत प्रदर्शित करनेवाला वार्षिक सम्मेलन मात्र रह गई। गरम दल के लोग नौकरशाही के रोग के शिकार बनकर राजद्रोह के अपराध में जेल की हवा खाने चले गये। यह गरम-नरम राजनैतिक मतभेद, हिन्दू-मुसलमानों के दंगे और गरम दलवालों के कारावास की घटनाएं बम्बई-पूना में हुई, इसलिए इनकी तरफ सारे राष्ट्र का ध्यान अपने-आप चला गया।

कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन कलकत्ते में दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता में, तीसरा मद्रास में बदरुद्दीन तैयबजी की अध्यक्षता में हुआ। पहले अध्यक्ष ईसाई, दूसरे पारसी और तीसरे मुसलमान—यह देखकर नौकरशाही के मन में कांग्रेस का द्वेष और डर पैदा होने लगा। मद्रास-अधिवेशन के बाद कांग्रेस की बढ़ती हुई लोक-प्रियता को देखकर ह्यूमसाहब ने तय किया कि उसे इंग्लैंड की 'एटी कॉर्न लॉ लीग' की तरह लोगों में आन्दोलन करनेवाली संस्था का रूप दिया जाय। उन्होंने अपने भाषणों में 'भारत माता' की पवित्र भूमि में रहनेवाले प्रत्येक भारतीय से सहकारी, भाई और आवश्यकता पड़ने पर सैनिक, बनने की आशा प्रकट की। कांग्रेस के द्वारा आंदोलन और लोक-जागृति करने की इस नीति से सरकार में और उसमें विरोध पैदा होने लगा। १८८६ में तो कलकत्ता में दूसरे अधिवेशन के बाद खुद लॉर्ड डफरिन ने कांग्रेस के प्रतिनिधियों को एक 'वनभोज' दिया था और मद्रास-अधिवेशन में तो वहां के गवर्नर गये भी थे; परन्तु चौथे अधिवेशन के समय इलाहाबाद में मंडप के लिए जगह भी न मिल सके, ऐसी कार्रवाई सरकारी अधिकारियों ने शुरू कर दी। अधिवेशन में आनेवाले प्रतिनिधियों पर रुकावटें लगाने और कार्यकर्ताओं से जमानतें लेने की कार्रवाई शुरू की गई। पंजाब में पांच-छः हजार लोगों से जमानत-मुचलके

मांगे गये। इस विरोध से कांग्रेस की लोकप्रियता बढ़ने लगी। इस अधिवेशन में १२४८ प्रतिनिधि आये थे और कलकत्ते के यूरोपियन व्यापारी मि० यूल अध्यक्ष के स्थान पर थे। अपने भाषण में उन्होंने प्रातिनिधिक राज्य-पद्धति का समर्थन किया और लॉर्ड पामर्स्टन की प्रातिनिधिक योजना अमल में न आये तबतक इंग्लैंड को चाहिए कि वह अपनेको हिन्दुस्तान का ट्रस्टा समझकर राजपाट चलावें, ऐसा विचार उन्होंने प्रकट किया।

इस अधिवेशन के बाद कांग्रेस के प्रधानमन्त्री ह्यूम और युक्तप्रान्त के गवर्नर सर ऑकलैंड कोलविन में पत्र-व्यवहार भी हुआ। सर ऑकलैंड ने बताया कि सरकारी और अधिकारी वर्ग के विरुद्ध जो आप कठोर शब्दों का प्रयोग करते हैं और विरोधी प्रचार करते हैं उससे द्वेष फैलने और विरोधी पक्ष खड़े हो जाने की सम्भावना है। इससे बेहतर है कि आज राजनैतिक सुधार की अपेक्षा सामाजिक सुधार की तरफ ही कांग्रेस को ले जायं। इसके जवाब में ह्यूमसाहब ने लिखा कि हम तो अंग्रेज सरकार के प्रति द्वेष नहीं प्रेम ही फैलाते हैं। हां, अत्याचारों का निषेध अवश्य ही करते हैं। विरोध प्रचार तो यहां के मुट्ठीभर अधगोरे कर रहे हैं। देहात के लोगों में शासन-व्यवस्था के प्रति बहुत असन्तोष है। दुःख और अन्याय उनके लिए अब असह्य हो गया है और उसे मिटाये बिना भावी संकट अब नहीं टल सकता।

शासकों के इस रोष की परवाह न करते हुए ह्यूमसाहब ने अपना काम जोरों से जारी रक्खा। इधर दादाभाई ने इंग्लैंड में पार्लमिंट के सदस्यों की सहानुभूति प्राप्त की और वहां धारा-सभा के सुधार के लिए एक बिल पार्लमिंट में लाने का उद्योग किया। जॉन ब्राइट, फॉसेट और चार्ल्स ब्रेडलॉ पार्लमिंट के ये सदस्य कांग्रेस के साथ बड़ी सहानुभूति रखने लगे। ब्रेडलॉ १८८९ के बम्बईवाले अधिवेशन में आये भी थे और उन्होंने एक भाषण भी दिया था। इस वर्ष मि० वेडरबर्न अध्यक्ष थे। इसके बाद का अधिवेशन कलकत्ते में हुआ, जिसका अध्यक्ष-पद फीरोजशाह मेहता ने स्वीकार किया था। इस समय यह हुक्म निकाला गया कि कांग्रेस में सरकारी अधिकारी दर्शक के तौर पर भी न जायं। एक डेपुटेशन इंग्लैण्ड भेजने का प्रस्ताव पास हुआ और १८९३ वाला अधिवेशन इंग्लैण्ड में ही किया जाय ऐसा प्रस्ताव हुआ। इसपर से मि० ह्यूम को यह सूझा कि फिलहाल

कुछ साल तक हिन्दुस्तान में कांग्रेस का अधिवेशन ही रोक दिया जाय, और इंग्लैंड में शुरू कर दिया जाय। इस आशय का एक परिपत्र भी उन्होंने निकाला। इसपर कांग्रेस के नेताओं में बड़ी चर्चा हुई। नरमदल-वालों को वह राजद्रोह की तरफ जाता हुआ दिखाई दिया। नागपुर में आखिर इसका निर्णय करने के लिए भारत के बहुत-से प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेताओं का एक मंडल नियुक्त किया गया, जिसने अन्त में यह फैसला दिया कि कांग्रेस के अधिवेशन जारी रहें। परन्तु उसे मि० ह्यूम जो आन्दोलन-कारी रूप देना चाहते थे, वह न हुआ और केवल वार्षिक सम्मेलन होते रहे।

इससे पूना के युवक-दल के नेता तिलक और आगरकर को बहुत बुरा लगा और उन्होंने उस परिपत्र का आशय अखबारों में छापकर अपने पर राजद्रोह का मुकदमा चलाने की चुनौती सरकार को दी। अन्त में निराश होकर ह्यूमसाहब विलायत चले गये। उनका किसीने साथ न दिया। पूना के सिर्फ दो युवक देशभक्तों ने उनका समर्थन किया—तिलक और आगरकर ने। इनमें से आगरकर तो जल्दी ही स्वर्गवासी हो गये और लोक-मान्य तिलक पर कांग्रेस को आन्दोलनकारी संस्था बनाने का भार आ पड़ा। ह्यूम और दादाभाई के समय आरम्भ के १०-१२ वर्षों में जो उत्साह कांग्रेस में रहा, वह बाद के मेहता और वाचा-युग के १०-१२ वर्षों में नहीं रहा और युवक-वर्ग पर यह असर पड़ता रहा कि कांग्रेस सरकारी रोष के सामने दब गई।

आरम्भ के दस अधिवेशनों में कांग्रेस पर दो संकट आये। एक सरकार के रोष का और दूसरा हिन्दू-मुसलमानों के दंगों का, और उसके पल्ले पड़ा सिर्फ १८९३ का खोखला सुधार-कानून। फिर उस समय की हालत को देखते हुए यही कहना होगा कि कांग्रेस की यह प्रगति सन्तोषजनक थी। यहां से अब अर्थात् १८९५ के बाद महाराष्ट्र में लोकमान्य तिलक का स्वतन्त्र राष्ट्रीय दल कायम हुआ। बाद में वह सब जगह फैला। इसके आगे का राजनैतिक घटना-क्रम देने के पहले १८७५ से १८९५ तक बीस साल में सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में कौन-कौन

से नये विचार-प्रवाह भारतीय वातावरण में संचार कर रहे थे, इसका विचार कर लें।

: ६ :

भारतीय संस्कृति का तत्वमंथन

["हमारा मनुष्यत्व मुक्त होना चाहिए, हमारी आशाएं ऊंची उछलनी चाहिए, कर्तव्य-पालन में कभी गलती न करनेवाली श्रद्धा जागृत होनी चाहिए, सबसे समदृष्टि से व्यवहार करनेवाली न्यायबुद्धि प्रज्वलित होनी चाहिए, बुद्धि पर आये हुए सब बादल बिखर जाने चाहिए और सब प्रकार के बाधों से मुक्त होकर हमारे प्रेम की गंगा बहने लगनी चाहिए—तभी हिन्दुस्तान को नवजीवन प्राप्त होगा और संसार के अन्य राष्ट्रों में अपना योग्य स्थान प्राप्त करके यह देश अपनी परिस्थिति पर और भविष्य पर अपना प्रभुत्व जमा सकेगा।...उस समय अकाल और रोग, जुल्म और दुःख ये बातें सिर्फ दन्त-कथा रह जायंगी और जिन पुराणों को हम आज केवल दन्त-कथा कहते हैं उसी पुराण-काल के अनुसार पुनः भगवान इस भूमि पर अवतार लेंगे और वे मानव-समाज में संचार करने लगेंगे।"

—न्या० रानडे]

["ज्यों-ज्यों बुद्धि का विकास होता जाता है और कार्य-कारण का सम्बन्ध अच्छी तरह समझ में आने लगता है, त्यों-त्यों प्राथमिक और पौराणिक कल्पना मिथ्या प्रतीत होने लगती है और भूत, पिशाच, देव-दानव आदि महज कल्पना से उत्पन्न की हुई शक्तियों की असत्यता की प्रतीति होती है, पूजा व प्रार्थना का ज़ोर कम होता है और कुछ समय सारे ब्रह्मांड को उत्पन्न करके उसका परिपालन व नाश करनेवाले एक परमात्मा की कल्पना उदय होती है; लेकिन, आगे चलकर वेदान्त-विचार के कुंड में प्रज्वलित हुई अग्नि में द्वैत भी भस्म हो जाता है, और 'अहं ब्रह्मास्मि' यही अनिर्वचनीय विचार पीछे रह जाता है! व्यक्ति के और राष्ट्र के धर्म-

विचारों की यह पराकाष्ठा है।" —**गो. ग. आगरकर**]

"इस वजह से कर्म, बुद्धि (ज्ञान) और प्रेम (भक्ति) इन तीनों का विरोध नष्ट होकर सारे जीवन को यज्ञमय करने का प्रतिपादन करनेवाला गीता-धर्म सारे वैदिक धर्मों का सार है। यह नित्यधर्म पहचानकर सिर्फ कर्तव्य समझकर प्राणी मात्र के हित के लिए महान् उद्योग करनेवाले और पुरुषार्थी पुरुष जब इस भारत-भूमि को अलंकृत करते थे तब देश परमेश्वर की कृपा का पात्र था। और ज्ञान के ही नहीं ऐश्वर्य के भी शिखर पर पहुंचा हुआ था; और जब यह दोनों जगह श्रेयस्कर पूर्वतर धर्म छूट गया तबसे उसकी हालत गिरने लगी। —**लो. तिलक**]

१८७५ ई० से १८६५ ई० तक के समय में हिन्दुओं को अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता का पता चला। पहले जो पश्चिमी सभ्यता के प्रकाशन से सुशिक्षित लोगों की दृष्टि चौंधिया गई थी अब वह स्थिति बदल गई थी और उनमें अपनी कार्य-शक्ति का आत्म-विश्वास और अपने राष्ट्र के भविष्य के सम्बन्ध में उज्ज्वल आशा प्रतीत होने लगी। १८७५ के पहले के हम लोगों के और उसके बाद के देशभक्त कार्यकर्ताओं के उद्गारों में यही मुख्य अन्तर दिखाई देता है। इस समय जो-जो नई हलचलें उत्पन्न हुई वे सब इसी नये आत्मविश्वास पर अधिष्ठित थीं। पुरानी पीढ़ी के कार्यकर्ताओं को भी यह नया दृश्य देखकर अपने राष्ट्र के भविष्य के बारे में आशा होने लगी। पराधीनता के आघात से मूर्च्छित इस खंडतुल्य प्रचण्ड राष्ट्र में नव चैतन्य का संचार होने लगा। अपनी स्वतन्त्रता की झलक उसे दिखाई पड़ने लगी। इस नवजीवन और नूतन आशावाद के समय में लोक-जागृति करनेवाले भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय पैदा हुए और उनके द्वारा आधुनिक भारत के मन पर भिन्न-भिन्न संस्कार पड़ने लगे।

महाराष्ट्र में विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने १८७४ में निबन्धमाला शुरू करके एक नवीन स्वाभिमानी राष्ट्रीय विचार-सम्प्रदाय उत्पन्न किया। उसीको आगे बढ़ाकर लोकमान्य तिलक और इतिहासाचार्य राजवाड़े ने महाराष्ट्रीय इतिहास की पार्श्वभूमि पर आधुनिक भारत का चित्रपटी खींचने

की शुरुआत की। इस सम्प्रदाय की सामाजिक सुधार-सम्बन्ध तात्विक भूमिका लोकमान्य के शब्दों में इस प्रकार है—"जबतक स्वतन्त्रता का अथवा राष्ट्रीयता का अभिमान या तेज कायम और जागृत है तबतक समाज-रचना में कुछ दोष भी हो तो राष्ट्र की उन्नति अथवा उत्कर्ष में बाधक नहीं होता। इसलिए (विशिष्ट) समाज-रचना की अपेक्षा लोगों में अपनी संस्थाओं और अपने देश के प्रति अभिमान जागृत रखने की चेष्टा प्रत्येक देशभक्त को करनी चाहिए। इसीको हमने स्वाभिमानी राष्ट्रवाद नाम दिया है। इसका आधार सामान्यतः वर्णाश्रम-धर्म है और महाराष्ट्र के इतिहास में इसीको महाराष्ट्र-धर्म कहा गया है। भगवद्गीता और दास-बोध इस राष्ट्रवाद या राष्ट्रधर्म के आधार हैं। शिवाजी महाराज इस धर्म के आराध्य देव और भगवान श्रीकृष्ण का प्रवृत्ति-परक कर्मयोग और शंकराचार्य का अद्वैत सिद्धान्त और सनातन धर्मनिष्ठा यह परम्पराप्राप्त संस्कृति-धन है। इसे सामाजिक सुधार तो अभीष्ट है; परन्तु इसका यह मत है कि हमारी संस्कृति का पाया पश्चिमी संस्कृति की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ तत्वों पर डाला गया है और इसने महाराष्ट्र में यह श्रद्धा पैदा की है कि सारे जगत् का मार्ग-दर्शन करने का सामर्थ्य भारतीय संस्कृति में है। महाराष्ट्र में गरम राजनीति को इसी सम्प्रदाय ने व्यापक किया है और इसी पक्ष के धुरन्धर नेता लोकमान्य तिलक ने प्रगति-दल से हटाकर कांग्रेस को गरम राष्ट्रीय दल के हाथों में सौंप दिया।

महाराष्ट्र के राष्ट्रवाद के इतिहास में आगरकर का भी खास स्थान है। १८८० से १८९५ तक उन्होंने शुद्ध विवेकवाद के आधार पर उग्र राष्ट्रीयता के निर्माण करने का प्रयत्न किया है। उन्हें अगर सब बातों में पश्चिमी लोगों की नकल करना अर्थात् एक प्रकार की देशाभिमान-शून्यता पसन्द न थी, तो सब पूर्वीय बातों के समर्थन करने का देशाभिमान भी पसन्द नहीं था। वह कहते थे कि सच्चा मार्ग दोनों के बीच का है। उनका मत था कि हमारी मूल प्रकृति अर्थात् भारतीय आर्यत्व को न छोड़ते हुए नवीन पश्चिमी शिक्षा और उसके साथ आनेवाले नवीन विचारों को उचित तौर पर अंगीकार करने में ही हमारा भला है।

इसी समय बंगाल, पंजाब और मद्रास के प्रान्तों में भी एक प्रकार की

विचार-क्रान्ति हो रही थी और भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता, वेदान्त-विचारों की महत्ता, वर्णाश्रम-धर्म के समाज-धारणा के लिए उपयोगी तत्व, इनको सब जगह प्रधानता मिल रही थी। बंगाल का रामकृष्ण-मिशन, पंजाब का आर्य-समाज और मद्रास की थियॉसाफी—ये सब विचार-सम्प्रदाय भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता पर आधारित थे; परन्तु महाराष्ट्र और दूसरे प्रान्तों की विचार-जागृति में एक बड़ा अन्तर था। महाराष्ट्र में जैसे लोकमान्य समाज-सुधार को अप्रधानता देकर राजनैतिक आन्दोलन को प्रधानता देने और आगरकर जैसे शुद्ध बुद्धिवाद के आश्रय पर सर्वांगीण सुधार का समर्थन करनेवाले नेता थे वैसे दूसरे प्रान्तों में नहीं थे।

यहांपर यह साफ कर देना जरूरी है कि इस सुधार के मामले में रानडे और आगरकर पक्ष के मत तत्वतः बिल्कुल भिन्न थे। रानडे अद्वैतवाद और बौद्धमत को नास्तिक मत समझते थे और इसलिए अपने प्रार्थना-समाज को उन्होंने ब्रह्म-समाज नाम न देने दिया। इसका कारण उन्होंने यह बताया कि ब्रह्म शब्द से वेदान्तियों के निर्गुण परब्रह्म का बोध होता है इसलिए हमारे द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत विचारों के लिए प्रार्थना समाज नाम अधिक मौजू होगा। उनका मत था कि अपनी परम्परा को न छोड़कर प्रचार करना चाहिए। हिन्दू-संस्कृति में जिस तरह गौतम बुद्ध और शंकराचार्य दो महान् विभूतियां प्राचीन समय में हो गईं, उसी तरह महाराष्ट्र में आधुनिक समय में आगरकर और तिलक ये दो महान् विभूतियां हुई हैं। बुद्ध और शंकराचार्य दोनों प्रखर बुद्धिवादी थे; पर एक ने वैदिक परम्परा और वर्ण-व्यवस्था पर प्रकट आक्रमण किया और बुद्धिवाद के आश्रय से निरीश्वरवाद की मंजिल तक पहुंचे और दूसरे ने अद्वैत वेदान्त का आश्रय लेकर मायिक ईश्वर का अस्तित्व मान्य करके वैदिक परम्परा और वर्ण-व्यवस्था को धक्का न पहुंचाते हुए हिन्दू-संस्कृति का उद्धार किया। आगरकर का पथ गौतम बुद्ध के प्रयत्न की तरह था और तिलक का प्रयत्न शंकराचार्य की तरह था। आगरकर का बुद्धिवाद जैसा तिलक को रुचिकर न हुआ उसी प्रकार वह रानडे को भी पहले से मान्य न था। रानडे की राजनीति भी श्रद्धा-युग की थी और उन्हें परम्परा भंग होने की अपेक्षा भी राजशासन-भंग होने की भीति अधिक मालूम होती थी। आगरकर की स्वतन्त्र बुद्धि

कहती थी कि जरूरत पड़ जाय तो परम्परा और राज्य-शासन दोनों का उल्लंघन करके हमें अपनी सत्यनिष्ठा कायम रखनी चाहिए। अपनी इसी स्वतन्त्र बुद्धि के कारण आगरकर ने उग्र राजनीति और उग्र समाजनीति का बीजा रोपण महाराष्ट्र में किया और तिलक ने सामाजिक और धार्मिक विषय में परम्परा-रक्षण का सिद्धान्त स्वीकार करके राजनैतिक विषय में परतन्त्रता की परम्परा तोड़ने का उपदेश दिया और अपने प्रखर बुद्धिवाद पर वेदान्त का आवरण चढ़ाकर वर्णाश्रम-धर्म की बुनियाद को ज़रा भी न हिलाते हुए राष्ट्र-निर्माण करने का प्रयत्न किया तथा सारे राष्ट्र की शक्ति और बुद्धि उग्र राजनीति पर केन्द्रित की।

बंगाल में इन्हीं दिनों कलकत्ता के पास दक्षिणेश्वर के मन्दिर में एक महान् विभूति आकर रही थी, जिसने वहां के लोगों का ध्यान ब्रह्म-समाज की ओर से अपने वेदान्त की तरफ खींच लिया : वह थे रामकृष्ण परमहंस। राजा राममोहन राय की मृत्यु के बाद ब्रह्म-समाज में महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन ये दो प्रसिद्ध नेता हुए। १८४२ में देवेन्द्रनाथ और १८५७ के बाद केशवचन्द्र सेन आगे आने लगे। केशवचन्द्र ने ब्रह्म-समाज को ईसाई धर्म की तरफ झुकाया और भारतवर्षीय ब्रह्म-समाज नामक स्वतन्त्र शाखा १८६६ में स्थापित की। तब पुराने ब्रह्म-समाज का नाम 'आदि ब्रह्मसमाज' पड़ गया। आदि ब्रह्म समाज का झुकाव भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता की तरफ है और उसका यह विश्वास है कि पूर्वी और पश्चिमी संस्कृति के मेल से ही वास्तविक मानव-सुधार होगा। कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ इस ब्रह्म-समाज की आधुनिक भारत को बहुमूल्य देन है और महात्मा गांधी के बाद संसार में भारत की कीर्ति फैलाने में उनकी विभूति-मत्ता कारण हुई। वह जैसे सर्वश्रेष्ठ कवि थे वैसे ही तत्वज्ञ भी थे और उनके तात्विक धर्म-प्रवचन भक्तिरस से लबालब और औपनिषदिक ज्ञान से भरे हुए होते थे। पश्चिमी लोगों की संकुचित राष्ट्रभावना से उत्पन्न साम्राज्य-वाद, भौतिक सुखों के लिए उनकी अमर्याद तृष्णा, पूंजीवाद का संगठित लोभ और सैनिकवाद की संगठित हिंसा इस यूरोपीय संस्कृति का अन्धानु-करण न करो। दूसरी तरफ अपनी संस्कृति की प्राचीन आध्यात्मिक भूमिका को छोड़कर जापान की तरह पश्चिमी जड़वादी और हिंसक न बनो। यह

सन्देश वह भारतवर्ष को दे रहे थे।

१८७५ के बाद केशवचन्द्र सेन खुद भी परमहंस से प्रभावित हुए और बाद में नरेन्द्रनाथ दत्त, जो कि नास्तिक थे और स्पेन्सर के अनुयायी थे, रामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आये। उन्होंने परमहंस से पूछा, "क्या आप मुझे ईश्वर का दर्शन करा देगे?" उन्होंने उत्तर दिया, "हां"। तब नरेन्द्रनाथ उनके शिष्य हो गये, जो बाद में स्वामी विवेकानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए। परमहंस के प्रसाद से उन्हें यह निश्चय होता गया कि भारतवर्ष में परमेश्वर-प्राप्ति का भी एक अनुभवगम्य शास्त्र है और इस अध्यात्मशास्त्र के सिद्धान्त भी भौतिक-शास्त्र की तरह प्रमाण-सिद्ध और अनुभवगम्य हैं। वह धर्म-बाह्य विधानों की या कर्मठता की कवायद नहीं है; बल्कि आत्म-साक्षात्कार का विषय है और आत्म-साक्षात्कार ही सब धर्मों का साध्य है। उनके बहिरंग कैसे ही विविध बल्कि विरोधी क्यों न दिखाई दें; परन्तु वास्तविक धर्म एक ही है और भिन्न-भिन्न धर्म उसी एक विश्व-धर्म के विशिष्ट सम्प्रदाय अथवा पंथ हैं। ये दो सिद्धान्त उन्हें अपने गुरु से मिले। १८९३ में शिकागो की सर्व-धर्म-परिषद् में वह 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इस सिद्धान्त पर आधारित अद्वैत तत्वज्ञान की सर्वश्रेष्ठता और उसके आधार पर विश्व-धर्म की प्राप्ति का सन्देश देने गये। अपने गुरु के स्मारक के रूप में उनका सन्देश सारी दुनिया में फैलाने के लिए १८८६ में उन्होंने रामकृष्ण मिशन नामक संस्था स्थापित की। सनातन हिन्दू-धर्म के आधार पर व्यापक विश्व-धर्म का सन्देश दुनिया को देना, लोगों को यह विश्वास करा देना कि अद्वैत वेदान्त भौतिक शास्त्र की प्रगति के कारण मिथ्या नहीं ठहर सकता, भौतिक प्रगति को और प्रवृत्ति-परता को प्रधानता देकर वेदान्त को कर्म-प्रवण बनाना, ईसाई पादरियों की तरह धर्म्माचरण में लोक-सेवा को प्रधानता देना और धर्म के आधार पर राष्ट्र-भक्ति और स्वाभिमान की ज्योति जलाकर लोगों में परतन्त्रता के विरुद्ध-क्रान्ति भाव फैलाना—इस प्रकार बहुविधि कार्य रामकृष्ण-मिशन ने किया है।

पंजाब में भी कुछ पहले से विचार-क्रान्ति हो रही थी। उसका श्रेय आर्य-समाज को है। उसके संस्थापक स्वामी दयानन्द का जन्म १८२४ में काठियावाड़ के एक ब्राह्मण-कुल में हुआ। धर्म-प्रचार के लिए उन्होंने ब्रह्म-

चर्य-व्रत धारण किया। फिर संन्यास लेकर १८७५ में बम्बई में आर्य-समाज की स्थापना की, जिसकी एक शाखा १८७७ में पंजाब में कायम हुई। लाला हंसराज, लाला मुंशीराम उर्फ स्वामी श्रद्धानन्द और लाला लाजपतराय इन तीन विभूतियों के कारण पंजाब की इस शाखा को बहुत महत्व मिला।

आर्य-समाज के सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार हैं—परमेश्वर के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान वेदों में है, इसलिए वेदों का अध्ययन करना हिन्दू मात्र का कर्तव्य है। वेदाध्ययन का अधिकार मनुष्य-मात्र को है। वेद आर्यों के पवित्र ग्रन्थ हैं और उन्हें सब हिन्दुओं को प्रमाण मानना चाहिए। वैदिक काल में मानव-संस्कृति पूर्णावस्था को पहुंची हुई थी और समाज-रचना के सब श्रेष्ठ तत्व वर्णाश्रम-धर्म में हैं। चातुर्वर्ण्य जन्मसिद्ध नहीं, गुण-कर्म पर अवलम्बित होना चाहिए और जिसमें जिस वर्ण के गुण हों उसे उसी वर्ण के अधिकार मिलने चाहिए। आर्यों के वैदिक धर्म का द्वार सब धर्मवालों के लिए खुला रहना चाहिए और शुद्धि करके किसी भी धर्म के माननेवाले को वैदिक धर्म में आने की छुट्टी रहनी चाहिए। आर्य-धर्म की दीक्षा सारे जगत् को देना यही जगदुद्धार का मार्ग है और आर्यावर्त आर्यों का ही देश है।

आर्य-समाज ने हिन्दू-समाज को आक्रामक स्वरूप देने का प्रयत्न किया अर्थात् ईसाई और मुसलमान धर्म-प्रचारकों की कटुता और आक्रामक शक्ति हिन्दू-समाज में पैदा करने की कोशिश की। उसी तरह मूर्ति-पूजा, बालविवाह, स्त्रियों की गुलामी, जन्मसिद्ध अस्पृश्यता इत्यादि दोषों पर भी उन्होंने जबरदस्त हमला किया। इसकी बदौलत सुधार-दल में त्याग और संन्यासवृत्ति, लोक-सेवा का व्रत और धर्मनिष्ठा का तेज निर्माण हुआ। आर्य-समाज ने राष्ट्रीयता और उग्र राजनीति और हिन्दू-समाज की राजनैतिक क्रान्ति-भावना को गति दी थी। इसमें कोई सन्देह नहीं।

स्वामी दयानन्द के निमन्त्रण पर थियोसॉफी के दो संस्थापक मैडम ब्लेवेटस्की और कर्नल अल्कॉट हिन्दुस्तान में आये और उन्होंने बम्बई में अपने भाषण में हिन्दुस्तानियों को बताया कि भारतवर्ष का नेतृत्व भारत-वासियों को ही करना चाहिए। भारत को अपनी आध्यात्मिक संस्कृति का अभिमान कभी न छोड़ना चाहिए। इसीसे हिन्दुस्तान का सच्चा उद्धार

होगा। थियोसॉफी सर्वधर्म-संग्राहक विचार-संप्रदाय है। १८९३ में एनी-बेसेंट हिन्दुस्तान में आई। कर्नल अल्कॉट का झुकाव बुद्ध-धर्म की तरफ था और मिसेज बेसेंट श्रीकृष्ण की भक्त थीं। उन्होंने काशी में सेंट्रल हिन्दू कालेज कायम कर हिन्दुओं में धर्म-जागृति और राष्ट्रभक्ति पैदा करने का प्रयत्न किया। आखिर में वह राजनैतिक क्षेत्र में भी आई; परन्तु उग्र राष्ट्रीयता को उनकी तरफ से बहुत सहायता नहीं मिली। फिर भी हिन्दुस्तानियों में अपनी संस्कृति के प्रति अभिमान पैदा करने का काम उन्होंने ठीक-ठीक किया है।

यद्यपि इस तरह भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न महान् व्यक्तियों के द्वारा विचार-क्रान्ति हो रही थी तो भी राजनैतिक क्षेत्र में जो जागृति लोकमान्य तिलक के द्वारा हुई उसकी तुलना किसीसे नहीं की जा सकती। उनके पुरुषार्थ से ब्रिटिश सत्ता भी हिल गई। उनके स्वतन्त्र राजनैतिक कार्य का प्रारम्भ १८९५ से हुआ। परन्तु चार-पांच साल में ही उनकी कीर्ति सारे हिन्दुस्तान में फैल गई और अंग्रेज अधिकारियों ने यह शोर मचाना शुरू किया कि महाराष्ट्र में तिलक-दल क्रान्तिवाद का जनक है। इस चिल्लाहट से अथवा सत्ताधारियों ने जो भास उन्हें दिया, उससे उनका बल उल्टे बढ़ता चला गया और १९०५ के लगभग उनके नेतृत्व में हिन्दुस्तान के तमाम युवक देशभक्तों ने एकत्र होकर कांग्रेस को गरम नीति पर लाने का निश्चय किया।

लोकमान्य ने सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन के आधार पर जो राष्ट्रीयता निर्माण की उसके कारण उनके जीवन-काल में महाराष्ट्र में अब्राह्मण जनता में विशेष राजनैतिक जाग्रति नहीं हुई थी और उनकी मृत्यु के बाद इसी सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का आधार लेकर उनके अनुयायी कहलानेवाले कुछ लोग कांग्रेस का विरोध करते हैं और यह कहकर विदेशी सत्ता से सहयोग भी करते हैं कि यदि हमारी अपनी संस्कृति की रक्षा न होती हो तो हमें स्वराज्य की भी जरूरत नहीं। इससे यह नतीजा निकलता है कि स्वसंस्कृति का अभिमान हमेशा प्रखर राष्ट्रीय राजनीति का पोषक होगा, यह नहीं कह सकते। यही नहीं बल्कि आज तो ऐसे लोग भी दिखाई देते हैं, जो पश्चिमी पूंजीवादी को ही अपनी संस्कृति समझकर प्रेम से उसके गले लिप-

टते हैं और हिन्दू-संस्कृति के नाम पर फासिज़्म का समर्थन करते हैं। इसके विपरीत हमारी राजनीति में एक ऐसा समाजवादी दल आज हिन्दुस्तान में उदय हो रहा है, जो कहता है कि हमारी राजनीति को प्राचीन संस्कृति का नहीं, बल्कि दूसरे देशों के सफल सिद्धान्त का आधार लेकर क्रान्तिकारक स्वरूप दिया जाय। राष्ट्रीय राजनीति में प्राचीन इतिहास से स्फूर्ति पानेवाले महात्मा गांधी और उसमें आधुनिक जगत् के इतिहास से स्फूर्ति लानेवाले पं० जवाहरलाल नेहरू ये आधुनिक महाराष्ट्र के इतिहास के तिलक और आगरकर के नये अवतार प्रतीत होते हैं। तिलक और आगरकर के समय मिल और स्पेन्सर के सिद्धान्त आ रहे थे, आज मार्क्स और एंजल्स के सिद्धान्त आ रहे हैं। मिल-स्पेन्सर के सिद्धान्त में से लोकसत्ता और सामाजिक समता के भावों को अपनाकर हिन्दुस्तान ने आज आत्मसात् कर लिया है और ऐसा करते हुए भी वह अपनी प्राचीन संस्कृति के अभिमान को धारण किये हुए है। अब इस नवीन समाजवादी तत्वज्ञान की क्या दशा होगी, यह प्रश्न है। हमारा ख्याल तो है कि इस नवीन तत्वज्ञान को भी हजम करके भारतीय संस्कृति की विशेषता और श्रेष्ठता कायम रहेगी; परन्तु यह बात इस पुस्तक के अन्त में ही पाठकों की समझ में आ सकेगी।

: ७ :

क्रान्तिकारी राजनीति

"इस तरह हिन्दुस्तान का पहला जन-आन्दोलन दक्षिण में शुरू हुआ। पूना उसका केन्द्र था और तिलक थे उनके जीवनदाता। हालांकि तिलक ने कभी क्रान्तिकारी आन्दोलन में भाग नहीं लिया, परन्तु उन्हींके लेखों आदि से प्रेरित होनेवाले कुछ लोग बाद में क्रान्तिकारी बन गये और देश में क्रान्तिकारी या आतंकवादी हलचल चलाने का श्रेय या दोष महाराष्ट्र के ही जिम्मे है।[१]"

[१] Landmarks in Indian Constitutional and National Development: by G.M. Singh, page 3002.

बंगाल और महाराष्ट्र में अंग्रेजों का सम्बन्ध अलग-अलग तरह से हुआ, इसलिए अंग्रेजी राज्य के प्रति दोनों प्रान्तों का रुख शुरू में कुछ अलग-अलग रहा। बंगाल में राजा राममोहन राय को यह प्रतीत होता था कि अंग्रेजी राज्य हिन्दुस्तान के लिए एक ईश्वरीय प्रसाद है, इसलिए बंगाल में उन्होंने मुसलमान सूबा के खिलाफ ईस्ट इंडिया कम्पनी को मदद दी, जिसका नतीजा यह हुआ कि वहां का सारा व्यापार गोरों के हाथ में चला गया। फिर भी दो-तीन पीढ़ी तक बंगाली यही समझते रहे कि गोरों के सहवास से हिन्दुस्तान की सर्वांगीण उन्नति हो रही है। महाराष्ट्र में भी शुरू में यही भावना रही। लोकहितवादी और रानडे राममोहन राय के ही पदचिह्नों पर चले; परन्तु शीघ्र ही वहां तिलक-आगरकर की उग्र विचार-सरणी लोगों के सामने आई। दादाभाई और ह्यूम के लेखों और भाषणों के आधार पर ऐसे विचार लोगों के सामने आने लगे कि हिन्दुस्तान में दरिद्रता दिनों-दिन बढ़ रही है। इसलिए फ्रांस की राज्य-क्रान्ति की तरह यहां भी एक प्रचण्ड राज्य-क्रान्ति होगी। तिलक और आगरकर ने राजा और प्रजा, विजित और विजेता के हितविरोध पर ज़ोर देकर उग्र राजनैतिक विचार लोगों में फैलाये। रानडे का वैध सर्वांगीण सुधारवाद, आगरकर का उग्र सर्वांगीण सुधारवाद और चिपलूणकर-तिलक का उग्र राजनीतिवाद,—इस तरह ये तीन स्वतन्त्र विचार-प्रवाह महाराष्ट्र में दिखाई पड़ते हैं। १८९५ के पहले दस-पन्द्रह साल तक जो विचार-मंथन महाराष्ट्र में हुआ, उसमें इन तीन विचार-प्रवाहों का त्रिवेणी-संगम दिखाई पड़ता है। उसके बाद आगरकर के विचारों की सरस्वती लुप्त हो गई और रानडे का वैध प्रागतिक दल तथा तिलक का उग्र राष्ट्रीय दल, ये दो ही दल महाराष्ट्र में रह गये।

परतन्त्र और स्वतन्त्र राष्ट्रों में 'राजनैतिक सुधार'—इन शब्दों के अर्थ में बड़ा भेद रहता है। स्वतन्त्र राष्ट्र के लोगों के सामने एक विशिष्ट वर्ग के हाथ की सत्ता सामान्य वर्ग के हाथ में ले जाने का सवाल रहता है। इसलिए ये सामान्य जनता के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक सभी प्रकार के सुधारों के अनुकूल रहते हैं। परन्तु परतन्त्र राष्ट्र के सामने तो विदेशियों के आक्रमण और गुलामी से छूटने का सवाल मुख्यतः सामने रहता है। उसे

हल करने के बाद वे सामाजिक पुनर्गठन का विचार कर सकते हैं। इसीसे स्वतन्त्र देश में सामाजिक क्रान्ति के बाद राजनैतिक क्रान्ति के विचार पैदा होते हैं। जैसे इंग्लैंड में १६वीं सदी में एक सामाजिक क्रान्ति हुई, जिससे सामन्त-वर्ग पीछे हटा और मध्यम व्यापारी वर्ग आगे बढ़ा। बाद में इस वर्ग ने लोकसत्तात्मक क्रान्ति की। इसी तरह १८वीं सदी के मध्य से १६वीं सदी के प्रथम चरण तक एक और औद्योगिक क्रान्ति हुई और उसके बाद अब फिर समाजवादी क्रान्ति के विचार फैल रहे हैं। परन्तु परतन्त्र देश में सामाजिक क्रान्ति के कारण राजनैतिक क्रान्ति के विचार शुरू में पैदा नहीं होते; बल्कि विदेशियों का आक्रमण और आधिपत्य देखकर मन में जो विरोध और प्रतिकार का भय पैदा होता है उससे क्रान्तिकारी राजनीति का जन्म होता है। लोकमान्य ने विरोध की इसी प्रतिकार-भावना को प्रबल बनाकर उग्र राजनीति को जन्म दिया, जिससे स्वदेशी, स्वराज्य, बहिष्कार, क्रान्ति, स्वतन्त्रता के भाव सब जगह फैलने लगे, क्योंकि विदेशी सत्ता के आक्रमण से देश में जो दरिद्रता और बेकारी दिन-दिन बढ़ रही थी उसे देश का बच्चा-बच्चा महसूस करने लगा था।

इन भावनाओं से प्रेरित होकर भिन्न-भिन्न लोगों ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के भिन्न-भिन्न उपाय शुरू कर दिये। किसीने शस्त्रास्त्र जमाकर स्वराज्य-स्थापन करने का प्रयत्न किया तो किसीने जालिम अधिकारियों को कत्ल कर डाला, किसीने शिवाजीक्लब स्थापित करके बलोपासना शुरू की, किसीने राजे-रजवाड़ों की सहायता से क्रान्ति करने का विचार बांधा, किसीने भारतीय राजे-रजवाड़ों को निकम्मा समझकर अफ़गानिस्तान और नेपाल-जैसे दूर के स्वतन्त्र राज्यों का आश्रय लिया, किसीने रामदासी मठों को पुनर्जीवित करने का उद्योग किया और किसीने मन्त्र-सामर्थ्य और योग-सामर्थ्य से काम लेना चाहा। मगर लोकमान्य की राजनीति इन सबसे भिन्न थी। वह उग्र जरूर थी, मगर साथ ही वह अवैध नहीं थी। उनका यह निश्चित मत था कि जबतक आम जनता में जबरदस्त जागृति न हो जायगी और कांग्रेस-जैसी संगठित संस्था का नेतृत्व उसे प्राप्त न होगा तब-तक हिन्दुस्तान को स्वराज्य नहीं मिल सकता। इसलिए उनकी राजनीति का संचालन महाराष्ट्र में सार्वजनिक सभा के द्वारा और भारत में कांग्रेस

के द्वारा चल सकता था। इसलिए लोकमान्य ने पहले सार्वजनिक सभा और बाद में कांग्रेस पर कब्जा किया। तिलक की राष्ट्रीय राजनीति अन्त में क्रान्तिवादी है; परन्तु तत्कालिक दृष्टि से वह विधि-विहित ही थी, क्योंकि वह मानते थे कि जबतक कांग्रेस जनता की प्रतिनिधिक संस्था नहीं बन जायगी, तबतक क्रान्ति नहीं हो सकती। इसलिए तबतक विधि-विहित राजनीति से ही काम लेना चाहते थे। उनकी सारी कोशिशें इसी दिशा में हो रही थीं कि कांग्रेस जनता की सच्ची प्रतिनिधि बने और उसकी राज-नीति अग्रगामी हो। उनका मत था कि जो राष्ट्र का राजनैतिक नेतृत्व करना चाहता हो उसे आगे बढ़ते रहने की ओर, लोग मेरे पीछे चलते हैं कि नहीं, यह देखते रहने की आवश्यकता रहती है। अब किस समय राष्ट्र की कितनी तैयारी हो गई है, इस बारे में नेताओं में मतभेद हो सकता है। ऐसे समय लोकमान्य बहुमत का निर्णय मानने के पक्ष में थे। अपने चालीस साल के सार्वजनिक जीवन में उन्होंने इस सिद्धान्त के विपरीत कभी आच-रण नहीं किया। उसका उल्लंघन करनेवालों पर वह अराष्ट्रीयता का आरोप करते थे।

तिलक की राजनीति वृद्धिशील राष्ट्रीयता की और क्रान्तिवाद की राजनीति थी। अपनी राजनीति में शक्ति लाने के लिए तिलक ने १८९४ में गणपति-उत्सव को सार्वजनिक स्वरूप दिया और १८९५ में शिवाजी-उत्सव शुरू किया। इससे उन्होंने लोगों की धर्म-भावना और ऐतिहासिक विभूतियों के प्रति पूज्य भावना का बल अपनी राजनीति को देने का प्रयत्न किया। जिस समय नवीन राष्ट्रीय भावना लोगों के अन्दर जोरदार नहीं थीं उस समय उत्सवों के द्वारा लोक-हृदय में उसका बीजारोपण करने का यह प्रयत्न था। कांग्रेस जो काम कर रही थी उसे जन-साधारण में व्यापक करने का यह उद्योग था। इन उत्सवों के अन्दर लोगों की धर्मभावना जागृत करके उन्हें नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक शिक्षा आसानी से दी जा सकती थी। प्राचीन समय में जो यात्रा और मेले लगते थे, वे राष्ट्र की धार्मिक, औद्योगिक और सामाजिक हलचलों के भारी-भारी प्रदर्शन होते थे। इसके बाद लोकमान्य ने जनता के दुःख-दर्द और शिकायतों का प्रश्न हाथ में लेने का उद्योग किया। १८९६ में अकाल पड़ा और लोकमान्य ने

निश्चय किया कि सार्वजनिक सभा द्वारा किसानों का लगान माफ अथवा स्थगित कराया जाय और इसके लिए उनमें जागृति की जाय। इसके द्वारा उन्होंने किसानों में अपने हक़ों का ज्ञान उत्पन्न कराना और विधि-विहित रीति से उन्हें सरकार से किस प्रकार लड़ना चाहिए यह सिखाना शुरू किया। सार्वजनिक सभा के द्वारा हर गांव में जाकर यह प्रचार किया गया कि पैदावार नहीं हुई है तो लगान मत जमा कराओ। इधर 'केसरी' के द्वारा भी इस सम्बन्ध में खूब हलचल शुरू की, जिससे लोगों में हिम्मत आने लगी और किसान हजारों की तादाद में सभाओं में आने लगे। इसपर सरकारी अधिकारी तिलक महाराज को 'हिन्दुस्तान का पारनेल' कहकर उनकी निन्दा करने लगे।

इधर १८९६ में सरकार ने विलायत में आनेवाले सूत की जकात उठा ली और विलायत से यहां आनेवाले और यहां बननेवाले सब कपड़ों पर पांच की जगह साढ़े तीन फीसदी जकात बैठा दी। मेनचेस्टर के कपड़ों को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से गरीब लोगों के लिए आवश्यक कपड़ों पर साढ़े तीन फीसदी जकात बैठाना एक नवीन अन्याय था। अबतक विलायत से यहां आनेवाले कपड़े और सूत पर साढ़े पांच फीसदी जकात थी; लेकिन देशी सूत और कपड़ों पर जो जकात थी वह सिर्फ बीस नम्बर के ऊपर के ही कपड़ों पर थी। मगर अब नीचे के नम्बर के मोटे सूत पर भी साढ़े तीन सैकड़ा जाकत बैठ गई और ऊपर के नम्बर के देशी और विलायती सूत और कपड़ों की जकात साढ़े तीन से साढ़े पांच तक आ गई। नतीजा यह हुआ कि विलायती मिलवालों को मोटे कपड़े में भी स्वदेशी मिलवालों से प्रतिस्पर्धा करना आसान हो गया एवं महीन कपड़े पहननेवाले सम्पन्न लोगों पर कर कम हो गया और मोटे पहननेवाले गरीबों पर लग गया। इसका लोकमान्य ने ज़ोरों से विरोध किया। उन्होंने लोगों से कहा—"इस अन्याय का जितना प्रतिकार कर सको, करो। इसका प्रतिकार करना तुम्हारे हाथ में है भी, और वह यही कि तुम स्वदेशी कपड़ा पहनना शुरू कर दो।" इस तरह लोकमान्य ने पहली बार यह सीधा प्रतिकार का उपाय बताया। हमारी मांगों के पीछे लोक-संगठन का बल होना चाहिए और लोक-संगठन के लिए लोगों में और नेताओं में स्वार्थ-त्याग और धैर्य-बल होना चाहिए—

यह भाव कांग्रेस की राजनीति में दाखिल करने का श्रेय लोकमान्य तिलक को है। इस नवीन शक्ति का जन्म १८९६ में शहरों के मध्यवर्ग में स्वदेशी हलचल के रूप में और देहात के किसानों में अकाल-आन्दोलन के रूप में हो रहा था। इस तरह शक्ति को संगठित करके उसके आधार पर सरकारी सत्ता को शह देने का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य महाराष्ट्र में लोकमान्य कर रहे थे।

लोगों में जो यह प्रतिकार-भावना पैदा हो रही थी, वह उस समय बिल्कुल बाल्यावस्था में थी। इसलिए कभी-कभी वह उछृङ्खलता भी बन जाती थी। यह उच्छृङ्खलता लोकमान्य की निगाह में आजाती थी। फिर भी उससे उन्होंने अपनी प्रतिकार-शक्ति को बढ़ाने के कार्य में खलल न पड़ने दिया। यह मानकर कि ऐसा तो होता ही रहेगा, वह अपने कार्य दृढ़ निश्चय से आगे चलाते गये। उन्हें यह देखकर ही आनन्द होता था कि लोगों में प्रतिकार-शक्ति आ रही है। वह प्रभावकारी संगठन के रूप में उसका नियन्त्रण और रोक करने का प्रयत्न तो करते ही रहे, फिर भी उन्होंने लोगों का उत्साह भंग करने अथवा जोश में आकर लोग कुछ ऊटपटांग कर गुजरेंगे, इस डर से उनमें उत्साह ही न पैदा करने की नीति मंजूर नहीं की। उनकी बुद्धि ने यह निर्णय कर लिया था कि मौजूदा परिस्थिति में हमारा आन्दोलन कानून की मर्यादा में रहते हुए चलाया जाना चाहिए और उसके द्वारा जितनी प्रतिकार-शक्ति पैदा हो सकती है, उतनी वे कर रहे थे। इसी नीति के व्यवहार से भावी भारतीय स्वराज्य-निर्माण करनेवाली शक्ति जन्म ले रही है और इसी शक्ति के द्वारा हिन्दुस्तान में स्वराज्य उपस्थित होनेवाला है और उसका स्वरूप जन-तंत्रात्मक होगा, इस विषय में इनके मन में कोई सन्देह न था। उन्हें वह आत्मविश्वास था कि जो शक्ति हम निर्माण कर रहे हैं वह बहुमत के द्वारा कांग्रेस में जरूर डाली जा सकती है। उन्हें यह भी विश्वास था कि जबतक कांग्रेस इस शक्ति का अवलम्बन और सत्कार न करेगी, तबतक उसकी राजनीति सफल नहीं हो सकती। वह यह मानते थे कि कांग्रेस को इसपर आमादा करा देना हमारा पहला कर्तव्य है। कांग्रेस को छोड़कर स्वतन्त्र रीति से अपनी राजनीति चलाने का विचार उन्होंने कभी नहीं किया, क्योंकि उन्हें विश्वास था कि हिन्दुस्तान को

स्वराज्य कांग्रस-जैसी संस्था के द्वारा ही मिल सकता है और उसीके द्वारा भारतीय राजनीति को प्रत्यक्ष प्रतिकार का अथवा क्रान्तिवादी स्वरूप दिया जा सकता है। वह क्रान्तिवादी थे; परन्तु उनका क्रान्तिवादी वर्धिष्णु था और उसकी भित्ति आम जनता के प्रतिकार-सामर्थ्य पर खड़ी हुई थी। उनके सामर्थ्य के अनुसार बढ़ने या घटनेवाला और घटकर भी फिर बढ़ने-वाला उनका क्रान्तिवाद था। लोग क्रान्ति के लिए तैयार नहीं हैं, इसलिए उन्होंने क्रान्तिवाद को नहीं छोड़ा और हम क्रान्तिवादी हैं, लेकिन लोग क्रान्ति के लिए तैयार नहीं हैं, इसलिए उन्होंने लोगों को भी छोड़ नहीं दिया। वह क्रान्तिवादी थे, इसलिए 'लोकनायक' हुए और लोगों को साथ लेकर चले इसलिए 'लोकमान्य' हुए। उनकी लोकमान्यता उनके लोकनायकत्व पर अवलम्बित थी और 'मुखरस्तत्र हन्यते' न्याय के अनुसार लोकनायक पर होनेवाले आघात उन्होंने आनन्द से शिरोधार्य किये और जब लोगों की और सरकार की लड़ाई छिड़ गई तब उन्होंने कभी रणांगण से पीठ नहीं दिखाई। इसलिए उनकी लोकमान्यता कभी अस्तंगत नहीं हुई। उनके प्रतिपक्षी अथवा उनके अन्ध अनुयायी जैसा मानते हैं, वह लोकानुरंजन के सस्ते दाम में मिली कुछ लोकमान्यता न थी, बल्कि दृढ़ निश्चय, अलौकिक साहस और सुख तथा स्वार्थ-त्याग के दाम पर खरीदी हुई बहुमूल्य वस्तु थी। १८९७ में पूना में जो प्लेग-प्रकरण हुआ उसमें उनके सद्गुणों की परीक्षा का समय आ गया। मि० रेंड पूना में प्लेग-कमिश्नर नियुक्त हुए। उसके बाद फरवरी से मई तक पूना में प्लेग हटाने के लिए एक प्रकार का कठोर फौजी शासन जारी किया गया। गोरी और काली सेना बुलाई गई और गोरे सैनिकों के द्वारा लोगों के घरों की तलाशियां ली गईं। घर साफ कराये गए। घरों में धुआं देकर सफेदी कराई गई। इस सिलसिले में लोगों पर भारी जुल्म किया गया। इसके बाद ही श्री रेंड और श्री आयर्स्ट का खून वहां हो गया। ऐसा होते ही ब्रिटिश साम्राज्य में तहलका मच गया और विलायत से पूना तक सब जगह हिन्दुस्तान में बढ़ते हुए असन्तोष और राजद्रोह की चर्चा हुई। इसपर तिलक की उग्र राजनीति से लोगों की इस प्रतिकार-भावना का बादरायण-सम्बन्ध जोड़कर पूना के अखबारों पर जब सरकारी अधिकारी और अंग्रेजी अखबार टूट पड़े, तब लोकमान्य तिलक ने

निडर होकर सरकार से सवाल किया—क्या सरकार का दिमाग मुकाम पर है ? उन्होंने कहा—शासन करने का अर्थ बदला लेना नहीं है। इस तरह सरकारी सख्तियों के विरोध मे उन्होंने अपनी आवाज उठाई।

१८९५ से चाफेकर-बन्धुओं—दामोदर व बालकृष्ण चाफेकर—ने पूना में एक संस्था कायम की थी। उसके युवकों का ध्येय था, धर्म-रक्षण जो एक अर्थ में स्वराज्य-प्राप्ति है। स्वधर्म-रक्षण और स्वराज्य-प्राप्ति में उस समय भेद नहीं किया जाता था और शिवाजी तथा गणपति-उत्सवों में इसी नीति को लेकर व्याख्यान आदि होते थे। बम्बई में महारानी विक्टोरिया की मूर्ति पर डामर लगा देनेवाला व्यक्ति चाफेकर-बन्धु की इसी संस्था का आदमी था। इस तरह चाफेकर-बन्धु के स्वधर्म-रक्षण के हेतु और स्वसंस्कृति के अभिमान से प्रेरित युवक गण उस समय गुप्त षड्यंत्रों के द्वारा और अखाड़े स्थापित करके शिवाजी महाराज का उदाहरण सामने रखकर स्वातंत्र्य-प्राप्ति का यत्न कर रहे थे और यह सत्य है कि उनके अन्तःकरण में देशाभिमान की ज्योति प्रज्वलित करने में लोकमान्य तिलक और उनका 'केसरी' कारणीभूत थे। परन्तु ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि क्रान्तिकारियों का मार्ग लोकमान्य को पसन्द रहा हो। यद्यपि सरकारी अधिकारी इस खून का दोष देशभक्त समाचारपत्रों के मत्थे मढ़ रहे थे; परन्तु ऐसे अत्याचारों की वास्तविक जिम्मेदारी उन जुल्मों और अत्याचारों पर है, जो अधिकारियों द्वारा राजकाज के सिलसिले में किये जाते हैं। ऐसे अवसर पर सरकारी अन्याय और अत्याचार की आलोचना करके विधिवत् मार्ग से उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना और लोगों पर वेकायदा होनेवाले जुल्मों के प्रतिकार का न्यायोचित मार्ग उन्हें दिखाना देश-भक्त लोकनायकों का आवश्यक कर्तव्य है। लोगों के दिलों में पराधीनता के प्रति तिरस्कार उत्पन्न करना और उनकी प्रतिकार-शक्ति को जाग्रत करना राजद्रोह नहीं है, बल्कि सशस्त्र बगावत को प्रत्यक्ष प्रोत्साहन देना वास्तविक राजद्रोह है। ऐसा करनेवालों को सजा देना और अत्याचारी लोगों को तलाश करके उनके लिए मुनासिब कार्रवाई करना अधिकारियों का कर्तव्य है; परन्तु इस कर्तव्य का पालन करते हुए अपराधी और निरपराध दोनों पर एक साथ टूट पड़ना समझदारी नहीं है। अत्याचार की प्रवृत्ति नष्ट करने का

मार्ग यह नहीं है, वल्कि लोगों पर अत्याचार न करना है। सरकार यदि खुद कानूनों का पालन करे और अपना दिमाग ठण्डा रक्खे तो लोगों के भी दिमाग का पारा नहीं चढ़ता। सशस्त्र क्रान्ति को रोकने की जिम्मेदारी जिस प्रकार लोकनायकों पर है उसी प्रकार सरकारी अधिकारियों पर भी है। अगर वे उसको यथावत् न निभावें तो फिर लोकनायकों को लोगों के अत्याचारों के लिए जिम्मेदार ठहराना और वे महज देश-भक्ति, धर्म-भक्ति व प्रतिकार-भावना जाग्रत करते है, इस बिना पर उन्हें राजद्रोही सिद्ध करना अन्याय है। राज-द्रोह की मीमांसा करते हुए लोकमान्य लिखते है :

"जिस लेख (या भाषण) के द्वारा राज्य में उथल-पुथल अथवा विप्लव होने की संभावना हो उसका समावेश राजद्रोह में होता है; परन्तु सरकार के द्वारा जो भूल और अन्याय होता है : उसे साफ तौर पर सरकार को बताना या लोगों को समझाना या उसपर कठोर टीका करना किसी प्रकार आपत्तिजनक नहीं समझा जा सकता।"

परन्तु वाद में राजद्रोह की मूल धारा में सरकार ने संशोधन किया और सरकार के प्रति अप्रीति उत्पन्न करना अपराध ठहराया और प्रीति के अभाव को अप्रीति मानकर 'केसरी' के लेखों के कारण लोकमान्य को डेढ़ साल की सजा दी गई। इसी समय पूना के सरदार घराने के दोनों नातू-बन्धुओं को १८२७ के २५वें रेगुलेशन में पकड़कर बिना मुकद्दमा चलाये जेल में डाल दिया गया और इसी समय महाराष्ट्र और पूना के बाहर के कई अखबारों पर भी मुकदमे चले और सजाएं हुई। परन्तु लोकमान्य पर जो मुकदमा चलाया गया, उसने सारे हिन्दुस्तान का ध्यान आकर्षित कर लिया। यहांतक कि १८९६ के कांग्रेस-अधिवेशन के अध्यक्ष श्री शङ्करण नायर को यह कहना पड़ा कि लोकमान्य पर अन्याय हुआ है। उन्होंने यह भी राय दी कि हिन्दुस्तान में राजद्रोह के मामलों में ज्यूरी हिन्दुस्तानी ही होनी चाहिए। उन्होंने अपने भाषण में भारतीय और ब्रिटिश नागरिकों के समान अधिकारों और दर्जों के सिद्धान्त का ज़ोरों से प्रतिपादन किया और कहा कि "स्वराज्य तथा भाषण और लेखन-स्वातंत्र्य मिलने चाहिए। इनके बिना जनता का दारिद्र्य और रोगों से छुटकारा नहीं हो सकता।" अपने भाषण के अन्त में उन्होंने कहा कि "ब्राह्मणों से लेकर अस्पृश्य तक सबके समान

अधिकारों के लिए हम लड़ रहे हैं। इसी समता की भावना से हम अपने शासकों के उन कृत्यों की टीका करते हैं, जिसमें विषमता का परिचय मिलता है। यूरोपियनों और हिन्दुस्तानियों में कानूनी विषमता जिस अंश तक दूर होगी और जिस हद तक हमें स्वराज्य दिया जायगा, उसी हद तक हम मानेंगे कि स्वतंत्रता की दिशा में हमारी प्रगति हो रही है।"

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इन गिरफ्तारियों और कारावास का निषेध करनेवाले प्रस्ताव पर बोलते हुए कहा—"पूना में जो ज्यादा पुलिस बिठाई गई है, यह बेजा हुआ। श्री तिलक और पूना के दूसरे संपादकों को कारावास दिया गया, यह और भी बड़ी भूल हुई। श्री तिलक के प्रति सहानुभूति से मेरा हृदय भर गया है और सारे देश की आंखों से आज आंसू बह रहे हैं।" इस प्रकार अपने स्वार्थत्याग और अलौकिक धैर्य से लोकमान्य ने सारे राष्ट्र के अन्तःकरण में अपना घर कर लिया। उनकी जेलयातना सारे राष्ट्र ने अपनी यातना समझी और सारे संसार को यह दिखा दिया कि हिन्दुस्तान एक राष्ट्र है, उसकी संवेदना-शक्ति जागृत है और अपने जालिमों की अपेक्षा अपने लिए जुल्म सहनेवालों के प्रति अधिक निष्ठा रखने की पावन वृत्ति हिन्दुस्तान में भी जीवित है। इस समय यह भी सिद्ध हुआ कि भारतीय जनता पर राज्य करने का नैसर्गिक अधिकार उन लोगों को नहीं है, जो उसके द्रव्य का अपहरण करके उसपर मुल्की सत्ता चलाते हैं, बल्कि उन लोगों का है जो कि इस जुल्म और द्रव्य-हरण का प्रतिकार करने के लिए विधि-विहित और न्यायोचित मार्ग से झगड़ते हैं और उस मार्ग में आनेवाली अनिवार्य आपत्तियों को झेलने के लिए खुशी-खुशी तैयार होते हैं। परन्तु अभी वह समय नहीं आया था, जबकि इस सिद्धांत का ज्ञान लोगों को हो और कांग्रेस की नीति उसके अनुसार निर्धारित की जाय। अब भी कानून और जाब्ते से सजा पानेवाले देशभक्तों का खुल्लमखुल्ला अभिनन्दन करने का साहस कांग्रेस में नहीं आया था।

इसी समय महाराष्ट्र में एक और युवक नेता अखिल भारतीय राजनीति के क्षितिज पर उदय पाने लगा था। यह थे माननीय गोखले। माननीय गोखले अपनी राजदरबारी राजनीति के कारण इतने प्रसिद्ध हो गये कि जैसे तिलक को लोगों ने 'लोकमान्य' की पदवी दी उसी प्रकार मानो

लोगों ने गोखले को भी 'माननीय' पदवी दे दी हो। लोगों की ओर से राज-दरबारी राजशासकों का विरोध करके भी सरकार-मान्यता कायम रखने का सम्मान सबसे पहले उन्हींको मिला। परन्तु लोग जो यह कहते हैं कि राजमान्यता और लोकमान्यता ये दोनों वैभव उन्होंने भोगे, यह ठीक नहीं। तिलक को जैसे राजमान्यता अपने जीवन में कभी नहीं मिली, करीब-करीब वैसे ही गोखले को अपने जीवनकाल में अधिक लोकमान्यता भी कभी नहीं मिली। राजमान्यता और लोकमान्यता दोनों का भरपूर उपयोग तो आधुनिक भारत के इतिहास में महात्मा गांधी को ही प्राप्त हुआ। फिर भी अपने जीवन-काल में दरबारी राजनीति में माननीय गोखले ने अग्रस्थान प्राप्त किया और १८९७ से अगले बीस साल का आधुनिक भारत का इतिहास गोखले और तिलक इन दो महाराष्ट्रीय नेताओं के नेतृत्व में काम करनेवाले दो अखिल भारतीय राजनैतिक पक्षों का इतिहास है, ऐसा कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है। गोखले तिलक से दस साल छोटे थे, फिर भी राजनैतिक विचारों में वह तिलक के पहले की पीढ़ी के शिष्य थे, इससे उस पीढ़ी की राजनीति के नेतृत्व करने का गौरव उन्हें मिला और दरबारी राजनीति और कांग्रेस के कार्य में उनकी प्रगति उनकी उम्र के लिहाज से बहुत तेजी से होती गई। पहले जब वह 'डेक्कन एजुकेशन सोसायटी' में आये, तब ऐसा कहते है कि आगरकर की अपेक्षा तिलक के विचारों की तरफ ही उनका झुकाव अधिक था; लेकिन थोड़े ही दिनों में सुधारक के नाते उन्होंने आगरकर का नेतृत्व स्वीकार कर लिया और 'सुधारक' पत्र निकलने के बाद चार वर्ष तक उसके अंग्रेजी सम्पादक का काम किया। पर थोड़े ही दिनों में वह न्यायमूर्ति रानडे की कक्षा में आ गये और शीघ्र ही उनके शिष्य बन गये। तिलक और आगरकर ने जिस प्रकार अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से अपना स्वतन्त्र मार्ग निश्चित किया था, ऐसी स्थिति गोखले की नहीं थी। वह न्यायमूर्ति रानडे के श्रद्धापूर्वक शिष्य बने और अपने समस्त बुद्धि-सर्वस्व से उस श्रद्धा के प्रकाश में दिखनेवाले मार्ग का अनुसरण करने लगे। रानडे उनके दृष्टा गुरु थे और गोखले कभी इस बात को नहीं भूले कि वह उनके एकनिष्ठ शिष्य हैं। उनकी प्रज्ञा चाहे अलौकिक न हो; पर उनकी श्रद्धा अलौकिक थी, इसमें सन्देह नहीं। इस श्रद्धा के बल पर उन्होंने कांग्रेस का

नेतृत्व प्राप्त किया और प्रागतिक राजनीति को स्वार्थ-त्याग की आध्यात्मिक भमिका पर अधिष्ठित किया। प्रागतिक राजनीति में यद्यपि क्रान्तिकारियों की वीरवृत्ति के लिए बहुत गुजाइश नहीं थी, तो भी निरन्तर लोकमेवा और आजन्म स्वार्थत्याग के जीवन में इसकी आवश्यकता तो है ही, यह जानकर उन्होंने 'भारत सेवक समिति' (Servants of India Society) नाम की अपूर्व संस्था स्थापित की। प्रागतिक राजनीति कोई स्वार्थरक्षा का धन्धा नहीं है और प्रागतिक पक्ष कोई राव साहब और राव बहादुरों का पिंजरापोल नहीं है और न धनिक वर्गों का 'हितरक्षक संघ' ही है, बल्कि क्रान्ति-मार्ग से होनेवाली प्रगति की व्यर्थता को देखकर क्रम-विकास का मार्ग निश्चयपूर्वक और नित्य सेवात्मक स्वार्थत्यागपूर्वक ग्रहण करनेवाले देशभक्तों का एक सम्प्रदाय है यह सिद्ध करने का श्रेय माननीय गोखले को ही है। अनेक मामूली बुद्धिमानों से माननीय गोखले की बुद्धिमत्ता असामान्य थी; परन्तु उन्होंने यह देख लिया कि राष्ट्रीय उन्नति के शिखर तक जाने का स्वतन्त्र मार्ग खोज निकालने के लिए आवश्यक दृष्टत्व या स्वतन्त्र प्रज्ञा अपने में नहीं है। एकदृष्टा गुरु के उपदेशानुसार दृढ़ श्रद्धा व द्रुतगति से प्रगति-पथ पर चलते हुए ध्येय-शिखर तक पहुंचनेवाले वह एक असामान्य भारतपुत्र थे, इसमें शंका नहीं।

"अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति" गीता की इस उक्ति के अनुसार न पूरा शिष्यत्व और न पूरा दृष्टत्ववाली अवस्था में अपना स्वतन्त्र मार्ग निश्चित करने और नेतृत्व की महत्वाकांक्षा रखकर अपना और अपने अनुयायियों का विनाश करनेवाले वह न थे। हिन्दुस्तान के सदृश खण्डतुल्य प्रचंड और प्राचीन राष्ट्र को स्वतन्त्रता का अभिनव मार्ग दिखाने का कार्य बहुत ही थोड़े लोग कर सकते हैं; परन्तु दृष्टा पुरुषों द्वारा दिखाये मार्ग का अनुसरण करना प्रत्येक सामान्य प्रज्ञावाले मनुष्य के लिए भी निश्चय, श्रद्धा और त्याग के बल पर सम्भवनीय होता है। परन्तु ये गुण भी बहुत दुर्लभ हैं। आजन्म शिष्यत्व का पेशा स्वीकार करते हुए स्वतन्त्र प्रज्ञा का अहंकार नहीं छूटता और इसलिए अन्त को 'न इस घाट, न उस घाट' वाली स्थिति में डूबते-उतराते हुए अहंकार से संसार के उपहास के पात्र बननेवाले और बिल्कुल मामूली प्रज्ञा पर राष्ट्र के स्वतन्त्र नेतृत्व का मान-

सम्मान खरीद करने की इच्छा रखनेवाले लोग बहुत मिलते हैं। परन्तु संसार के इतिहास का यह अनुभव है कि यह सम्मान का सौदा इतना सस्ता नहीं है।

हिन्दुस्तान के आय-व्यय की जांच करने के लिए १८९६ में वेल्बी कमीशन नामक रॉयल कमीशन विलायत में नियुक्त हुआ था। इस कमीशन को बिठाने में दादाभाई आदि हिन्दुस्तानी नेताओं और भारतीय जनता के अंग्रेजी हितेच्छुओं का यह उद्देश्य था कि ब्रिटिश पार्लामेंट को यह दिखा दिया जाय कि ब्रिटिश शासन-पद्धति के कारण हिन्दुस्तान दिन-ब-दिन कैसा भिखारी होता चला जा रहा है और शासन-कार्य में भारतीय लोगों का प्रवेश कराया जाय, सैनिक खर्च में कमी की जाय, साम्राज्य-विस्तार के लिए हिन्दुस्तान पर लादा जानेवाला खर्च इंग्लैंड उठावे, विलायत में भारतमन्त्री और भारतमण्डल (India Office) में होनेवाला खर्च इंग्लैंड चलावे। मतलब यह कि हिन्दुस्तान और इंग्लैंड का सारा आर्थिक व्यवहार मालिक और गुलामवाले सिद्धान्त पर चलाते हुए एक साम्राज्य के दो समान दर्जे के हिस्सेदार होने के तत्व पर चलाया जाय और भारतीय आय-व्यय पर भारतीय जनता का थोड़ा-बहुत नियन्त्रण हो। खुद दादाभाई इस कमीशन में नियुक्त हुए थे, जिससे लोगों के दिल में बहुत आशा उत्पन्न हुई थी। इसके सामने गवाही देने के लिए सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, वाचा, सुब्रह्मण्यम् अय्यर जैसे बड़े-बड़े नेता थे। इस समय पूना की डेक्कन सभा की तरफ से प्रो० गोखले भेजे गये थे। इंग्लैंड में इस काम के लिए पूना से किसी लोक-प्रतिनिधि के जाने का यह पहला ही सुयोग था। माननीय गोखले ने वेल्बी-कमीशन के सामने जो गवाही दी, वह बहुत ही युक्ति-युक्त और बढ़िया रही, और तभी से लोगों को विश्वास हो गया कि रानडे का यह युवक शिष्य आगे चलकर इंग्लैंड में बसीठी करने के लायक सिद्ध होगा। खुद लोकमान्य तिलक ने भी यह कबूल किया कि गोखले ने अपनी विलायत-यात्रा ने अपने विद्वान गुरु का गौरव बढ़ाया। भारतीय राजनीति का स्वरूप शुरू से आखिर तक द्विविध सरकाराभिमुख और लोकाभिमुख रहा है, इन दोनों अभिमुखों के पीछे एक अन्तःकरण और एक शक्ति जब-तक न होगी तबतक उसे सफलता नहीं मिल सकती। सार्वजनिक सभा

अथवा कांग्रेस जैसी लोक-प्रतिनिधि सभाओं के द्वारा और उनके अनुशासन में यह राजनीति लोकसत्ता के तन्त्रानुसार बहुमत से चलती है। इसीमे इसका वास्तविक स्वास्थ्य और बल है; परन्तु दुर्दैव से महाराष्ट्र मे रानडे-पक्ष और तिलक-पक्ष ऐसे दो पक्ष जो इस समय निर्माण हो गये, वे इस प्रकार की एक संस्था में रह नहीं सके। इसलिए सरकाराभिमुख और लोकाभिमुख राजनीति का अन्तःकरण एक नहीं रह सका। इससे राष्ट्र की बेशुमार हानि हुई है, फिर इसमें दोष किसीका ही रहा हो।

रेंड और आयर्स्ट के खून की तथा पूने की दो महिलाओं पर गोरे सैनिकों द्वारा अत्याचार होने और एक के प्राण देने की खबर गोखले को इंग्लैंड में लगी, जिसे उन्होंने 'मैनचेस्टर गार्जियन्' में छपवाया; परन्तु सबूत न मिलने के कारण अन्त में माफी मांगी। इस घटना से गोखले लोक-निन्दा के भाजन बने। निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो कहना होगा कि इस प्रकरण में गोखले ने कोई भूल की हो ऐसा प्रतीत नही होता। परन्तु तिलक-जैसे राजनीतिज्ञों को यह महसूस होना स्वाभाविक था कि माफी के शब्द नपे-तुले न थे। तिलक की ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को देखने की भूमिका शत्रुता की थी और गोखले की भूमिका ब्रिटिश साम्राज्य की ओर परमेश्वरीय प्रसाद की दृष्टि से देखने की भावनात्मक थी और यही दोनों में मूल अन्तर था। तिलक की राजनीति में माफी के लिए जगह तो थी; परन्तु वह सिर्फ जाब्ते-कानून को भुगताने के लिए। गोखले की राजनीति में माफी का स्वरूप एक प्रकार से धार्मिक प्रायश्चित्त के तौर पर था। १८९७ में अमरावती में जो कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, उसमें इन दोनों राजनीतियों का स्वरूप बिल्कुल स्पष्ट हो गया और यह दिखाई दिया कि तिलक की राजनीति लोगों को मान्य हो रही है।

वेल्बी-कमीशन के थोड़े ही दिन बाद हिन्दुस्तान में लार्ड कर्जन का जमाना शुरू हुआ। १८९९ में वह हिन्दुस्तान के वायसराय हुए। उनके जमाने को हिन्दुस्तान की गरीबी और दुर्दैव का जमाना कहना चाहिए। १८९७ में सारे हिन्दुस्तान में अकाल और प्लेग का जबर्दस्त दौर-दौरा रहा। १८९९ और १९०० में तो अकाल के कारण लाखों लोग अन्न-अन्न करके मर गये। यह अकाल चार साल तक रहा। इन अकालों

और प्लेग से भारत भूमि मानो श्मशान भूमि बन गई। इन संकटों के कारण यद्यपि प्राकृतिक थे तथापि इन्हें दूर करने के साधन उपलब्ध होने पर भी हम उनका उपयोग नहीं कर सकते। इसका कारण हमारी राजनैतिक गुलामी है, ऐसा हिन्दुस्तान की निवृत्ति-मार्गी और अल्प-सन्तुष्ट जनता भी समझने लगी। हम मर्त्यलोक में रहते हैं और हमें एक दिन मरना ही है, अतः मनुष्य को मरण का भय न रखना चाहिए—यह ठीक है। परन्तु जब हर घर से युवक, प्रौढ़ और बालक-बालिकाओं की चिता जलाने की नौबत आती है और घर-घर में बाल-विधवाओं की संख्या बढ़ने लगती है तो इसे मर्त्यलोक का शाश्वत चिह्न नहीं कह सकते। इसे समझने के लिए बहुत पांडित्य की भी जरूरत नहीं थी। इसी तरह हमारे देश से करोड़ों मन अनाज विदेशों को जा रहा है, जिसके फलस्वरूप देश के लाखों किसान भूखों मर रहे हैं। इसमें भी परमेश्वर का कोई दोष नहीं, बल्कि अपना अथवा अपनी राजनैतिक परिस्थिति का ही कुछ दोष होगा, यह एक अपढ़ आदमी भी समझ सकता था। एक और बात भी थी। एक ओर तो जनता दरिद्रता, अकाल और रोगों से पीड़ित होकर मौत के मुंह में जा रही थी, दूसरी ओर हमारी आंखों के सामने ही अधिकारी लोग चैन की बंसी बजा रहे थे। एक ओर किसानों का दिवाला निकल रहा था तो दूसरी ओर सरकार के खजाने में रुपयों की वर्षा हो रही थी। यह वैषम्य सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने १९०२ में अहमदाबाद-कांग्रेस के अध्यक्ष-पद से भाषण देते हुए बड़ी मार्मिकता से प्रदर्शित किया था—"एक ओर सरकारी खजाने में रुपये की बाढ़ आ रही है और दूसरी ओर जनता भूखों मर रही है, यह वैषम्य किसीको भी खटके बिना नहीं रह सकता। १८७७-७८-८९-९२-९७ और १९०० के तमाम अकालों में मिलकर डेढ़-दो करोड़ लोग काल के ग्रास हो गये। इधर सरकार तरह-तरह से अपनी आमदनी बढ़ाने में मशगूल थी। १८८४–८५ से लेकर १९०२ तक के सालों में करीब २८ करोड़ रुपये की बचत सरकार को हुई और इसका मुख्य कारण यह है कि १८८५ से इस तरह कर लगाये गए कि जिससे नौ करोड़ रुपये ज्यादा आमदनी होती थी। माननीय गोखले ने लार्ड कर्जन-कालीन बजट पर बहुत ही युक्तियुक्त सुबोध और सरस भाषण दिये और यह दिखलाया कि सरकार को

प्रतिवर्ष बचत क्यों हो रही है और राष्ट्र-संवर्द्धन में उसका उपयोग कैसे किया जाय ? लोगों के सिर से कर का बोझ कम करना सरकार का कर्तव्य है और यह बचत देश का उत्कर्ष साबित नहीं कर रही, बल्कि उचित से अधिक कर लगाने की अर्थात् एक तरह से जुल्म करने की प्रवृत्ति जाहिर कर रही है, यह उन्होंने बहुत ही अच्छे ढंग से सिद्ध कर दिया। गरीब देश का बजट कैसा होना चाहिए, किस वर्ग पर कितना कर लगाना चाहिए, कौन-सा कर कैसे कम किया जाय, आम जनता की हालत सुधारने में कैसे मदद करनी चाहिए और सुशिक्षित नेताओं का नियंत्रण यदि देश के आय-व्यय पर हो तो वे उसकी कैसी व्यवस्था करेंगे, इसका शास्त्र-शुद्ध, सुबोध और साधारण किन्तु सरस विवेचन गोखले के इन भाषणों में मिलेगा। इस कारण जिन गोरे अखबारों ने लोकमान्य तिलक को 'पारनेल' की उपमा दी उन्हींने माननीय गोखले को 'ग्लैडस्टन' की उपमा दी। ये दोनों उपमाएं यथार्थ हैं। फर्क इतना ही है कि ग्लैडस्टन भरपेट वेतन लेकर देश-कार्य करते थे और गोखले का देश पराधीन था, इसलिए उन्हें दरिद्रता का व्रती होकर सरकारी नीति पर निष्फल टीका करते हुए अपनी बुद्धिमत्ता और देश-भक्ति का प्रदर्शन करके ही रह जाना पड़ता था। लोकमान्य तिलक और पारनेल में भी ऐसा ही फर्क था। चारित्र्य की शुद्धता और तेजस्विता इन दो गुणों में तो लोकमान्य पारनेल से श्रेष्ठ थे ही; परन्तु उनका देश आयरलैंड से पन्द्रह-बीस गुना बड़ा है और उसी मात्रा में उसकी स्थिति भी अधिक अवनत थी। ऐसे खण्डतुल्य प्रचण्ड राष्ट्र को जाग्रत कर प्रतिकार-क्षम बनाने का कार्य उस आइरिश नेता के काम की अपेक्षा अनेक गुना अधिक विकट और कम फलदायी था। इस देश में ऐसा काम एक निष्काम कर्मयोगी ही कर सकता था। इस दृष्टि से विचार करते हुए माननीय गोखले और लोकमान्य तिलक की वास्तविक योग्यता ग्लैडस्टन अथवा पारनेल से एक व्यक्ति के नाते बहुत बड़ी थी। परन्तु उनका जन्म 'पिछड़ी हुई' संस्कृति में होने के कारण उनकी तुलना यूरोपियन संस्कृति में जन्मे श्रेष्ठ मुत्सद्दियों से हो सकती है, यह देखकर उस समय के लोग एक प्रकार का अभिमान अनुभव करते थे और उन्हें यह आत्मविश्वास होता था कि हम फिर अपनी प्राचीन श्रेष्ठता को पा लेंगे अथवा कम-से-कम दूसरे राष्ट्रों

की बराबरी में तो आ ही सकेंगे।

हिन्दुस्तान की गोरा-समाज नौकरशाही और ब्रिटिश पूंजीपतियों की प्रतिनिधिस्वरूप भारत सरकार यह परम्परारक्षक (Conservative) पक्ष और भारतीय जनता का प्रतिनिधिभूत सुशिक्षित नेता वर्ग यह प्रागतिक अथवा लिबरल पक्ष—ऐसी गोखले की राजनीति की भूमिका थी जहां लोकमान्य के राज-कारण में ब्रिटिश सरकार विदेशी नेता और ब्रिटिश पूंजी की गुलामी से छुड़ाकर भारतीय नेता आज़ादी में ले जानेवाले जनता के विश्वस्त लोकनायक के रूप में आते थे। पहले पक्ष को भारतीय राजनीति अनियन्त्रित राजसत्ता को लोकसत्ता में परिवर्तित करनेवाली प्रतीत होती है तो दूसरे पक्ष को एक राष्ट्र के जबड़े से दूसरे राष्ट्र को मुक्त करनेवाली मालूम होती है। पहले के लिए यह स्पष्ट स्थिति भूल जाना कि हम 'गुलाम राष्ट्र है', शक्य नहीं था। उसी प्रकार दूसरे के लिए 'हमारा भावी स्वराज्य लोकसत्तात्मक होगा' यह विस्मृत होना भी संभवनीय न था। परन्तु पहले का ज़ोर लोकसत्तात्मक उदार तत्वों पर विशेष था तो दूसरे का स्वातन्त्र्य-प्राप्ति की जाज्वल्य राष्ट्रीय भावना पर अधिक था। पहले की राष्ट्रीय भावना चन्द्रमा की तरह शीतल और सौम्य थी तो दूसरे की स्वातन्त्र्य-भावना मध्याह्न के सूर्य की तरह प्रखर और तेजस्वी थी। पहले पक्ष के कुछ लोग कभी-कभी इस बात को भूल जाते थे कि हम गुलाम देश के हैं और अधिकारारूढ़ पक्ष से ऐसा ही व्यवहार करते थे, मानो एक ही देश के भिन्न वर्ग और पक्ष हैं तो दूसरे पक्ष के कुछ लोग इस बात को भूलकर कि भारतीयस्व राज्य आम जनता के बल से ही मिलनेवाला है और लोकसत्तात्मक ही होगा, देश की स्वतन्त्रता के अवशेष-स्वरूप मध्ययुगीन राजे-रजवाड़ों की ओर स्वातन्त्र्य-प्राप्ति की आशा से देखते थे। इन दोनों पक्षों के मूलभूत दृष्टिकोण में यह तात्विक भेद था। लॉर्ड कर्जन के मनमाने और उद्दण्ड शासनकाल में यह तात्विक भेद अधिकाधिक स्पष्ट एवं विशद होता गया और उसीके हिसाब से दोनों पक्षों का अन्तर भी बढ़ता गया।

लॉर्ड कर्जन का ध्येय अथवा नीति ही यह थी कि हिन्दुस्तान के प्रागतिक पक्ष अर्थात् नरम दल की राजनीति का पाया ही ढीला कर दिया जाय। प्रागतिक राजनीति का आधार था—महारानी विक्टोरिया की

१८५८ की घोषणा और ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के समय-समय पर दिये गए अभिवचन। लॉर्ड कर्जन ने कई बार यह स्पष्ट कह दिया कि यह घोषणा राजा और प्रजा में हुआ कानूनी ठहराव नहीं है और उनका यह भी मत था कि आनुवंशिक तथा परम्परा संस्कारों के कारण अंग्रेज नौकरशाही में जो कार्यक्षमता है वह हिन्दुस्तान के पढ़े-लिखे लोगों में कभी नहीं आ सकती, इसलिए यहां की बड़ी और ऊंची नौकरियां अंग्रेजों को ही मिलनी चाहिएं। अपने उच्चार और आचार के द्वारा वे वह भी दिखलाते थे कि भारतीयों को धीरे-धीरे योग्य बनाकर शासन-भार उनके हाथ में सौंप देना हमारा ध्येय है, ऐसा जो राजनीतिज्ञ लोग कहा करते हैं उसपर विश्वास करनेवाले लोग बड़े मूर्ख हैं। वे यह भी प्रदर्शित करते थे कि हिन्दुस्तान की आम जनता तो राजभक्त ही है, कांग्रेस के द्वारा मुट्ठीभर लोग उछल-कूद करते हैं। दलीलबाजी से उनका यह भ्रम दूर करना शिक्षित लोगों के लिए शक्य न था। तब विरोध और बाधा डालने का ही मार्ग नेताओं के सामने बाकी था। परन्तु गोखले के पक्ष के द्वारा इसके होने की आशंका न थी। लोकमान्य तिलक ने सब बातों से यह निचोड़ निकाला कि इसके लिए कांग्रेस को विरोध की नीति अख्तियार करनी चाहिए। अतः उन्होंने लॉर्ड कर्जन के शासन-काल के अन्त में कांग्रेस को अपने कब्जे में करने का उद्योग किया।

इधर लॉर्ड कर्जन ने हिन्दुस्तान का शासन सब तरह से अनियन्त्रित या एकतन्त्रीय करना शुरू किया। इसमें उनका मुख्य हेतु यह था कि हिन्दुस्तान के बाहर ब्रिटिश राज्य का विस्तार किया जाय। सरहद-प्रान्त को स्वतन्त्र करना, अफगानिस्तान को ज़ोर देना, तिब्बत पर चढ़ाई करके चीन पर हावी होना और रूस को जकड़-बन्द कर देना, उनकी साम्राज्य-विषयक और सैनिक नीति थी। अनियन्त्रित सत्ता के इस केन्द्रीकरण और आक्रामक परराष्ट्र-नीति के आगे भारतीय नेताओं की बढ़ती हुई लोकसत्ता की आकांक्षाओं की कोई गुजर नहीं थी। परन्तु अपनी जिस स्वेच्छाचारिता और अहमन्यता के कारण लार्ड कर्जन का नाम आधुनिक भारत के इतिहास में अमर हो गया है, वह था—बंग-भंग। बंगाल में जो निःशस्त्र और सशस्त्र क्रान्तिवाद का जन्म हुआ और जिस बंगाल की राष्ट्रीय शक्ति को कांग्रेस

की राजनीति के पक्ष में खड़ी करने के लिए लोकमान्य तिलक ने भगीरथ प्रयत्न किया उसका प्रथम आविर्भाव बंग-भंग के प्रतिकार के रूप में हिन्दुस्तान में हुआ।

: ८ :

क्रांतिकारी आध्यात्मिक राष्ट्रवाद

"अतः दमन अनिवार्य था और वह इसलिए भी आवश्यक था कि सारी जनता राष्ट्रीयता की ओर झुके; किन्तु दमन से राष्ट्रीयता का जन्म नहीं हुआ। कंस ने यादवों पर जो अन्याय और अत्याचार किये उनसे कृष्ण का जन्म नहीं हुआ; परन्तु उनकी आवश्यकता इसलिए थी कि मथुरा के निवासी अपने मुक्तिदाता की कामना करें और जैसे ही उसका जन्म हो उसकी सत्ता स्वीकार कर लें। राष्ट्रीयता एक अवतार है और उसका नाश नहीं किया जा सकता। राष्ट्रीयता ईश्वर द्वारा नियुक्त शक्ति है और सार्वभौम शक्ति में, जहां से उसका उद्‌गम हुआ है, अपना अस्तित्व विलीन करने से पूर्व उसे अपना ईश्वर-प्रदत्त कार्य पूरा करना चाहिए।" —वन्दे मातरम्[१]

१९०४ से १९०७ तक कांग्रेस के अधिवेशन दिन-दिन अधिक उत्साह से और अधिक महत्वपूर्ण होने लगे। एक नवीन स्वाभिमानी राष्ट्रीय पक्ष संगठित होने लगा था। इधर इंग्लैंड में अनुदार दल की जगह उदार दल के हाथ में शासन-सत्ता आने से दादाभाई इत्यादि को हिन्दुस्तान के लिए कुछ आशा होने लगी। दादाभाई इत्यादि यह कोशिश कर रहे थे कि कांग्रेस के स्वाभिमानी उग्रदल और विनीत प्रागतिक दल दोनों के सहयोग से कांग्रेस को मजबूत किया जाय और गोखले के उत्साह और वक्तृत्व का लाभ कांग्रेस को मिले और तिलक के साहस और तेजस्विता से भी कांग्रेस को बल मिले। लोकमान्य तिलक का असली झगड़ा ह्यूम व दादाभाई नौरोजी से नहीं था, बल्कि गोखले से था। तिलक अपने ढंग से कांग्रेस को उसी नीति पर

[१] Selections from the Bande Mataram. P. 168—9

ला रहे थे, जो ग्रागे चलकर दादाभाई के १९०६ में कांग्रेस को दिये सन्देश के द्वारा प्रकट हुई। ग्रर्थात् यह कि "ग्रान्दोलन करो, ग्रविराम ग्रान्दोलन करो व दृढ़ निश्चय या एकता के द्वारा स्वराज्य प्राप्त करो।" दादाभाई इत्यादि समझ गये थे कि इस कार्य के लिए गोखले के उत्साह व वक्तृत्व से काम नहीं चलेगा, बल्कि तिलक-पक्ष के साहस ग्रौर ज़बरदस्त तेजस्विता की ग्रावश्यकता होगी, ग्रौर इसलिए कांग्रेस के मूल संस्थापक बुजुर्गों की यह इच्छा थी कि उसमें फूट न पड़े ग्रौर तिलक-पक्ष के गुणों का सम्पूर्ण उपयोग उसमें हो। तिलक का भी यही मत था। उसमें विचार कितने ही उग्र क्यों न हों, वे इस बात में दादाभाई से सहमत थे कि ग्रागे के राजनीति-क्षेत्र में युद्ध करने के लिए कांग्रेस हमारे पास एक बड़ा हथियार है। उनका यह मत ग्रन्त तक कायम रहा कि नवीन पक्ष को चाहिए कि ग्रपना बहुमत करके कांग्रेस में ग्रपनी नवीन नीति का प्रवेश करे। उनका यह विश्वास था कि स्वराज्य की लड़ाई लड़ने के लिए हिन्दुस्तान में कांग्रेस का जन्म हुग्रा है ग्रौर वही उसे चला सकती है। १९०५ में उन्होंने 'केसरी' में लिखा था : "ग्रंग्रेजी हुकूमत की ग्रथवा लार्ड कर्जन की फिजूल स्तुति करना निरर्थक है ग्रौर न छोटी बातें लेकर व्यक्तियों का ग्रालोचन-विवेचन करने में कुछ लाभ है। ग्रसली प्रश्न तो शासन-पद्धति का, मनुष्यों की व्यक्तिगत शिकायतों का नहीं। ग्रसल बात यह है कि कनेडा या ग्रास्ट्रेलिया की तरह हिंदुस्तान राष्ट्रीय स्वराज्य चाहता है ग्रौर जब हम सरकार को यह दिखा देंगे कि हम इस ध्येय को पाने के लिए तुल पड़े हैं तो हमें कुछ-न-कुछ सफलता ग्रवश्य मिलेगी।" इसी वर्ष बाबू विपिनचन्द्र पाल ने प्रागतिक पक्ष की राजनीति व राजनिष्ठा का ग्रर्थ कानून-विहित राजनिष्ठा किया ग्रर्थात् राजनिष्ठा या साम्राज्यनिष्ठा का ग्रर्थ राजा के प्रति निष्ठा नहीं, बल्कि कायदे कानून के प्रति निष्ठा है, ऐसा प्रतिपादन किया। उन्होंने ग्रन्धाधुन्धी व उपद्रव के खिलाफ ग्रपनी राय दी ग्रौर बताया कि परतन्त्र भारतीयों में हार्दिक साम्राज्यनिष्ठा नहीं हो सकती। हमारी राजनीति का सच्चा ग्राधार तो राष्ट्र-भक्ति ही हो सकती है ग्रौर उसीपर राष्ट्रीय राजनीति की दीवार खड़ी हो सकती है। इसी वर्ष बनारस-कांग्रेस में इस राजनीति की नई

स्थापना हुई और इस नवीन पक्ष का नेतृत्व लोकमान्य तिलक के हाथ में आया।

बंगाल में जिस प्रकार बाबू विपिनचन्द्र पाल नवीन क्रान्तिकारी भावना पैदा कर रहे थे उसी तरह महाराष्ट्र में स्वर्गीय शिवराम महादेव परांजपे अपने 'काल' पत्र के द्वारा पूर्ण स्वातन्त्र्य का ध्येय प्रतिपादन करके नवयुवकों में क्रान्तिकारी ढंग की राजनीति फैला रहे थे। उनके लेखों से युवक महाराष्ट्रीय आजादी पाने के लिए बेचैन हो रहे थे और उसके लिए अधिक-से-अधिक कुर्बानी करने के लिए छटपटा रहे थे। लोकमान्य भी ऐसा मानते थे कि विजित लोगों के अन्तःकरण में एक प्रकार की क्रान्तिकारी भावना सदैव जीती-जागती रहना बहुत आवश्यक है। वह जबतक कानून की मर्यादा नहीं लांघती अथवा शान्ति-भंग नहीं होने देती तबतक उसका निषेध करने की जरूरत नहीं होती। हिन्दुस्तान की राजनीति इंग्लैंड के जैसे स्वतन्त्र व 'लोकसत्तात्मक' देश की वैधानिक राजनीति की जैसी नहीं हो सकती, उसे किसी-न-किसी प्रकार का क्रान्तिकारी स्वरूप प्राप्त हुए बगैर नहीं रह सकता, ऐसा उन्हें दिखाई देता था। भारतीय हृदय की इस क्रान्तिकारी स्वातन्त्र्य-भावना को बहिष्कार-योग की निःशस्त्र क्रान्ति का रूप देकर उस शक्ति को कांग्रेस की राजनीति के पीछे खड़ी करना और उसके बल पर ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को कांग्रेस की मांगें मंजूर करने पर मजबूर कराना उस समय लोकमान्य की नीति थी। १९०४ की कांग्रेस में जो बाईस प्रस्ताव हुए, उनसे उनकी राजनीति का स्वरूप अच्छी तरह जाना जाता है। अबतक चार प्रकार की मांगें सरकार से की जाती थीं—एक आर्थिक और उद्योगों-सम्बन्धी सुविधाओं की; दूसरी शासन-व्यवस्था में सुधार होकर लोक-प्रतिनिधियों का नियन्त्रण होने-सम्बन्धी; तीसरी न्याय-विभाग और शासन-विभाग को अलग करने के सम्बन्ध में, व चौथी आक्रमक विदेशी नीति और बढ़ते हुए सैनिक खर्च के विरोध के सम्बन्ध में।

इन चार प्रकार की नित्य मांगों के अलावा बंग-भंग की योजना के तथा दमनकारी कानूनों के विरोध-सम्बन्धी नैमित्तिक प्रस्ताव भी समय-समय पर होते रहते थे। महज राजनैतिक सुधारों के तात्विक विवेचन और सुशिक्षित देशभक्तों के शासन-कार्य-सम्बन्धी मत-प्रदर्शन की दृष्टि से अबतक

का कार्य ठीक था। लेकिन इस राजनैतिक तत्वज्ञान को व्यावहारिक राज-कारण का परिणामकारक स्वरूप प्राप्त करा देने के लिए उन मांगों के पीछे संगठित लोकशक्ति का बल होना चाहिए और उसके द्वारा प्रत्यक्ष कृति से लोगों को यह सिद्ध कर दिखाना चाहिए कि प्रचलित शासन-प्रणाली हमें असह्य हो गई है। इसके सिवा ये मांगें प्रतिपक्षी कबूल नहीं करेंगे यह विचार लोकमान्य तिलक,बाबू विपिनचन्द्रपाल और लाला लाजपतराय इन तीनों ने १९०५ में एक ही साथ कांग्रेस के सामने रक्खा। इस नीति पर कांग्रेस के राजकारण को ले जाने का प्रयत्न १९०५ से १९०७ तक उन्होंने किया परन्तु सर फीरोजशाह मेहता के नेतृत्व में नरम दलवालों ने यह जिद पकड़ी कि यह प्रयत्न सफल न हो, जिसके फलस्वरूप १९०७ में कांग्रेस की नैया सूरत में टूट-फूट गई और लाल, बाल, पाल के ये प्रयत्न व्यर्थ गये। इस प्रकार अंग्रेज राजनीतिज्ञों की भेद-नीति को सफलता मिली और कांग्रेस कमजोर पड़ गई। मॉर्ले-मिण्टो के खोखले सुधार देश के पल्ले पड़े, राष्ट्रीय पक्ष का दमन हुआ, उत्साही नवयुवक देश-भक्तों ने सशस्त्र क्रान्ति का अव्यवहार्य मार्ग स्वीकार किया और कुछ समय तक ब्रिटिश साम्राज्य की संगठित, वैज्ञानिक और भेदनीति-प्रधान दमन-नीति का ताण्डव नृत्य सारे देश में जारी हुआ।

बंग-भंग की योजना में अंग्रेजों की भेदनीति काम कर रही थी। बंगाल के दो टुकड़े इस ढंग से किये गए थे कि पूर्व बंगाल मुस्लिम-प्रधान प्रान्त बन जाता था और पश्चिम बंगाल में बिहार और उड़ीसावासियों की बहुसंख्या हो जाती थी। अर्थात् दोनों टुकड़ों में बंगाली अल्पसंख्यक हो जाते थे। मुसलमानों को फोड़ लेने की यह नीति थी। १९ जुलाई, १९०५ को बंग-भंग की योजना प्रकाशित की गई और १६ अक्तूबर, १९०५ को बंगाल के दो टुकड़े कर दिये गए। इस योजना का श्रेय लार्ड कर्जन को था। ७ अगस्त, १९०५ को इसके विरोध का झंडा कलकत्ते में और बंगाल के दूसरे बड़े शहरों में आम सभा में खड़ा किया गया, जिसमें अंग्रेजी माल का बहिष्कार करने की कसमें खाई गई। लोकमान्य ने इस आन्दोलन का ज़ोरों से समर्थन किया। उन्होंने 'केसरी' के अपने एक लेख में यह बताया कि "स्वतन्त्र राष्ट्र की विधि-विहित राजनीति से परतन्त्र राष्ट्र की राजनीति किस प्रकार भिन्न

होती है।" उन्होंने लिखा कि "नाक दबाये बिना मुंह नहीं खुलता। यदि हम ऐसा कार्यक्रम न बनायेंगे, जो सरकार को चुभनेवाला हो तो सरकार का दर्प कभी नहीं जायगा। हजारों-लाखों लोगों का समुदाय निश्चय की रस्सी से बंध जाना चाहिए। लोक-मत का बल निश्चय में है, केवल समुच्चय में नहीं। शब्दों की जरूरत नहीं कृति चाहिए, और वह भी निश्चययुक्त। हिन्दुस्तान के लोकमत-विकास के इतिहास में आज ऐसा दिन आ पहुंचा है, जबकि हमारे नेताओं को निश्चय के साथ आगे बढ़कर कार्य सिद्ध करना चाहिए या मुंह की भाप से दूषित वातावरण में व्यर्थ दम घुटकर मर जाना चाहिए। ऐसे आनबान के समय में अपने नेताओं से मैं कहना चाहता हूं कि यदि आपने ठीक कदम नहीं उठाया या ढीले पड़ गये तो आपकी विद्या, आपके वचन और आपके देशाभिमान से लोगों का विश्वास उठ जायगा।

"इंग्लैंड और हिन्दुस्तान दोनों की स्थिति एक-दूसरे से भिन्न है। इंग्लैंड एक स्वतन्त्र देश है और वहां की शासन-पद्धति के अनुसार भिन्न-भिन्न दल के लोगों के अधिकारारूढ़ होने की सम्भावना रहती है। जिसका बहुमत हो उसके हाथ में वहां राजसत्ता आ जाती है, इसलिए वहां के नेता बहुमत को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करते रहते हैं। परन्तु हिन्दुस्तान की स्थिति ऐसी नहीं है। यहां इंग्लैंड के जैसी बहुमत की कोई कीमत ही नहीं है। यहां लाखों की सभाओं में प्रदर्शित राय की सरकार ज़रा भी परवाह नहीं करती, यह बंग-भंग के इस आन्दोलन से स्पष्ट हो रहा है। और यदि हमने इसके प्रतिकार का कोई उपाय न किया तो ऐसे आन्दोलनों पर से लोगों का विश्वास बहुत जल्दी उठ जायगा। अब ऐसा समय आ पहुंचा है कि जब हम इस जबानी जमा-खर्च से आगे बढ़ें, नही तो हमें निरन्तर गुलामी में रहने के लिए तैयार रहना चाहिए।"

महाराष्ट्र में इस आन्दोलन को देखकर लोकमान्य तिलक के मन में जैसी उत्साह की लहर उठी उसी तरह विलायत में पितामह दादाभाई की आंखों में भी यह दृश्य देखकर आनन्द के आंसू आ गये। टेक्सटन हॉल की सभा में उन्होंने कहा, "हमारे शासक कहते हैं कि तुम्हारे देश को स्वराज्य कभी नहीं मिल सकता। हम ऐसा मौका ही नहीं देगे जिससे तुम लोग स्वराज्य के लायक बन सको। इसके विरुद्ध हिन्दुस्तानी अब जाग्रत होकर कहने लगे हैं

कि इस हालत को हम बर्दाश्त नहीं कर सकते। शासकों के और उनके बीच यही सवाल है। वे एक-दूसरे से भिड़ पड़े हैं। शासक कहते हैं कि हम विदेशी और विजेता बनकर ही यहां राज्य करेंगे और तुम्हारे देश की धन-सम्पत्ति को अपने देश में बहा ले जाकर तुमको अकाल, प्लेग, दरिद्रता और फाके-कशी के मुंह में डाल देंगे। इसके बखिलाफ हिन्दुस्तानी कहते हैं कि हम ऐसा हरगिज नहीं होने देंगे। कलकत्ते में इस सम्बन्ध में जिस दिन पहली सभा हुई वह दिन हिन्दुस्तान के इतिहास में कुंकुम से लिखने जैसा है। परमेश्वर का मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूं, जो मैं भारतीयों की स्वतन्त्रता के जन्मदिन को देखने के लिए जिन्दा हूं। अब सवाल यह है कि प्रजाजन और शासकों के इस संघर्ष का नतीजा क्या होगा ? बम्बई के गवर्नर और पॉलिटिकल एजेंट सर जॉन माल्कम ने ब्रिटिश शासन-पद्धति के अनिवार्य परिणाम के सम्बन्ध में लिखा है, इसका नतीजा महज हमारे अधःपात के रूप में ही न होगा; बल्कि हमारे साम्राज्य के विनाश के बीज भी इसमें निहित हैं। अंग्रेजों के ही मतों के निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि हिन्दुस्तान से ब्रिटिश साम्राज्य नष्ट हो जायगा। लोगों पर भी अब अपने कर्त्तव्य की जिम्मेदारी आ पड़ी है और उन्होंने काम भी शुरू कर दिया है। उन्होंने कह दिया कि अब हम गुलाम बनकर नहीं रहेंगे। अब उन्हें ऐसा निश्चय कर ही लेना चाहिए, क्योंकि जिस दिन अंग्रेजों को यह विश्वास हो जायगा कि हिन्दुस्तानियों ने स्वराज्य प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है तो फिर मुझे कोई शंका नहीं है कि वे स्वराज्य देकर ही रहेंगे। सम्भव है वह सुदिन देखने के लिए मैं जिन्दा न रहूं; परन्तु मुझे निश्चय है कि यह बात अवश्य होकर रहेगी।"[१]

इस समय स्वर्गीय गोखले और लाला लाजपतराय ये दो तरुण नेता कांग्रेस की ओर से इंग्लैंड गये। इस समय इंग्लैंड में माननीय गोखले ने बसीठी का जैसा काम किया, जिसकी तारीफ खुद लोकमान्य तिलक को भी करनी पड़ी। इसका कारण यह कि दादाभाई की सलाह के अनुसार वैध मार्ग को नाकाफी समझकर बहिष्कार जैसे प्रत्यक्ष प्रतिकार के साधन की ओर वे झुके और ब्रिटिश जनता के सामने उन्होंने खुल्लमखुल्ला बहिष्कार का समर्थन किया। कांग्रेस के पुराने और नये दोनों पक्ष के नेता अब बुद्धि-बल का

[१] Speeches and Writings of Dada Bhai P. 274-75

मार्ग छोड़कर प्रत्यक्ष कृति अथवा प्रत्यक्ष प्रतिकार के रास्ते की तरफ आ रहे हैं। ऐसा दृश्य १९०५ में दिखाई देने लगा था और उसीसे लोकमान्य तिलक को इतनी खुशी हुई थी! इस समय पूर्व बंगाल में सर बमफील्ड फुलर लेफ्टिनेंट गवर्नर थे और वह भेद तथा दमन-नीति का यथेच्छ उपयोग करके इस प्रत्यक्ष प्रतिकार की क्रान्तिकारी भावना को दबाने का अत्याचार-पूर्वक प्रयत्न कर रहे थे। परन्तु लोकमान्य को यह विश्वास था कि यदि लोग निग्रह के साथ एक निश्चय से प्रत्यक्ष प्रतिकार के मार्ग पर दृढ़ रहे तो 'फुल्लरशाह' को झुके बिना चारा नहीं है। स्व० गोखले द्वारा बहिष्कार का समर्थन होते देखकर उन्हें इतनी खुशी हुई थी कि जब गोखले हिन्दुस्तान में आये तो पूना में लोकमान्य ने उनका सार्वजनिक रूप से अभिनन्दन कय।

इस समय भारतीय राजनीति में जो बहिष्कार-आन्दोलन चल रहा था वह बढ़ते-बढ़ते अन्त को निःशस्त्र अथवा सशस्त्र क्रान्ति का रूप धारण कर लेगा—यह अन्दाज उनका था। ज्यों-ज्यों भारतीय राजनीति क्रान्तिवादी बनने लगी, त्यों-त्यों उनका सम्बन्ध इंग्लैंड के समाजवादी दल से अधिकाधिक होने लगा। अबतक भारतीय नेताओं का सम्बन्ध इंग्लैंड के उदार दल से था और दादाभाई आदि राष्ट्रीय नेताओं का विश्वास उस पक्ष के नेताओं पर था। मगर सितम्बर १९०४ को एम्सटर्डम में समाजवादी नेताओं की एक अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् हुई। उसमें दादाभाई ने भारत की करुणास्पद दुःस्थिति का हृदयस्पर्शी चित्र खींचा, जिसने ब्रिटिश साम्राज्य-द्वारा जकड़-बन्द हिन्दुस्तान की ओर संसार के समाजवादी क्रान्तिकारियों का ध्यान आकर्षित किया। उस समय उन तमाम समाजवादियों ने खड़े होकर दादाभाई के भाषण का गौरव बढ़ाया और दादाभाई का जय-घोष किया। इस समय दादाभाई का स्नेह-सम्बन्ध इंग्लैंड के समाजवादी नेता हिण्डमन से हो गया था। जुलाई १९०५ में श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा ने विलायत में 'इंडिया-हाउस' नामक संस्था खड़ी की और उसका उद्घाटन हिण्डमन साहब से कराया। उस जलसे में दादाभाई भी मौजूद थे। हिण्डमन साहब ने अपने भाषण में बहिष्कार की व्याप्ति का जो उल्लेख किया उसपर लोकमान्य तिलक के नीचे लिखे उद्गारों से अच्छा प्रकाश पड़ता है :

"शासक जब लोगों की बात नहीं सुनते तब लोग क्षुब्ध होकर खुद राज्य-शासन करने के लिए उठ खड़े होते हैं। खुद इंग्लैंड के इतिहास में ही इसका उदाहरण मिलता है। अनेक आचार-विचारों से छिन्न-विछिन्न और शासकों द्वारा निःशस्त्र किये गए बेचारे हिन्दुस्तान के लिए यह उपाय शक्य नहीं है; परन्तु, यदि उत्तम रामबाण औषध न मिले तो क्या मामूली दवा-दारू भी न की जाय...अबतक यह समझा जाता था कि विलायत में रोने-धोने से हमारी कोई सुनवाई न होगी; परन्तु अब हिण्डमन साहब ने अपने इस भाषण में ऐसा साफ-साफ कह दिया है कि यह ख्याल गलत है। अधिकार और स्वार्थ के कारण जो पर्दा आंखों पर पड़ा है वह मुंह की भाप से कभी उड़ नहीं जाता...न लॉर्ड कर्जन सुनते हैं, न बॉड्रिक साहब, न पार्लामेंट ही, तब क्या किया जाय ? ऐसा कुछ इलाज करना तो जरूरी है कि जिससे इनकी आंखें खुलें। शस्त्रास्त्रों के द्वारा इस मनमानी का प्रतिकार करना तो असम्भव है तब संघ-शक्ति का प्रयोग विधिवत् शासकों का नशा उतारने में किया जा सके तो साहस और दृढ़ता से ऐसा उद्योग करना हिन्दुस्तान का हित चाहनेवाले प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। हिण्डमन साहब ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन अपने भाषण में किया है...ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय तो 'राष्ट्रीय बहिष्कार' ही इसका एक उपाय मालूम होता है। सर डब्ल्यू० वेडरबर्न ने 'ग्रीनविच एथिकल सोसाइटी' में कांग्रेस पर भाषण देते हुए कहा कि इटली जब आस्ट्रिया के कब्जे में था तब इटालियन लोगों ने विदेशी आस्ट्रियन अधिकारियों का बहिष्कार करके शासन-व्यवस्था असम्भव कर दी थी। वेडरबर्न साहब ने कहा—यदि हिन्दुस्तान के लोग इसी पद्धति को स्वीकार कर लें तो हिन्दुस्तान का शासन करना शासकों के लिए कठिन हो जाय। जिस बहिष्कार का भय उन्हें था वही अवसर आज उपस्थित हो गया है।"[1]

अर्थात् इस बहिष्कार में महज विलायती कपड़े का बहिष्कार ही नहीं बल्कि विलायती माल का बहिष्कार भी शामिल था और वह भी इस बहिष्कार-योग की पहली सीढ़ी थी। अन्त को जाकर कानून-भंग और कर-बन्दी रूपी निःशस्त्र क्रान्ति के अन्तिम शिखर तक पहुंच जाना, इस बहि-

[1] लोकमान्य तिलक के 'केसरी' में लिखे हुए लेखों का संग्रह, भाग ३, पृ० ८-९

ष्कार-योग की परिसीमा थी। दादाभाई नौरोजी ने तो १८८० में ही यह कह दिया था कि स्वदेशी आन्दोलन और विलायती माल के बहिष्कार की हलचल का अन्त ब्रिटिश राज्य के बहिष्कार में हो जायगा और हिन्दुस्तान में क्रान्तिवादी राजनीति फैल जायगी। अब खुल्लम-खुल्ला इस मार्ग का उपदेश करनेवाला एक दल हिन्दुस्तान में पैदा हो गया था और लोकमान्य तिलक उसके नेता बनने जा रहे थे। इन्हीं दिनों आयरलैंड में भी एक निःशस्त्र क्रान्तिवादी दल आर्थर ग्रिफिथ के नेतृत्व में बना और लोकमान्य तिलक को जो कि, पहले से ही आयरलैंड के नेताओं से प्रेरणा लेते रहते थे, ग्रिफिथ साहब का निःशस्त्र क्रान्तिमार्ग ग्रहण करने की प्रवृत्ति हुई हो तो आश्चर्य नहीं। पारनेल की मृत्यु के बाद आयरिश राजनीति पार्लमेंट में बाधा पहुंचाकर शासन-यन्त्र को बेकार बना देने और प्रतिस्पर्धी शासन-व्यवस्था कायम करने के निःशस्त्र क्रान्ति-मार्ग तक आ पहुंची थी। ऐसी दशा में भारतीय राजनीति का क्रम-विकास बहिष्कार-योग के बल पर निःशस्त्र क्रान्तिमार्ग की आर होना स्वाभाविक था। आर्थर ग्रिफिथ का सिनफीन दल पहले निःशस्त्र क्रान्तिवादी था। उसका सारा जोर स्वदेशी, स्वावलम्बन, बहिष्कार और निःशस्त्र प्रतिकार—इन साधनों पर था। एक ओर पार्लमेंट में रुकावट डालना और दूसरी ओर सशस्त्र क्रान्ति इन दोनों के बीच का यह निःशस्त्र क्रान्तिमार्ग था। इसी समय समाजवादी क्रान्तिकारियों में भी आम हड़ताल के रूप में एक प्रकार का निःशस्त्र क्रान्तिवाद पैदा हो रहा था। परन्तु इन सब निःशस्त्र क्रान्तिवादी विचारों को कार्य-रूप में परिणत करने का काम सिर्फ हिन्दुस्तान में ही हुआ है और उसका बहुत-कुछ श्रेय महात्मा गांधी तथा उनके सत्याग्रही तत्वज्ञान को है।

यद्यपि स्वर्गीय गोखले के बहिष्कार-समर्थन से और लोकमान्य तिलक द्वारा उनके सार्वजनिक अभिनन्दन से कुछ समय ऐसा भासित हुआ मानो पूना का पक्ष-भेद मिट गया; परन्तु जानकार और सूक्ष्मदर्शी लोग जानते थे कि दोनों की राजनीति की मूल भूमिका अलग-अलग है। लोकमान्य तिलक भारतीय राजनीति को वैधमार्गी सुधारवाद से हटाकर निशस्त्र क्रान्तिवाद की ओर ले जाने का प्रयत्न कर रहे थे। उसी समय माननीय गोखले अपने गुरु

की वैध राजीति को चिरन्तन करने के लिए 'भारत-सेवक-समाज' की स्थापना कर रहे थे। १२ जून, १९०५ को यह संस्था खुली। उसकी उद्देश्य-पत्रिका में 'ब्रिटिश साम्राज्य-अन्तर्गत स्वराज्य' अपना राष्ट्रीय ध्येय बताया गया है और श्रद्धा व्यक्त की गई है कि अंग्रेजों का हिन्दुस्तान से सम्बन्ध जोड़ने में हिन्दुस्तान का हित करने की ही ईश्वरीय इच्छा है। इसका यह अर्थ हुआ कि अब ब्रिटिश सम्बन्ध तोड़कर पूर्ण स्वतन्त्रता स्थापित करने का प्रयत्न करना मानो ईश्वरीय इच्छा या आज्ञा का भंग करना है।

यह मानना कि एक राष्ट्र का हमेशा दूसरे राष्ट्र के अधीन बना रहना उचित है मानो यह कहना है कि मनुष्यों की दो पृथक् जातियां हैं। एक का विशेष साम्य पशु से है मगर उसे संयोग से मनुष्य नाम दे दिया गया है। अफलातून, अरस्तू आदि पुराने ग्रीक दार्शनिकों का कुछ ऐसा ही ख्याल था और आजकल भी उन बलाढ्य राष्ट्रों के कुछ लोग जो दुर्बल विदेशियों पर शासन कर रहे हैं ऐसी बातें कहा करते हैं। परन्तु अब इन विचारों को कोई भी विचारशील मनुष्य नहीं मानता। हैलेनिक (ग्रीक) लोग ही अकेले शासन करने योग्य है, ऐसी दलील अब कोई नहीं सुन सकता। अब तो शासन-सम्बन्धी विचारों का झुकाव यह मानने की तरफ है कि प्रयत्न या पुरुषार्थ से इच्छित स्थिति प्राप्त की जा सकती है। फिर भी यदि कोई यह साबित कर दे कि फलां जाति या देश अब किसी तरह आगे नहीं बढ़ सकता तो यह कहना कि उनका समूल नाश हो जायगा गलत न होगा और उनका नाश जल्दी-से-जल्दी हो ऐसी इच्छा करना अनैतिक न होगा।[1] इस तरह १९०५ तक के समय में राष्ट्रीय स्वाभिमान की जो जागृति लोकमान्य आदि नेताओं ने की उसकी बदौलत भारत-पुत्रों को यह विश्वास होने लगा था कि हमारा नाश किसी तरह नहीं हो सकता, बल्कि हम स्वतन्त्र होकर रहेंगे और संसार का नेतृत्व करेंगे।

यह दैवयोग की ही बात है कि 'हिन्दुस्तान का परतंत्र होना एक ईश्वरीय प्रसाद है, यह ख्याल जिस तरह एक बंगाली हिंदू नेता ने ही शुरू किया उसी तरह इसके विपरीत एक बंगाली हिन्दू ने ही इस भावना को फैलाया कि ईश्वर का आदेश हो चुका है कि हिन्दुस्तान आजाद हो और

[1] आगरकर का 'निबन्ध-संग्रह' भाग १, पृ० १८३

आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता परमात्मा की एक अवतार-शक्ति ही है। यह ज़ोरदार प्रेरणा लोगों को (योगी) अरविंद से मिली। जिन-जिनके दिलों में राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य की भावना ने संचार कर लिया था वे सुख-दुःख के द्वन्द्व से मुक्त हो गये थे, बल्कि इस भावना की अभिव्यक्ति के लिए हर तरह के कष्ट उठाने में ही अपने जीवन की सार्थकता मानकर एक प्रकार का पारमार्थिक आनन्द अनुभव करने लगे थे। इन अद्वैतानुभवी मुक्त आत्माओं को, जो सुख-दुःखादि द्वंद्वों से परे हो गये थे, कोई भी काम करना कठिन नहीं मालूम होता था न कोई आपत्ति ही दुस्तर मालूम होती थी। वे यह अनुभव करते थे कि जो आपत्ति की प्रचण्ड लहरें हमारे सामने मुंह बाये आ खड़ी होती हैं वे हमें डराने के लिए नहीं, बल्कि हमारे अन्तःकरण की उससे भी प्रचंड शक्ति को अपना प्रचण्डतर सामर्थ्य व्यक्त करने के लिए प्रेम-पूर्वक आवाहन कर रही हैं। उन्हें यह भास होने लगा कि ऊपर से प्रचण्ड दिखाई देनेवाली भौतिक शक्ति पर भी अपना प्रभुत्व चलानेवाली एक प्रचण्डतर शक्ति हमारे अन्तःकरण में है और जो ध्येय या आदर्श मानवी बुद्धि में स्फुरित होते हैं वे इस आत्मशक्ति से ही पैदा होते हैं, बल्कि बाह्यतः विरोधी दिखाई देनेवाली भौतिक शक्ति भी सचमुच हमारे अन्तःकरण की आत्मशक्ति की विरोधक नहीं, किन्तु ऊपर से जड़ दिखाई देनेवाला उसका एक स्वरूप है। बंगाली युवक यह अनुभव करने लगे थे, कि आपत्ति की हिलोरों को पार कर जाना हमारे हृदय के असीम प्रेरणाबल की एक दैवी लीला है और इसलिए उन्हें आध्यात्मिक मोक्ष तथा राष्ट्रीय स्वातंत्र्य में कोई भेद नहीं दिखाई देता था। राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के विषम विग्रह से उत्पन्न आपत्ति की लहरों का मुकाबला वे देहज्ञान भूलकर करते थे और राजनैतिक संग्राम में आध्यात्मिक मोक्ष-पद का अनुभव करने लगे। इस तरह जो बंगाली सारे हिन्दुस्तान में बोदे और दब्बू माने जाते थे वे राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-संग्राम में सबसे आगे निकल गये और जो वेदान्त इस बात के लिए दुनिया भर में बदनाम था कि वह व्यक्ति या राष्ट्र को सांसारिक जीवन-कलह के अयोग्य बना देता है उसीका आधार लेकर वे प्रवृत्ति-क्षेत्र में कूद पड़े और सारे संसार को राष्ट्र-संगठन और राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के मार्ग-दर्शन का गौरव इस प्राचीनतम भारतभूमि के पुत्रों को ही मिलेगा, ऐसी आत्म-विश्वास की

भाषा भी बोलने लगे।

इस बंगाली आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का यथार्थ वर्णन योगी अरविंद के एक भाषण में मिलता है। उपनिषद् के दो पक्षियों की एक कथा का आधार लेकर अरविंदबाबू कहते हैं—"इस कथा में कहा गया है कि मीठे और कड़वे फलों से लदे एक विशाल वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। एक तो पेड़ के अग्र-भाग पर बैठा है और दूसरा उसके नीचे की शाख पर। दूसरा पक्षी जब ऊपर देखता है तब उसे अपने सारे पंख फैलाकर एक वैभव का आनन्द लेनेवाले पहले पक्षी का दर्शन होता है और वह प्रेम से उसपर मोहित हो जाता है। उस समय उसके मन में यह भावना पैदा होती है कि यह वैभवशाली पक्षी कोई गैर नहीं, बल्कि मेरा ही श्रेष्ठतम अन्तरात्मा है। परन्तु जब वह उस वृक्ष के मीठे फलों का स्वाद लेता है तब उसकी मिठास से इतना मुग्ध हो जाता है कि वह अपने इस प्रियतम प्राण-सखा को भूल जाता है। थोड़ी ही देर के बाद उस पेड़ के कड़वे फल खाने की बारी आती है, जिसके कड़वे रस से उसकी मोहनी उतर जाती है और वह फिर अपने तेजपुञ्ज सहचर की ओर देखने लगता है। जाहिर है कि यह कथा जीवात्मा और मोक्ष से संबंध रखती है। यह राष्ट्रीय मोक्ष पर भी उसी तरह घटित होती है। हम हिन्दु-स्तानी विदेशियों की माया के फेर में पड़ गये थे और उसका जाल हमारी आत्मा पर भा फैल गया था। यह माया थी उन विदेशियों के शासन-प्रबन्ध की, विदेशी संस्कृति की, विदेशियों के शक्ति और सामर्थ्य की। हमारे शारी-रिक, बौद्धिक व नैतिक जीवन पर डाली गई मानो ये बेड़ियां ही थीं। हमारी भी यही धारणा बन गई कि हम स्वराज्य और राजनीति के योग्य नहीं हैं। इंग्लैंड की ओर हम एक आदर्श राष्ट्र की दृष्टि से देखने लगे और यह मानने लगे कि वही हमारी मुक्ति करेगा पर वह सब माया थी और थीं बेड़ियां।...हिन्दुस्तान में जो कुछ चैतन्य था उसे नष्ट करने में हमीने उन्हें सहायता दी—छिः छिः हमीं अपने बन्धन के साधन बन गये! हम बंगाली उनकी नौकरी में घुसे और उनका राज्य स्थापित किया। हमें अपनी रक्षा, अपनी शिक्षा और अपने भरण-पोषण के लिए दूसरों की आवश्यकता मालूम पड़ने लगी। हमारी स्वावलम्बन-शक्ति इतनी नष्ट हो गई थी कि हम मानवी जीवन के किसी भी कार्य को करने में असमर्थ

बन गये थे।

"इस माया का विध्वंस बिना दमन और क्लेश के नहीं हो सकता। बंग-भंग का जो कटु फल लार्ड कर्जन ने हमें चखाया उससे हमारा मोह नष्ट हो गया। हम ऊपर निगाह उठाकर देखने लगे और संसार-वृक्ष की चोटी पर बैठा तेज-पुंज पक्षी दूसरा नहीं, हमारा ही अन्तरात्मा है, हमारा वास्तविक प्रत्यगात्मा ही है—यह ज्ञान हमें हो गया। इस तरह हम समझ गये कि हमारा स्वराज्य हमारे ही अन्दर है और उसे पाने तथा उसका साक्षात्कार करने की शक्ति भी हमारे अन्दर है।"

"लोग कहते हैं कि अपने पैरों पर खड़े रहने की ताकत हममें नहीं। उसके लिए विदेशियों की सहायता लेने की जरूरत है। इसलिए उसका विरोध करते हुए भी उनसे सहयोग करना चाहिए। पर हम एक ही समय में परमेश्वर और माया दोनों पर अवलम्बित रह सकते हैं?... तुम शस्त्र के संकटों से न डरो। तुम्हारे मार्ग में रुकावट डालनेवाली शक्ति कितनी ही बड़ी क्यों न हो, तुम चिन्ता न करो। 'तुम स्वतन्त्र हो' यह परमेश्वर का आदेश है और तुम्हें स्वतन्त्रता प्राप्त करनी ही चाहिए। यदि तुमने आत्म-स्वरूप को पहचान लिया तो तुम्हें डरने जैसी कोई बात नहीं हैं। संसार में सत्य, प्रेम और श्रद्धा के लिए असाध्य कुछ नहीं है। यही तुम्हारा धर्म-मन्त्र है और इसके द्वारा बड़े चमत्कार दिखाई देंगे। अपनी सुरक्षितता या सुख के लिए दुमानी भाषा मत बोलो, दुर्बलता को पास मत आने दो। तनकर सीधे खड़े रहो। स्वदेशी का जो दमन किया जा रहा है, इसीसे उसका तेज बढ़ रहा है। लोग कहते हैं, हममें एका नहीं है, यह एका हो कैसे? सब पुत्र मिलकर मातृभूमि की पुकार पर दौड़ पड़ेंगे तो इसीसे एकता हो जायगी। दूसरे झूठे उपायों से हरगिज न होगी।...यह कार्य हमारा नहीं है—हमसे भी बढ़कर एक प्रचण्ड शक्ति हमें आगे बढ़ा रही है और वह हमें तबतक प्रेरणा देती रहेगी जबतक हमारे सब बन्धन टूट न जायं और हिन्दुस्तान सारी दुनिया में एक स्वतन्त्र देश न बन जाय।"[१] एक जगह और वह कहते हैं—"इस परमेश्वरी शक्ति से व्याप्त यह सारा राष्ट्र जब जाग्रत होकर खड़ा हो जायगा और सर्वशक्तिमान् परमेश्वर उसे प्रेरणा करेगा तब कोई

[१] Speech of 'Aurobindo Ghose' P. 61–66.

भी ऐहिक शक्ति उसका प्रतिकार न कर सकेगी और उसकी प्रगति को संसार की कोई भी आपत्ति या बाधा नहीं रोक सकेगी; क्योंकि इसमें परमेश्वर का अधिष्ठान है। यह उसीका कार्य है। वह हमसे कुछ काम करा लेना चाहता है।"

बंगाल में बंग-भंग के प्रतिकार को लेकर जो एक प्रचण्ड शक्ति निर्माण हो रही थी उसे निःशस्त्र क्रान्ति का रूप देकर कांग्रेस की राजनीति को उसका बल मिले यह नीति लोकमान्य की १९०५ से लेकर १९०८ तक थी। इसके विपरीत सर फीरोजशाह आदि पुराने नेताओं की नीति थी कि कांग्रेस को नवीन मार्ग पर न जाने देकर पहले के ही परावलम्बन के पथ पर ज़ोर से खींचकर पकड़े रखें, क्योंकि उन्हें यह आशंका थी कि नवीन शक्ति के प्रकाश में दिखाई पड़े इस पथ पर कांग्रेस चली गई तो न जाने किस खोह में जा गिरेगी! मा० गोखले व बाबू सुरेन्द्रनाथ थे तो यद्यपि पुराने पथ के ही पथिक, पर फिर भी उन्हें सर फीरोजशाह की नीति में हठ और दुराग्रह मालूम होता था। परन्तु इस नवीन शक्ति का खुल्लमखुल्ला स्वागत करने का साहस उनमें न था और उनका विश्वास तो पुरानी नीति पर था ही, इसलिए अन्त में उन्हें सर फीरोजशाह के झण्डे के नीचे ही रहना पड़ा। इस रस्सा-खिंचाई का नतीजा यह हुआ कि कांग्रेस में फूट पड़ गई, जिससे अंग्रेज शासकों ने खूब फायदा उठाया। फलतः भारतीय राष्ट्र-शक्ति कुछ साल तक निश्चेष्ट पड़ी रही!

लोकमान्य ने १९०५ में ही कांग्रेस के दायरे में नवीन दल को बहिष्कार-योग की दीक्षा देकर लाला लाजपतराय और बाबू विपिनचन्द्र पाल की सहायता से नवीन निःशस्त्र क्रान्तिकारी दल की स्थापना की।[1] उस वर्ष गोखले, जिन्होंने 'भारत सेवक समाज' की स्थापना करके पुरानी राजनीति को चिरन्तन करने का प्रयत्न किया था, कांग्रेस के अध्यक्ष थे। उन्होंने अपने भाषण में औपनिवेशिक स्वराज्य को ही हमारा अन्तिम साध्य बताया था, फिर भी उन्होंने बंगाल की विलायती माल के बहिष्कार की हलचल का समर्थन और अभिनन्दन किया था और स्वदेशी-आन्दोलन की पुष्टि की थी। मगर, चूंकि उनके मूल विचारों की भूमिका वही रही, राजनिष्ठा और

[1] Young India by Lajpatrai P. 175.

राष्ट्रनिष्ठा का समन्वय करके उन्होंने अपने भाषण में युवराज के आगमन का स्वागत किया था। इधर बंगाली युवक इसके विरोध में थे। यहांतक कि गोखले को कह देना पड़ा कि यदि युवराज के स्वागत का प्रस्ताव गिर गया तो मुझे अध्यक्ष का स्थान छोड़ देना पड़ेगा। तब लोकमान्य और लालाजी के बीच-बिचाव से यह तय हुआ कि बंगाली युवक प्रस्ताव के विरोध-स्वरूप सभा से उठकर चले जायं और प्रस्ताव बहुमत से मंजूर किया जाय। इस तरह बनारस का कांग्रेस-अधिवेशन निर्विघ्न पूरा हुआ।

सन् १९०६ का साल दो-तीन बातों के लिए प्रसिद्ध है। एक तो इस बहिष्कारयोग का परिणाम बंगाल में शान्ति-युक्त कानून-भंग के रूप में हुआ, जिससे बंगाली नेताओं को तात्कालिक सफलता मिली। इसके कुछ ही दिन बाद (लोकमान्य की प्रेरणा से) श्री दादा सा० खापर्डे ने इस आशय की एक विज्ञप्ति कांग्रेस के कार्यकर्ताओं को भेजी कि आगामी कांग्रेस में कांग्रेस की नीति को नई दिशा मिलनी चाहिए। इसका समर्थन करते हुए लोकमान्य ने लिखा कि जबतक निःशस्त्र कानून-भंग तथा बहिष्कार का अवलम्बन करके शासन-यंत्र को बेकार नहीं बना दिया जायगा तबतक मोर्ले-साहब भी हमें कुछ न दे सकेंगे। उधर विलायत में गोखले और मोर्ले की बातचीत चलती रहती थी, जिससे मोर्ले के उदार विचारों से गोखले प्रभावित हो गये और उनकी साम्राज्य-निष्ठा और भी मजबूत हो गई—यहांतक कि वह तिलक के नवीन प्रयत्न का विरोध करने के लिए भी आमादा हो गये। इधर बंगाली नेताओं ने कानून-भंग का जो छोटा-सा उद्योग किया, उनके साथ ही उन्हें जेल में डाल दिया गया और जब हजारों लोगों ने उनका अनुकरण किया तो उनके सिर फोड़े गये। यह दृश्य देखकर लोकमान्य के आगे की पीढ़ी के कुछ युवकों का विश्वास निःशस्त्र क्रान्ति पर से उठ गया और सशस्त्र क्रान्ति की ओर चल पड़े।

तीसरी महान् घटना यह हुई कि दादाभाई ने कांग्रेस को स्वराज्य का मन्त्र पढ़ाया और पुराने तथा नये दोनों दल के लोगों का सहयोग लेकर स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षा, बहिष्कार और स्वराज्य-सम्बन्धी प्रस्ताव पास करा लिये और नवीन पीढ़ी को 'दृढ़ संकल्प रक्खो, एक होओ और स्वराज्य प्राप्त करो' यह दिव्य संदेश दिया। इस कारण १९०६ की कांग्रेस, जो

कलकत्ते में हुई, आधुनिक भारत के इतिहास में चिरस्मरणीय और युग-प्रवर्तक मानी जाती है। दादाभाई द्वारा निर्धारित यह नीति यदि पुरानी पीढ़ी के लोगों ने मंजूर कर ली होती तो आज कांग्रेस का तथा भारत का इतिहास कुछ और ही बना होता; परन्तु ऐसा उज्जवल इतिहास बनाने जैसी राष्ट्रीय बुद्धि हमारे देश में उस समय पैदा नहीं हुई थी। कांग्रेस पर नवीन पीढ़ी का प्रकृति-दत्त अधिकार है, यह पुरानी पीढ़ी के लोग अभी महसूस नहीं करते थे। कर्मठ सनातनियों की तरह अपनी राजनीति को उन्होंने अचल व चैतन्यशून्य बना दिया था और अपनी साम्राज्यनिष्ठा को परमेश्वरनिष्ठा जैसी त्रिकालाबाधित सत्यनिष्ठा बनाने का मोहान्ध प्रयत्न कर रहे थे। आत्म-प्रत्यय का अभाव और विदेशी सत्ता के दमन से कुचले जाने की भीति—ये दो इस मोहान्धता के वास्तविक कारण हैं। पुराने दल के लोगों का अहंकार इतना बढ़ गया था कि उनके इस मोहान्धकार में यदि कांग्रेस की नैया हठ से खेने में टकराकर चूर-चूर भी हो जाती तो उनके कर्णधारों को दुःख नहीं होता। इधर नवीन दल में अहंकार की कमी न थी; परन्तु उनके पीछे आत्म-श्रद्धा और आत्माहुति की चैतन्य-शक्ति थी। इसलिए, यद्यपि कांग्रेस की नैया के टूटने का कारण दोनों तरफ का अहंकार था, तथापि उसके दोष की जिम्मेदारी पुराने दल के लोगों पर ही आती है। आगे की घटनाओं से यह साफ समझ में आ जायगा।

१९०५ के आरम्भ में इंग्लैंड में उदार मतवादियों का मन्त्रि-मण्डल बना, जिसमें मोर्लेसाहब ने यह जाहिर किया कि बंग-भंग के रद्द करने की आशा किसीको न रखनी चाहिए और न ही यह अपेक्षा रखनी चाहिए कि शासन-व्यवस्था में भी उदार दल कोई जल्दी सुधार करेगा। इसपर लोकमान्य ने स्वावलम्बन का, निश्चय का, निग्रह-सामर्थ्य दिखाने का और विदेशी कपड़े की होली जलाने का उपदेश लोगों को दिया। उन्होंने कहा, "मोर्ले उदार विचार के तत्ववेत्ता हैं; परन्तु भारत-मन्त्री के नाते उनसे हमारे लाभ की कोई भी बड़ी बात कभी नहीं हो सकती जबतक कि हम अपने तेज और बल का परिचय न दें। उन्हें जबतक यह न मालूम हो जायगा कि ब्रिटिश शासन-पद्धति के कष्ट हमारे लिए असह्य हो गये हैं, और हम उनको दूर करने के लिए तुल पड़े हैं, एवं जबतक वे दूर न हो जायंगे तबतक ब्रिटिश शासन

निर्विघ्न नहीं चल सकता, तबतक मीठे लेकिन सूखे शब्दों के सिवा मोर्ले से हमें कुछ नहीं हासिल हो सकता। 'आत्मव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरा-त्मनः' ही हमारा आधार होना चाहिए।"

इस आत्मनिग्रह और दृढ़निश्चय का परिचय लोग किस तरह दें, इसका नमूना अप्रैल में मिल गया। नवम्बर १९०५ में पूर्व बंगाल के ले० गवर्नर फुलरसाहब के सेक्रेटरी ने हुक्म निकाला कि 'वन्देमातरम्' का नारा न लगाया जाय तथा स्वदेशी वहिष्कार-आन्दोलन को दबाने के लिए गोरखों को बुलाकर उन्होंने फौजी-शासन का दौर-दौरा शुरू किया। इसका विरोध करने के लिए बारीसाल में, १९०६ में, प्रान्तीय परिषद् करना तय हुआ। इसपर यह हुक्म निकला कि इस परिषद् में विद्यार्थी भाग न लें और जिन विद्यालयों के विद्यार्थी इसमें जायंगे उनको सरकारी सहायता न मिलेगी। लोगों का कहना था कि 'वन्देमातरम्' का घोष करने से शान्ति भंग होती है, ऐसा मानकर हुक्म निकालना ही बेकायदा है। अतः उन्होंने उस हुक्म के खिलाफ सत्याग्रह करने का निश्चय किया। परिषद् के सभापति के जुलूस में हजारों लोगों ने 'वन्देमातरम्' का जयघोष किया और उसमें सैकड़ों विद्यार्थियों ने हिस्सा लिया। 'वन्देमातरम्' का जय-घोष होते ही बाबू सुरेन्द्रनाथ गिरफ्तार कर लिये गए। पुलिस की लाठियों ने जुलूसवालों के सिर अच्छी तरह फोड़े। इसपर लोकमान्य ने 'केसरी' में लिखा: "जिस प्रकार बाकायदा जुल्म लोगों पर किया जाता है उसी प्रकार शान्ति से, स्थिर भाव से और संकट के सामने हिम्मत न हारकर दृढ़ निश्चय से जुल्म के हुक्मों का प्रतिकार भी प्रजा कर सकती है। जुल्म आखिर जुल्म ही है, फिर वह बाकायदा हो या बेकायदा। जुल्म यदि बाकायदा है तो शान्ति और कष्ट-सहन के द्वारा दृढ़ निश्चय से उसका प्रतिकार करना चाहिए। बंगाल के लोगों ने इस हुक्म को न मानकर कष्ट-सहन करने की अपनी इच्छा व स्वार्थ-त्याग के द्वारा यह दिखा दिया है कि यह आज्ञा अन्यायपूर्ण है। सर-कार ने अप्रत्यक्ष रीति से उस हुक्म को रद्द कर दिया, इसका श्रेय लॉर्ड-मिंटो व मा० मोर्ले को देना चाहिए। 'वन्देमातरम्' का खुल्लमखुल्ला जय-घोष करने का हक प्राप्त करने के लिए बंगाल के नेताओं ने जो अनुकरणीय तेजस्विता दिखाई वह अभिनन्दनीय है।"

यहां यह समझ लेना जरूरी है कि आज्ञा-भंग बाकायदा कैसे हुआ ? इसका अर्थ यह हुआ कि अन्यायपूर्ण कानून का भंग करने के बाद उसकी सजा शान्ति के साथ भुगतने के लिए जबतक लोग तैयार हैं तबतक वह प्रतिकार बाकायदा ही है—ऐसा लोकमान्य तिलक का मत था। कानून कहता है कि ऐसा करो नहीं तो सजा भुगतो। इसमें से किसी भी एक बात को मान लेना एक तरह से बाकायदा ही हुआ, क्योंकि दोनों मार्ग पर चलनेवाले लोग कानून बनानेवालों की सत्ता मानते ही हैं। अतएव कानून भंग करके सजा भुगतने को तैयार होना—यह सत्याग्रही विधि एक तरह से बाकायदा प्रतिकार की—शान्ति, आत्मक्लेश और दृढ़निश्चय-युक्त प्रतिकार की—ही विधि है। इसके अनुसार लोकमान्य ने इसी सत्याग्रह का मार्ग ग्रहण करने का उपदेश कांग्रेस को देना शुरू किया। इसके दूसरे ही सप्ताह में दादा सा० खापर्डे की गश्ती चिट्ठी घूमी और लोकमान्य ने 'केसरी' में लिखा—

"विधि-विहित आन्दोलन से सफलता मिलेगी, ऐसा कहनेवालों के मुंह पर मोर्ले ने यह जो (बंग-भंग-सम्बन्धी) चपत लगाई है, उसे सहन करनेवालों को तथा अब भी भिक्षा-वृत्ति के गीत गानेवालों को पागल या निर्लज्ज समझना चाहिए। हम यह नहीं कहते कि अपने दुःख-दर्द अधिकारियों पर प्रकट न करें या उनके सामने अपनी मांगें पेश न करें। परन्तु राजनैतिक बातों में ब्राह्मणी मांग से काम नहीं चल सकता। मद्रास की प्रान्तिक सभा के अध्यक्ष श्रीकृष्ण स्वामी अय्यर ने भी अपने भाषण में कहा है—हमारे राजनैतिक आन्दोलन की दिशा में अब कोई विशेष परिवर्तन करना चाहिए। 'हिन्दू' के विलायती संवाददाता का भी ऐसा ही कहना है। वह कहता है कि 'पैसिव रेजिस्टेंस' यदि किया जाय तो विलायत के उदार मतवादी लोग उसका समर्थन करेंगे। यह तत्व अब सर्वमान्य हो चुका।"

लोकमान्य तिलक के इधर महाराष्ट्र में सत्याग्रह-मार्ग का उपदेश देकर कांग्रेस में नई नीति दाखिल करने की घोषणा करते ही बंगाल के नेता बाबू विपिनचन्द्र पाल ने 'वन्देमातरम्' में यह ज़ाहिर किया कि पूर्ण स्वतंत्रता ही हमारा ध्येय है और सत्याग्रह अथवा निःशस्त्र प्रतिकार हमारा साधन। उसमें उन्होंने कहा है कि स्वतन्त्रता के ध्येय का अर्थ यह है कि

विदेशी नियंत्रण बिल्कुल न रहे। यह बिल्कुल विधि-विहित ध्येय है। निष्क्रिय प्रतिरोध हमारा साधन है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम सरकार को स्वेच्छापूर्वक किसी प्रकार की सहायता न दें। कौन कह सकता है कि ये साधन पूरी तरह विधि-विहित नहीं हैं ?

इन दिनों लॉर्ड मॉर्ले भारत-मन्त्री थे। वह तत्ववेत्ता माने जाते थे। स्वर्गीय गोखले ने कोकमान्य से कहलाया कि मोर्लेसाहब जो सुधार देना चाहते हैं, उनका विरोध मत करो। लोकमान्य ने एक तरह से इसके जवाब में ही 'केसरी' में एक लेख लिखकर दिखलाया कि "जबतक सरकार की गाड़ी रुक नहीं जायगी, तबतक हमें कोई वास्तविक सुधार नहीं मिलेंगे। जब मॉर्लेसाहब ही नहीं कर्जनसाहब को ऐसा विश्वास हो जायगा कि हिन्दुस्तान के लोगों को महत्वपूर्ण अधिकार दिये बिना गति नहीं है, तभी हिन्दुस्तान को कुछ लाभ हो सकता है। यदि हम केवल उदात्त तत्वों के मनोराज्य में डूबकर, तत्वज्ञान का विश्वास पकड़कर बैठ रहें तो कहना होगा कि हमारे जैसा हतभागी कोई नहीं। हमें यह भूलना न चाहिए कि यह राजनीति है, तत्वज्ञान नहीं।" लोकमान्य का मतलब यह था कि हमारी मांग ब्राह्मण की नहीं, क्षत्रिय की होनी चाहिए। उसके पीछे बल होना चाहिए। तत्ववेत्ता मॉर्ले और राजनेता मॉर्ले की भूमिका में फर्क है। उनका तत्वज्ञान कार्य-रूप में कैसे परिणत हो, इसका मार्ग लोकमान्य ने बताया।

बारीसाल-परिषद् में निःशस्त्र जनता का जो सिर-फुटव्वल हुआ वह दृश्य बाबू अरविन्द घोष ने देखा था। निःशस्त्र प्रतिकार का वह उत्साह-वर्द्धक दृश्य देखकर उन्होंने बड़ौदा का अपना शिक्षाधिकारी का पद छोड़कर बंगाल की निःशस्त्र क्रान्ति के कार्य में पड़ जाने का निश्चय किया। 'वन्देमातरम्' के वह सम्पादक हुए। राष्ट्रीय शिक्षण का काम ज़ोर-शोर से शुरू किया। अरविन्दबाबू की प्रवृत्ति पहले से ही आध्यात्म-प्रवण थी। इससे इस निःशस्त्र क्रान्ति-मार्ग में उन्हें संसार का एक अभिनव क्रान्ति-शास्त्र दिखाई दिया और उस दृष्टि से वह भारतीय राजनीति का आध्यात्मिक स्वरूप लोगों को दिखाने लगे। परन्तु उनके छोटे भाई बारीन्द्रकुमार घोष का इस निःशस्त्र मार्ग पर विश्वास नहीं बैठा। उन्होंने उन्हीं दिनों

स्वामी विवेकानन्द के भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त की सहायता से आध्यात्मिक शक्ति के आधार पर ही, मगर सशस्त्र क्रान्ति का प्रसार बंगाली युवकों में करने का उपक्रम किया। इन्हीं दिनों नासिक में श्री विनायकराव सावरकर 'अभिनव भारत समाज' संस्था के द्वारा सशस्त्र क्रान्तिवाद की दीक्षा दे रहे थे। लोकमान्य तिलक इन स्थितियों से परिचित थे। नासिक में उन्होंने इस विषय पर कहा था कि ये अविचारी युवक किसी दिन अपने गले में फांसी लगवा लेंगे और निश्चय ही नासिक के नेताओं को सिर नीचा करने का मौका आ जायगा। बेलगांव में भी लोकमान्य ने कहा था कि नासिक में कुछ युवक मुझे मिले थे। उनमें बड़ा उत्साह और बड़ी महत्वाकांक्षा है; परन्तु अविचार भी है। ऐसे अविचार और मूर्खता से कार्य-हानि होती है। उनकी बुद्धि ने यह मान लिया था कि आज का राजनैतिक कार्य निःशस्त्र क्रान्ति-मार्ग से ही चलना चाहिए। अविचारी नवयुवकों को सदुपदेश देकर वह उचित मर्यादा में रखने का प्रयत्न करते थे। लोकमान्य महसूस करते थे कि एक ओर भिक्षा देनेवाली वैध राजनीति और दूसरी ओर सशस्त्र क्रान्तिवाली त्वरित और व्यवहार-शून्य राजनीति दोनों को एक ओर रखकर निःशस्त्र क्रान्ति-मार्ग से कांग्रेस की नैया चलाई जाय और यह नवीन दल उसका कर्णधार बने। इसी खयाल से लाला लाजपतराय को कलकत्ता-अधिवेशन के सभापति बनाने की तजवीज श्री० खापर्डे के पत्रक में की गई थी। बंगाल से पालबाबू ने लोकमान्य तिलक का नाम पेश किया। यह देखकर अंग्रेजी अखबारों के रोष का ठिकाना न रहा। अन्त को बाबू सुरेन्द्रनाथ और भूपेन्द्रनाथ—इन नरम दली नेताओं ने दादाभाई नौरोजी को सभापति बनाना तय किया। दादाभाई का नाम पेश होते ही नवीन दल ने अध्यक्षपद का विवाद खत्म कर दिया; क्योंकि उन्हें विश्वास था कि दादाभाई नवीन दल के साथ सहानुभूति रखकर ही काम करेंगे। इस अधिवेशन में स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षण, बहिष्कार और स्वराज्य—ये चार मुख्य प्रस्ताव पास हुए। चारों पर नरम-गरम दलों में खूब वाद-विवाद हुआ। स्वदेशी के प्रस्ताव पर 'Even at a sacrifice' अर्थात् 'त्याग और कष्ट-सहन करके भी' इन शब्दों का नरम दल की ओर से विरोध किया गया। राष्ट्रीय शिक्षा-सम्बन्धी प्रस्ताव पर 'राष्ट्रीय नियन्त्रण में' इन शब्दों का विरोध किया गया। दोनों

में नरम दल की करारी हार हुई। तीसरा महत्व का प्रस्ताव था बहिष्कार का। इस प्रस्ताव पर बहुत गरमागरमी हुई। तब फिर एक गोलमोल मजमून 'Boycott movement inaugurated in Bengal' बनाकर पास किया। नरम दल को व्यापक और सार्वत्रिक बहिष्कार मंजूर नहीं था। पूर्वोक्त गोलमोल भाषा से दोनों दल अपना-अपना अर्थ निकाल सकते थे। एक और विवाद-ग्रस्त मुद्दा था अन्तिम ध्येय और स्वराज्य की मांग-सम्बन्धी। नवीन दल का मत था कि हमारा अन्तिम ध्येय पूर्ण स्वतन्त्रता होना चाहिए। फिर भी वे तात्कालिक मांग के रूप में औपनिवेशिक स्वराज्य का स्पष्ट उल्लेख करके उसकी पहली किस्त के रूप में कुछ सुधार तुरन्त दिये जाने का प्रस्ताव मान लेने के पक्ष में थे। तदनुसार इसी आशय का प्रस्ताव पास किया गया। इसके साथ ही कुछ सुधारों की मांग पेश की गई थी। सरकारी नौकरी के लिए हिन्दुस्तान और इंग्लैंड में एक साथ परीक्षा लेने, भारत-मन्त्री, वाइसराय और गवर्नर के शासन-मण्डल में हिन्दुस्तानियों को काफी प्रतिनिधित्व देने, केन्द्रीय और प्रान्तिक धारा-सभाओं में लोक-प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ाने और उन्हें आय-व्यय और शासन-प्रबन्ध में अधिक नियन्त्रण के अधिकार देने तथा स्थानिक स्वराज्य की वृद्धि करने-सम्बन्धी वे मांगें थीं। इसमें नवीन दल की नीति यह थी कि इन तात्कालिक सुधारों के मिलते ही उनके आधार पर औपनिवेशिक स्वराज्य की मांग की जाय। अंतिम ध्येय तो पूर्ण स्वतन्त्रता उनका कायम था ही। पालबाबू का मत था कि दादाभाई ने अपने भाषण में इसी ध्येय को मंजूर कर लिया है। दादाभाई के भाषण में ध्येय के सम्बन्ध में ये शब्द थे—"Self-government of Swaraj alike that of the United Kingdom of the Colonies." इंग्लैंड-जैसे स्वराज्य का अर्थ पूर्ण स्वतन्त्रता ही है। फिर दादाभाई ने अपने भाषण में सिर्फ स्वराज्य का ही उल्लेख किया है। (Be united, persevere and achieve Self-government—एका करो, दृढ़ उद्योग करो और स्वराज्य प्राप्त करो)। इसमें इंग्लैंड या उपनिवेश का कोई जिक्र नहीं था। दादाभाई के सन्देश पर लोकमान्य तिलक ने लिखा था कि "वृद्ध पितामह दादाभाई ने स्वराज्य की और कांग्रेस की जो गांठ या शृंखला बांध दी है वह अब किसी तरह नहीं तोड़ी जा सकती है।...

स्वराज्य प्राप्त किये बगैर हमारे उद्धार का रास्ता नहीं है, ऐसा जोर के साथ, स्पष्टता से और सरल भाषा में, गद्गद कण्ठ से, दादाभाई ने उपदेश दिया है। इस समय ऐसा मालूम होता था कि मानो कोई वृद्ध देवदूत अपनी युवा-पीढ़ी को अन्तिम उपदेश देने के लिए आसमान से उतरा हो।"

नवीन दल की नीति पर प्रकाश डालते हुए लोकमान्य तिलक ने बताया कि "गरम और नरम शब्दों का अर्थ काल-क्रमानुसार बदलता जायगा। गरम शब्द प्रगति-सूचक है। आज हम गरम कहलाते हैं तो कल हमारे लड़के हमें नरम कहेंगे। प्रत्येक नवीन दल जब पैदा होता है, तब गरम कहलाता है और नरम होकर अन्त पाता है। व्यावहारिक राजनीति का क्षेत्र अमर्याद है। नरम दलवालों का विश्वास ब्रिटिश-राज्य से मदद मांगने पर है और हमारा नहीं; इसलिए हमें दूसरे साधन की जरूरत है और वह हमारे पास है भी। हम न निराश हैं और न निराशावादी हैं। हमें स्वयं अपने ही प्रयत्न से ध्येय-प्राप्ति की आशा है और इसीके लिए नवीन दल का निर्माण हुआ है। श्रीकृष्ण बसीठी के लिए गये थे; परन्तु कौरव और पाण्डव दोनों अपनी-अपनी सेना की तैयारी कर रहे थे, इस ख्याल से कि कहीं बसीठी सफल न हो तो फिर लड़ाई की परिस्थिति का मुकाबला किया जा सके। इसे कहते हैं राजनीति। हमारी मांग यदि ठुकरा दी गई तो हमारे पास लड़ने की तैयारी है क्या ? हमारे पास एक प्रबल राजनैतिक शस्त्र है, वह है बहिष्कार। हमारा मुख्य मुद्दा यह है कि नियन्त्रण की सब सत्ता, हमारे घर की सब कुंजी हमारे ताबे रहनी चाहिए। स्वार्थ-त्याग और आत्म-संयम के द्वारा विदेशी सरकार को हमपर शासन करने में सहायता न देना हमारे बहिष्कार का अर्थ है। लगानवसूली, शान्ति-रक्षा, विदेशों को पैसा ले जाना, न्याय-दान आदि में हम सरकार की सहायता न करेंगे। यदि मुझे पूरी रोटी न मिली और आधी भी मिली तो मैं आधी ही लेकर फिर पूरी हासिल करने का प्रयत्न करूंगा।" इस तरह लोकमान्य के इस भाषण से यह सिद्ध होता है कि उनके मत में एक ओर वैध राजनीति और दूसरी ओर सशस्त्र क्रान्तिकारी राजनीति दोनों के बीच निःशस्त्र क्रान्ति की एक स्वतन्त्र राजनीति है। सन् १९०५ से उसका खुल्लमखुल्ला प्रचार हुआ। इस बहिष्कार पर तात्विक या नैतिक दृष्टि से खुद 'गोखले' को भी आपत्ति न थी। आपत्ति

थी तो इतनी ही थी कि उस परिस्थिति के लिए वह अव्यवहार्य ही है। जब असहयोग के रूप में यही कार्यक्रम महात्मा गांधी ने देश के सामने रक्खा और उसकी व्यावहारिकता की प्रतीति ब्रिटिश राजनेताओं को करा दी, तब स्वर्गीय गोखले के अनुयायी आज तीस वर्ष हो जाने पर भी उसपर ही अव्यावहारिकता का आक्षेप करते आ रहे हैं। आश्चर्य तो यह है कि लोकमान्य तिलक के अनुयायी कहलानेवाले महाराष्ट्र के कुछ लोग भी वही टीका इसपर करते हैं।

आगे चलकर स्वर्गीय गोखले को भी लोकमान्य तिलक आदि की स्वतन्त्र राजनीति को देखकर अपनी राजनीति में परिवर्तन करना पड़ा। ४ फरवरी, १९०७ को प्रयाग में पं० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में 'हमारे सामने का कार्य' इस विषय पर मा० गोखले का एक सुप्रसिद्ध व्याख्यान हुआ। उसमें उन्होंने कहा था, "मैं चाहता हूं कि किसी प्रकार के वर्ण-भेद अथवा धर्म-भेद का लिहाज न करके हमारे देश के स्त्री-पुरुषों को अपने देश के सब गुणों का पूर्ण विकास करने का अवसर मिले और उसपर किसी प्रकार के कृत्रिम अथवा विकास-विरोधी बन्धन न डाले जायं। मैं चाहता हूं कि राजनैतिक, औद्योगिक, धार्मिक, साहित्यिक, शास्त्रीय और कलात्मक सब क्षेत्रों में हिन्दुस्तान को संसार के बड़े राष्ट्रों में उचित स्थान मिले; लेकिन मेरा यह ख्याल है कि यह सब चीजें वस्तुतः और सारतः इसी साम्राज्य में मिल सकेंगी। वैध राजनीति में पहली बात यह है कि शस्त्र-बल का त्याग हो; विद्रोह या बगावत, दूसरे बाहरी राज्य का नियंत्रण या सहायता और अत्याचार या हिंसा का अवलम्बन, ये तीन बातें वर्ज्य हैं। अर्थात् जो कुछ वैध हो, वह समझदारी और व्यावहारिकता से युक्त होगा ही, यह नहीं कह सकते। अनुनय-विनय से लेकर कर-बन्दी तक अर्थात् निःशस्त्र प्रतिकार तक यह सब वैध-मार्ग में आ जाता है। अतः हमारे देश में आज जो कुछ हो रहा है वह सब अवैध है, ऐसा नहीं कह सकते। दूसरा लक्षण यह भी बताया जा सकता है कि हमें जो कुछ न्याय प्राप्त करना है वह अपने देश की प्रस्थापित राज्य-सत्ता से ही प्राप्त कर लेना है और इसके लिए हमें सत्ताधारियों पर दबाव डालते रहना चाहिए। इस दबाव का अधार होगा हमारे पीछे रहनेवाले लोकमत का बल और निश्चय।

यह बल निर्माण करने का हमें दृढ़ निश्चय करना चाहिए। केवल इतनी सदिच्छा से काम न चलेगा कि हमारे देश से उद्योग-धन्धों की तरक्की होनी चाहिए। स्वदेशी में इस कल्पना का भी समावेश होता है कि स्वदेशी उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए हम शक्ति-भर स्वेच्छा से कुछ त्याग करें। परन्तु इसके लिए बहिष्कार शब्द का प्रयोग करना उचित न होगा; क्योंकि बहिष्कार में दूसरों को नुकसान पहुंचाने की प्रतिहिंसा का भाव आता है, जिससे अकारण विरोधी भावना जाग्रत होकर स्वदेशी के कार्य में विघ्न उपस्थित होते हैं।...(राजकीय) बहिष्कार को इस परिस्थिति में शक्य मानना तो विचित्र ही होगा। सरकार को जितने नौकर मिल जाते हैं, उतने यदि न मिल सकें तब तो इस बहिष्कार का असर सरकार पर होगा; परंतु यह विचार तो व्यवहार्य कोटि में ही नहीं आता। स्थानिक स्वराज्य, म्युनिसिपैलिटी, धारा-सभा आदि संस्थाओं का बहिष्कार करेंगे तो उन खाली जगहों पर दूसरे लोग आ धमकेंगे और उनके द्वारा हमें जो लोक-सेवा करने का अवसर मिला था वह व्यर्थ चला गया, ऐसी प्रतीति खुद हट जाने-वालों को ही हो जायगी। अतएव इस मार्ग का अवलम्बन करने से राष्ट्र का हित नहीं, अहित होगा। जो यह कहते हैं, स्वराज्य प्राप्त करने का एक मात्र या एक उपाय है सार्वजनिक बहिष्कार ही; उनसे मैं कहना चाहता हूं कि करबन्दी निःशस्त्र प्रतिकार का अत्यन्त प्रभावशाली और सरल उपाय है। जिनकी यह राय है कि वर्तमान परिस्थिति में निःशस्त्र प्रतिकार करना चाहिए वे यदि करबन्दी का अवलम्बन करेंगे तो उन्हें तुरन्त पता लग जायगा कि हम कहां हैं।"[1]

दुर्भाग्य की बात है कि आज यही आपत्तियां लोकमान्य के कुछ अनु-यायी कांग्रेस के असहयोग पर करते हैं। विदेशी माल के बहिष्कार का जिक्र किया नहीं कि वे कहते हैं कि देश के लिए आवश्यक सारा विलायती माल एकदम तैयार करके दे दीजिये। सरकारी स्कूलों के बहिष्कार की बात चलाते हैं तो वे झट से कह देते हैं कि उनकी जगह राष्ट्रीय स्कूल खोलकर बताइये। निःशस्त्र प्रतिकार अथवा सत्याग्रह का नाम लिया नहीं कि उन्होंने चुनौती दी नहीं : अच्छा, हिन्दुस्तान में सब जगह करबन्दी की घोषणा

[1] Speech of Gopal Krishna Gokhale Page 1104—12

करके देखिये ! जो लोगों को आगे ले जाना नहीं चाहते या इसका सामर्थ्य नहीं रखते उनका यह सनातन आक्षेप-शास्त्र ही समझिये। यह राष्ट्र को आगे बढ़ाने का तरीका नहीं है। बहिष्कारयोग के सम्बन्ध में लोकमान्य सदा 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' या 'न हि कल्याणकृत् कश्चित दुर्गतिं तात गच्छति' भगवद्गीता के इस वचन का आधार लिया करते थे। राष्ट्रीय पक्ष को उस समय सिर्फ विलायती माल के बहिष्कार का तथा लियन सर्कुलर जैसे अन्यायपूर्ण हुक्मों को न मानने के रूप में सत्याग्रह का कार्यक्रम देश के सामने रखना था और यह दिखा देना था कि इनके अवलम्बन से अन्त में बहिष्कार-योग के अन्तिम शिखर तक पहुंचकर स्वराज्य प्राप्त किया जा सकेगा; परन्तु प्रागतिक पक्ष की उस समय इतनी तैयारी नहीं थी। वह तो स्वातन्त्र्यवादी युवक-दल को कांग्रेस में रहने ही नहीं देना चाहता था। परन्तु दादाभाई नौरोजी के सभापतित्व में हुई कांग्रेस में उनकी बात नहीं चली और बहिष्कार-योग पास हो गया। तब प्रागतिक दल ने यह निश्चय किया कि अगले साल इस प्रभाव को केवल विदेशी माल व बंगाल तक मर्यादित कर दिया जाय, कांग्रेस का अन्तिम ध्येय औपनिवेशिक स्वराज्य बना दिया जाय, जिससे बंगाल का युवक-दल अपने-आप उससे बाहर निकल जायगा और फिर हम, जैसा चाहेंगे, प्रस्ताव पास कर लेंगे। यह उस समय इनकी नीति थी। इसके विपरीत लोकमान्य का यह दृढ़ निश्चय था कि बंगाल के युवक-दल को किसी भी दशा में कांग्रेस से बाहर न जाने दिया जाय और बहिष्कार के प्रस्ताव में कलकत्ता से पीछे बिल्कुल न हटा जाय।

इस समय बंगाल की राजनीति को एक तरफ बाबू विपिनचन्द्र पाल व अरविन्द घोष आगे खींच रहे थे तो दूसरी तरफ सर फीरोजशाह मेहता पीछे हटा रहे थे। मा० गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, लोकमान्य तिलक और लाला लाजपतराय ये दोनों के बीच में खड़े दिखाई देते हैं। इन चार नेताओं को इस बात की बड़ी चिन्ता थी कि कांग्रेस में फूट न फैले, उसकी शक्ति छिन्न-भिन्न न हो और विरोधियों को उसका फायदा न मिल सके। विपिनबाबू व अरविन्द घोष को सम्हालने की जिम्मेदारी लोकमान्य तिलक ने ली। इधर गोखले व सुरेन्द्रबाबू ने मेहता वाच्छा को कुछ आगे खींचने

की कोशिश की। फलतः कलकत्ता में दादाभाई के सभापतित्व में व उनके प्रभाव से, यह तजवीज पार पड़ गई। अब यदि दोनों दलों को एक ही संस्था में काम करना था तो कलकत्ता का यह प्रस्ताव नहीं बदला जाना चाहिए था। परन्तु सर फीरोजशाह हठ ठान बैठे और अन्त को गोखले तथा बनर्जी भी उसके शिकार हो गये, जिससे सन् १६०७ के सूरत के अधिवेशन में कांग्रेस के दो टुकड़े हो गये।

इस साल कांग्रेस का अधिवेशन नागपुर में होनेवाला था; परन्तु वहां का वातावरण अपने अनुकूल न पाकर इसके अधिकारियों अर्थात् प्रागतिक दल के नेताओं ने ऐन वक्त पर सूरत में अधिवेशन करना तय किया। तरुण बंगाल की नवीन राजनीति को कांग्रेस से हटाने का ही यह उपक्रम था। किन्तु मा० गोखले को यह डर था कि नवीन दल नागपुर में कांग्रेस करने का प्रयत्न करेगा और इस तरह कांग्रेस के दो टुकड़े हो जायंगे। उन्होंने सर वेडरबर्न को लिखा कि ऐसा होने से नौकरशाही किसी भी दल को दाद न देगी और राष्ट्र-कार्य बिगड़ेगा। यह पत्र मोर्लेसाहब के हाथ लगा और उन्होंने लॉर्ड मिण्टो को लिखा कि यदि गोखले 'सुधार व शान्ति' इन सिद्धांतों को लेकर सरकार से समझौता कर लेंगे तो कांग्रेस के टुकड़े हो जाने पर भी उनका कुछ नहीं बिगड़ेगा और वे शासन में जो-जो सुधार चाहेंगे उनमें साठ-सत्तर फीसदी उनके पल्ले पड़ जायंगे। मोर्लेसाहब की यह इच्छा सफल हुई और राष्ट्र पर संकट आने-सम्बन्धी गोखले की आशंका अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। यदि पुराने दल के लोग यह आश्वासन दे देते कि कलकत्ता में पास हुए चारों प्रस्ताव ज्यों-के-त्यों कायम रहेंगे तो सारा विरोध और झगड़ा जहां-का-तहां खत्म हो सकता था। इसलिए इसकी जिम्मेवारी नये की अपेक्षा पुराने दल पर ही अधिक आती है।

सूरत में कांग्रेस का अंग-भंग हो जाने के थोड़े ही दिनों बाद सरकार ने राष्ट्रीय दल को नेस्तनाबूद करने के लिए घोर दमन-नीति शुरू की। इसका श्रीगणेश तो हुआ १६०७ में लाला लाजपतराय के निर्वासन से। वह सूरत की कांग्रेस के कुछ दिन पहले ही छोड़ दिये गये; किन्तु सूरत-कांड के बाद यह दमन का दौर-दौरा फिर शुरू हुआ। १६०८ के मध्य में लोकमान्य को छः वर्ष कड़ी कैद की सजा ठोकी गई। मद्रास में चिदंबरम् पिल्ले,

बंगाल में अरविन्द घोष, विपिनबाबू आदि कई छोटे-बड़े नेताओं पर हाथ साफ किया गया। चारों ओर दमन और भय का राज्य सरकार ने फैला दिया। राष्ट्रीय दल ने १९०८ के दिसम्बर में कांग्रेस-अधिवेशन करने का निश्चय किया, जो गैर-कानूनी ठहरा दिया गया। अब राष्ट्रीय दल के लिए खुल्लमखुल्ला काम करना असम्भव हो गया।

इसी समय देश के युवकों में सशस्त्र क्रान्ति व गुप्त षड्यन्त्रोंवाली राजनीति का खूब ज़ोर जमा। दिसम्बर १९०७ में 'इंडियन सोश्यालाजिस्ट' के द्वारा श्यामजी कृष्ण वर्मा ने यह कहना शुरू किया कि हिन्दुस्तान में अब गुप्त रूप से तथा रूसी क्रान्तिकारियों के ढंग से आन्दोलन चलना चाहिए। इधर श्री विनायकराव सावरकर श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा से जा मिले और उधर बंगाल में 'युगान्तर','सन्ध्या' पत्रों के द्वारा गुप्त षड्यन्त्रों और सशस्त्र क्रान्ति का आन्दोलन फैलाया जा रहा था। वारीन्द्रकुमार घोष बंगाली युवकों का गुप्त रूप से संगठन कर रहे थे। अप्रैल १९०८ में बंगाल का पहला धड़ाका हुआ, जिसपर लेख लिखने के कारण लोकमान्य को सजा दी गई। १९०८ से दो-तीन साल तक इस तरह एक ओर से गुप्त षड्यन्त्रकारियों तथा दूसरी तरफ से सरकारी आतंकवाद के दो-दो हाथ हो रहे थे। इसी बीच गोखले जैसे नेता शान्ति-रक्षा में सरकार की सहायता कर रहे थे और कांग्रेस असहाय बनकर यह दृश्य देख रही थी। सरकार राष्ट्रीय नेताओं से शान्तिरक्षा में सहयोग की मांग कर रही थी, उधर अरविन्दबाबू कह रहे थे कि जबतक नागरिकता के मूलभूत अधिकार नहीं दिये जाते और स्वराज्य की नींव नहीं डाली जाती तबतक सहयोग नहीं दिया जा सकता। उन्होंने कहा—"हम स्वावलम्बन और निःशस्त्र प्रतिकार के द्वारा अपना ध्येय प्राप्त कर सकेंगे। हमारे पास लोगों की न्याय्य आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए एक ही मार्ग है निःशस्त्र प्रतिकार का। इसके द्वारा हम शान्ति व सुव्यवस्था की रक्षा में सहयोग दे सकते हैं।" इसका अर्थ यह हुआ कि अरविन्दबाबू की सम्मति में लोगों की स्वातन्त्र्य-भावना का दमन करने में सरकार को सहयोग देना घातक व तत्वभ्रष्टता है। और उनका यह कथन अकाट्य है। सरकारी दमनशाही के विषय में 'वन्देमातरम्' ने लिखा—"हमेशा याद रखना चाहिए कि दमन-नीति के द्वारा लोगों को

भयभीत करने का यत्न करना मानो आग से खेलना है। प्रेम से प्रेम बढ़ता है, विश्वास से विश्वास पैदा होता है, समझदारी से समझदारी को गति मिलती है और सहानुभूति से सहानुभूति जाग्रत होती है। इसके विपरीत द्वेष से द्वेष फैलता है, सन्देह से सन्देह जाग्रत होता है, आतंकवाद आतंकवाद को जन्म देता है। दमन-नीति से लोगों के विचार, भावना या आकांक्षा कमजोर नहीं पड़ेगी, उल्टी और ज़ोर पकड़ेगी। इस दमन-नीति से लोगों को यह निश्चय हो जायगा कि हमारे नेता ध्येय के लिए आन्दोलन कर रहे हैं। वह ब्रिटिश सरकार के कायम करने तक सम्भव नहीं है। इससे गरम दल का ज़ोर बढ़ेगा और प्रागतिक प्रचार नेस्तनाबूद हो जायगा।"

यदि प्रागतिक दल के लोग सरकार को उचित सलाह देते तो यह स्थिति रुक सकती थी; परन्तु उन्होने यह समझ रखा था कि गरम राजनीति लार्ड कर्जन के अत्याचारों और मनमानी का एक क्षणिक फल है। ब्रिटिश सरकार यदि दमन बन्द करके शासन में कुछ सुधार कर दे तो यह अपने-आप बैठ जायगी। लेकिन यह उनका निरा भ्रम था। इसके उत्तर में अरविन्दबाबू कहते हैं—"राष्ट्रवाद के सन्देश का जन्म निराशा से नहीं हुआ है, न वह अत्याचार में से उदय हुआ।...इसका जन्म श्रीकृष्ण की तरह बन्दीगृह में हुआ है। जिन्हें अनियन्त्रित किन्तु उदार सुराज्यवाला हिंदुस्तान जेल की कालकोठरी की तरह असल मालूम होता था, उनके हृदय में इसका जन्म हुआ है। श्रीकृष्ण का लालन-पालन जैसे दरिद्र और अज्ञानी जनता के अज्ञात घर में हुआ उसी तरह यह राष्ट्रवाद संन्यासियों की गुहा में, फकीरों के वेश में, युवकों और लड़कों के हृदयों में, जो लोग अंग्रेजी का एक अक्षर भी नहीं जानते थे मगर जो मातृभूमि के लिए बलिदान हो जाना चाहते थे, उनके अन्तःकरण में और जिन पढ़े-लिखे लोगों ने इस यन्त्र का नाम सुनते ही अपनी धन-दौलत और पद-प्रतिष्ठा को लात मारकर लोक-सेवा और लोकजागृति का व्रत धारण किया उनके जीवनों में धीरे-धीरे बढ़ा और पनपा है। हां, अत्याचार के कारण सारे देश ने उसको अंगीकार जरूर किया, मगर उसका जन्म अत्याचार में से नहीं हुआ। यह राष्ट्र-धर्म एक अवतार ही है। इसका अन्त कदापि नहीं हो सकता। यह परमात्म-नियुक्त शक्ति है और वह ईश्वर-नियोजित कार्य को पूरा किये बगैर विश्व की चित

शक्ति में, जहां से कि उसका उद्गम हुआ है, फिर नहीं मिलने की।"

एक ओर इस दुर्दमनीय राष्ट्र-शक्ति का वास्तविक स्वरूप प्रागतिक दल के ध्यान में नहीं आता था और दूसरी तरफ ब्रिटिश सत्ताधारी और राजनेता उसे खत्म करने पर कमरबस्ता थे, फिर भी उसका उत्साह सतत बढ़ता जा रहा था। ऐसी दशा में ज़ालिम साम्राज्यवाद और क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद में, कुछ समय के लिए ही क्यों न हो, एक प्रकार का सशस्त्र मुकाबला होने जा रहा था और उसे टालना अरविन्दबाबू को असम्भव-सा मालूम होता था। साथ ही उन्हें यह आशा भी न थी कि इस सशस्त्र मुकाबले में राष्ट्रवाद की विजय होगी। उनकी बुद्धि तो यह मान गई थी कि निःशस्त्र प्रतिकार के रणांगण में राष्ट्रवाद दुर्द्धर्ष होकर रहेगा; परन्तु उनके सामने यह एक समस्या थी कि निःशस्त्र रणांगण में उसे कैसे ले जायं? न सरकार, न प्रागतिक दल के नेता इसमें उनकी सहायता करने को तैयार थे। इधर यह खबर भी उनके कान तक पहुंची थी कि और नेताओं की तरह उन्हें भी देश-निकाला जल्दी होनेवाला है। उन्होंने यह भी देखा कि राष्ट्र के द्वारा निःशस्त्र क्रान्ति का प्रयोग सफल कराने योग्य नेतृत्व उनके पास नहीं है और कम-से-कम इस समय यह काम उनके हाथों होता नहीं दिखाई पड़ता। इसीलिए उन्होंने तय किया कि कुछ समय देश छोड़कर चले जायं और योग-साधन के द्वारा वह शक्ति प्राप्त की जाय। वह पांडीचेरी चले गये और योग-साधना में लग गये। जाते समय जुलाई १९०९ में अपने देशबन्धुओं के नाम उन्होंने एक अन्तिम पत्र लिखा था, जिसका महत्व का भाग यहां दिया जाता है—

"कुछ लोगों का यह खयाल हो गया है कि राष्ट्रीय पक्ष मर गया। यह गलत है। वह वैसा ही सजीव है। उसकी शक्ति व व्याप्ति बिल्कुल कम नहीं हुई है। हां, एक नेता और नीति की आवश्यकता जरूर है। नीति तो मिल जायगी; परन्तु नेता परमेश्वर ही दे सकेगा। जबतक ईश्वर-नियोजित नेता नहीं आता और हम परमेश्वरी शक्ति के आविष्कार के साधन नहीं बनते तबतक बड़े आन्दोलन रुके रहते हैं, पर ज्योंही वह आता है वे विजय-प्राप्ति के लिए आगे बढ़ते हैं। आजतक जिन लोगों ने इस आन्दोलन का नेतृत्व किया वे जवांमर्द थे, उनमें बड़े-बड़े गुण थे, महान् प्रतिभा थी।

किसी भी बड़े आन्दोलन का नेतृत्व करने जैसी महत्ता उनमें थी; परन्तु इस संसार-व्यापी क्रांति के प्रमुख प्रवाह का अन्त तक नेतृत्व करने की उनकी शक्ति पूर्ण नहीं साबित हुई। अतएव राष्ट्रीय दल को, जो कि भावी काल का ट्रस्टी है, ऐसे किसी नेता के आने तक अब राह देखना चाहिए। विपत्ति में धैर्य न छोड़े, पराजय में आशा न छोड़े। यह विश्वास रखे कि अन्त में विजय अवश्य मिलेगी और हिन्दुस्तान की भावी पीढ़ी और संसार में दूसरे राष्ट्रों के प्रति जो जिम्मेदारी हमपर है उसे न भूलें।

"जबतक वह समय न आये तबतक हमें धीमे-धीमे कदम बढ़ाना चाहिए। इस परिस्थिति में हमारा बल नैतिक है, भौतिक नहीं। इस नैतिक बल पर ही अन्त में हमारी विजय पाने की आशा अवलंबित है। जल्दबाजी में या दुस्साहस से, जिस क्षेत्र में हम प्रबल हैं उसे छोड़कर, जिस क्षेत्र में हम कमजोर है उसमें आने की गलती न करें। स्वराज्य अथवा पर-नियंत्रण-मुक्त पूर्ण-स्वातंत्र्य हमारा ध्येय, स्वावलंबन और प्रतिकार हमारा साधन है। इस ध्येय में किसी राष्ट्र के या हमारे देश पर राज करनेवाली सरकार के प्रति द्वेष का समावेश नहीं। जो यह कहते हैं कि हमारी इस आकांक्षा में द्वेष और अत्याचार का संचार अवश्य हो जायगा वे गलत कहते हैं। हमारी देश-भक्ति के ध्येय का अधिष्ठान प्रेम और बन्धुभाव है और उसमें मानव-जाति के अंतिम ऐक्य का भी समावेश होता है। जो हमारे इन अधिकारों को देने से इन्कार करते हैं, उनके प्रति द्वेष रखने की जरूरत नहीं। उसमें तो सिर्फ प्रयत्न करना, कष्ट भोगना, किसी भी व्यक्तिगत विचार को स्थान न देते हुए सच बोलना और जो सत्ता प्रगति-धर्म का विरोध करती है उसको उलटकर अपनी सत्ता प्रस्थापित करने के लिए प्रत्येक विधिवत् साधन और नैतिक बल का उपयोग करना—इतनी ही बातों का समावेश होता है।"

राष्ट्रीय और प्रागतिक दल में समझौता कराने की दृष्टि से वे कहते हैं, "स्वराज्य-सम्बन्धी प्रस्ताव में 'औपनिवेशिक स्वराज्य' की जगह 'पूर्ण स्वराज्य' शब्द डालने से झगड़ा मिट सकेगा। निःशस्त्र प्रतिकार-सम्बन्धी वाद का लगाव बहिष्कार के प्रस्ताव से है। इस सम्बन्ध में राष्ट्रीय दल अपने सिद्धांत का त्याग न कर सकेगा। बहुतेरे प्रागतिक लोग भी उसका समर्थन

करते हैं; परन्तु इसका फैसला भी स्वतंत्र रूप से निर्वाचित कांग्रेस के बहुमत द्वारा कर लेने को वह तैयार है। प्रागतिक और राष्ट्रीय दल का मतभेद इसी बात में है कि राष्ट्रीय दल जैसे-तैसे व नाम मात्र के शासन-सुधार स्वीकार करके अपना ध्येय छोड़ने के लिए और लोगों को यह दिखाने के लिए कि हमें वास्तविक अधिकार मिल गये हैं, तैयार नहीं है।"

थोडे ही दिनों में अरविंदबाबू पांडीचेरी चले गये। उसके बाद बंगाल में प्रागतिक राजनीति का सदा के लिए खातमा हो गया। युवक बंगाल बहुत-कुछ सशस्त्र क्रान्तिवादी बन गया और यह सशस्त्र क्रान्तिवाद कल तक वहां जीवित था। इस क्रान्तिवाद को महज अधिकारियों का खून करने-वाला आतंकवाद न कहना चाहिए। बारीन्द्रकुमार ने अदालत में अपने बयान में कहा था कि हम यह नहीं मानते कि राजनैतिक हत्याओं से स्वाधीनता मिल जायगी। हम तो यह इसलिए करते हैं कि लोगों को उसकी जरूरत है।[1] ये क्रांतिकारी संस्थाएं रूस और इटली के गुप्त षड्यंत्रों की लाइन पर काम कर रही थीं।

जब महात्मा गांधी ने भारतीय राजनीति की बागडोर अपने हाथों में ली तब अरविंदबाबू, विपिनबाबू, लोकमान्य तिलक द्वारा प्रवर्तित बहिष्कार-योग का पुनर्जीवन, असहयोग के रूप में हुआ। फलतः बंगाल का सशस्त्र क्रांतिवाद सब जगह नहीं फैलने पाया। आज तो बंगाल के सशस्त्र क्रांतिवादी भी महात्मा गांधी के निःशस्त्र क्रांतिवाद का अवलंबन करने की नीति घोषित कर रहे है और निःशस्त्र क्रांति की दीक्षा ले चुकनेवाली कांग्रेस में शामिल हो रहे है। जो लोग सशस्त्र क्रांति की अन्तिम आवश्यकता को स्वीकार करते हैं वे भी साम्यवाद के क्रांतिशास्त्र का अवलंबन करके वर्ग-संगठन का प्रकट कार्य कानून-कायदे और शांति की व्यावहारिक मर्यादा में रहकर करने लगे हैं। इस तरह आज के हिन्दुस्तान में महात्मा गांधी का अहिंसात्मक निःशस्त्र क्रान्तिशास्त्र और साम्यवाद का वैज्ञानिक क्रान्तिशास्त्र यही दो क्रान्तिकारी राजनीतियां बाकी बच रही हैं। इनमें से कांग्रेस ने तो आज महात्मा गांधी के निःशस्त्र क्रान्तिशास्त्र को स्वीकार किया है। इन दोनों क्रान्तिशास्त्रों में क्या भेद है—इसकी चर्चा हम इस पुस्तक के अन्तिम दो प्रकरणों में करेंगे।

[1] Speeches of Aurobindo Ghose, Appendix.

: ९ :

राष्ट्रीय आपद्धर्म

१९०९ ईस्वी में मॉर्ले-मिण्टो-सुधार अमल में आये। १९१० में लार्ड मिंटो गये और लार्ड हार्डिंग वाइसराय बनकर आये। तबसे भारतीय राजनीति में एक नवीन युग शुरू हुआ और वह लगभग दस वर्ष तक रहा, जिसे राष्ट्रीय दृष्टि से एक आपत्काल ही कहना चाहिए। इसे मॉर्ले-मिंटो-सुधारकाल कहते हैं। राष्ट्रीय दल को यह मंजूर न था। प्रागतिक बंगाली नेता भी कहते थे कि जबतक बंग-भंग रद्द नहीं हो जाता तबतक हम इन सुधारों को स्वीकार नहीं करेंगे और न नई धारा-सभाओं में जायंगे। राष्ट्रीय दल दमन की चक्की में पीस दिया गया था और लोकमान्य तिलक मांडले में जेल काट रहे थे। देश के उत्साही युवक सशस्त्र क्रान्तिकारी बनकर इधर-उधर हिंसा-कांड करते थे और अमरीका, यूरोप में जाकर षड्यन्त्र रचते थे। इस समय बंगाल और महाराष्ट्र की तरह पंजाब में लाला हरदयाल के नेतृत्व में एक सशस्त्र क्रान्ति-दल स्थापित हुआ, जो अमरीका में गदर पार्टी कहलाया। बाद में इस क्रान्तिकारी दल का सूत्र यूरोपीय महाभारत के समय में जर्मनी से जुड़ गया और रूस की राज्यक्रान्ति के समय श्री मानवेन्द्र राय आदि भारतीय साम्यवादियों का सम्बन्ध रूस के बोलशेविकों से हो गया; परन्तु हिन्दुस्तान में साम्यवादियों का क्रान्तिवाद १९२२ तक एक दल के रूप में प्रतिष्ठित नहीं हुआ था। इसी प्रकार निःशस्त्र क्रान्तिवादी राष्ट्रीय दल भी एक प्रकार के प्रच्छन्न रूप में ही काम कर रहा था।

इन दस वर्षों के दो हिस्से हो जाते हैं—१९१० से १९१५ तक और १९१५ से १९२० तक। १९१० से १९१५ तक दोनों प्रकार के क्रान्तिवाद अथवा राष्ट्रवाद किसी तरह जीवित रहने का प्रयत्न कर रहे थे। १९१४ के अन्त में यूरोपीय महाभारत शुरू हुआ, जिससे दोनों राष्ट्रवादों को अपना जोर जमाने का मौका मिला। जून १९१४ में लोकमान्य तिलक मांडले से छूटकर लौटे और उन्होंने राष्ट्रीय दल के संगठन का काम शुरू किया। १९१५ से १९२० तक राष्ट्रीय दल के संगठन और संवर्द्धन का काम लोकमान्य ने किया और कांग्रेस जो प्रागतिक दल के हाथ में थी उसे

अपने प्रभाव में लेकर महात्मा गांधी के निःशस्त्र क्रांतिवादी राजनीति के लिए एक प्रभावशाली राष्ट्रीय संस्था बना दी। अलबत्ता १९०५ के बहिष्कार-योग की क्रांतिवादी राजनीति का पुनरुज्जीवन वह उस समय न कर सके। यह कार्य महात्मा गांधी ने १९२० में किया और १९०७ में सूरत में जो राजनीति की शृंखला टूट गई थी उसे फिर से जोड़ा। लोकमान्य के जेल-काल में गरम राजनीति की स्मृति को जागृत रखने का कार्य श्री न० चि० केलकर ने किया।

१९११ के अंत में दिल्ली-दरबार हुआ, जिसमें सम्राट् पंचम जार्ज का राज्याभिषेक घोषित किया गया। इस समय बंग-भंग रद्द किया गया और राजधानी कलकत्ते से दिल्ली लाई गई। इन्हीं दिनों अर्थात् अगस्त १९११ में लार्ड हार्डिंग ने इस आशय का एक खरीता विलायत भेजा कि मॉर्ले-मिंटो-सुधारों का विकास प्रान्तिक स्वराज्य में होना आवश्यक है। इससे बाबू सुरेन्द्रनाथ ही नहीं, विपिनबाबू भी बहुत सन्तुष्ट हुए। लार्ड हार्डिंग के दिल्ली-प्रवेश के समय किसीने उनपर बम फेंका; परन्तु उससे प्रभावित होकर उन्होंने दमन-नीति का आश्रय नहीं लिया और लोकपक्ष से समझौता करने की नीति ही अपनाये रखी। यह समय गोखले की नरम नीति के दौर-दौरे का था। दक्षिण अफ्रीका के भारतवासियों के सत्याग्रह का पृष्ट-पोषण करने में माननीय गोखले और लार्ड हार्डिंग दोनों साथ दे रहे थे। ऐसे समय में श्री केलकर ने बहिष्कार-योग की नीति को छोड़ देना ठीक समझा। जब बड़े काम के लायक बड़ा नेता न हो तब सामान्य लोगों को यह कहना ही पड़ता है कि अपनी शक्ति और सीमा को पहचानकर काम करो; परन्तु जब बड़ा नेता सामने आ जाता है तब यह दलील काम नहीं दे सकती, बल्कि उससे राष्ट्र-कार्य को नुकसान भी हो सकता है। शुद्ध बुद्धि-वाद की दृष्टि से भी सामान्य मनुष्य और असामान्य विभूति का यह भेद सच मानना पड़ता है, क्योंकि वह अनुभवगम्य है। फिर भी वह सामान्य मनुष्य द्वारा असामान्य मनुष्य की, असामान्य विभूति की पूजा करने या उसका शिष्य बनकर उसकी नीति पर चलने में रुकावट नहीं डाल सकता। जब असामान्य विभूति या नेता अपने अनुयायियों के लिए कोई कार्यक्रम बना देते हैं तब स्वभावतः ही नेता उनपर अमल करते हैं; परन्तु इससे अन्धानुकरण का

आक्षेप नहीं आ सकता। असामान्य नेता अपनी अन्त:प्रेरणा के बल पर नवीन सत्य का प्रकाश देते हैं और संसार में उसकी प्रस्थापना भी कर सकते है। इस काम में उन्हें अलौकिक स्वार्थत्याग भी करना पड़ता है। परन्तु संसार में जब किसी विभूति के आत्मबल से नवीन सत्य की स्थापना होती है तब उस अलौकिक स्वार्थ-त्यागी विभूति को सत्य-प्रस्थापना के कार्य में अनेक साधारण लोगों की सहायता की आवश्यकता होती है और वह उनसे भी कुछ समय तक स्वार्थ-त्याग की अपेक्षा करता है। ऐसे समय सामान्य लोग इस असामान्य विभूति का शिष्यत्व स्वीकार करते हैं और शक्ति-भर स्वार्थ-त्याग करके उसके अंगीकृत महत् कार्य में सहयोग देते है। राष्ट्र-निर्माण में महान् नेताओं की इस विभूति-पूजा की जो आवश्यकता है वह इसीलिए।

पंजाब के नेता लाला लाजपतराय ने सूरत-कांग्रेस में औपनिवेशिक स्वराज्य का ध्येय मंजूर कर लिया और कांग्रेस में रह गये। अत: वह सरकार के पंजे से बच गये। फिर एक-दो साल के बाद कांग्रेस-कार्य के लिए विलायत गये। वहां से अमरीका चले गये। तब फिर भारत-सरकार की कुदृष्टि उन-पर पड़ी और सरकार ने उन्हें महायुद्ध खत्म होने तक हिन्दुस्तान में नहीं आने दिया। सरकार को यह सन्देह हुआ कि अमरीका की गदर पार्टी से उनका सम्बन्ध होगा, लेकिन बाद को वह गलत साबित हुआ। १९१४ से १९१९ तक के समय में हिन्दुस्तान में लोकमान्य ने होमरूल-आन्दोलन किया। उन दिनों लालाजी अमरीका में होमरूल-कार्य का प्रचार कर रहे थे। बाबू विपिनचन्द्र पाल सूरत-कांग्रेस के समय ही जेल में डाल दिये गए थे। मगर वह जल्दी ही छूट गये और कुछ समय इंग्लैंड जाकर रहे। लौटने पर उन्होंने अपनी नीति बदल दी और यह कहना शुरू किया कि ब्रिटिश-साम्राज्य के भीतर रहने में ही हमारा और ब्रिटिश-साम्राज्य का हित है। दिल्ली भारत की राजधानी बनाई गई, उसपर उन्होंने सन्तोष प्रकट किया। यह भी लिखना शुरू किया कि लॉर्ड हार्डिंग ने प्रान्तीक स्वराज्य की स्थापना का ध्येय मंजूर कर लिया है और हिन्दुस्तान शीघ्र ही स्वराज्य-मण्डित संयुक्तराज्य बन जायगा। अंग्रेज राजनेताओं को उसके सहयोग की आवश्यकता मालूम होने लगी। इसलिए अब असहयोग की नीति

राष्ट्रीय दल को छोड़ देनी चाहिए। क्रांतिकारी राष्ट्रवाद हमारे मार्ग का एक संकट ही है। मुसलमान राष्ट्र तथा चीन की ओर से ब्रिटिश-साम्राज्य के लिए संकट पैदा हो गया है। हमारे लिए भी वह एक संकट है। इसलिए ब्रिटिश-साम्राज्यवाद को भारतीय राष्ट्रवाद से आज या कल अवश्य ही समझौता करना पड़ेगा। पैन-इस्लामिज्म के संकट को देखते हुए हिन्दुस्तान को क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद छोड़ देना चाहिए और ब्रिटिश-साम्राज्य से मित्रता करनी चाहिए। इस विचारधारा का उद्गम बंगाल के तत्कालीन अति गरम नेता विपिनचन्द्र पाल के लेखों में है। आज हिन्दू-सभा के कुछ नेता इसी पैन-इस्लामिज़्म का हौवा खड़ा करके एक ओर हिन्दू-राज्य की घोषणा करते हैं और दूसरी ओर ब्रिटिश-राज्य से सहयोग करने की पुकार मचाते है। मुसलमानी साम्राज्य के द्वेष या भय से बंगाल के नेताओं में ब्रिटिश-साम्राज्य के प्रति प्रेम बल्कि अंध भक्ति पैदा हुई थी। इसलिए विपिनबाबू की नीति उस परम्परा के अनुरूप कही जा सकती है, परन्तु महाराष्ट्र में जो लोग क्रान्तिकारी के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे मुसलमानी साम्राज्य के भय का हौवा खड़ा करके अंग्रेजों से सहयोग की इतनी आवश्यकता क्यों बताते है, यह महाराष्ट्रीय परम्परा की दृष्टि से समझना कठिन है। १८५७ में दिल्ली के तख्त पर बूढ़े मुग़ल बादशाह को बैठाकर स्वराज्य-स्थापना का प्रयत्न करते हुए नानासाहब पेशवा, झांसी की रानी अथवा तात्या टोपे इन क्रान्तिकारियों को भय नहीं मालूम हुआ; क्योंकि उन्हें यह आत्मविश्वास था कि हिन्दुस्तान में मुसलमान हिन्दुओं पर सदा के लिए अनियन्त्रित सत्ता नहीं चला सकते। फिर महाराष्ट्रीय राज-नेता इस बात को जानते थे कि हिन्दू-मुसलमानों की एकता के द्वारा पहले जब हम अपनी गुलामी के बन्धन तोड़ने लगेंगे तभी दोनों का भला होगा। जो हो, इस समय तो विपिनबाबू ब्रिटिश-साम्राज्य से सहयोग करने की नीति का प्रतिपादन करते थे और आगे चलकर जब महात्मा गांधी ने कांग्रेस को असहयोग की दीक्षा दी तब भी उन्होंने गांधीजी का विरोध किया था।

१९१४ में जब लोकमान्य तिलक जेल से छूटकर आये तब उनके सामने यह प्रश्न था कि देश का बल कैसे बढ़ाया जाय और उसमें फिर साम्राज्य-वाद से लड़ने की शक्ति कैसे पैदा की जाय? देश की हालत कैसी ही हो,

उसे कार्य-प्रवण कैसे बनाना चाहिए और प्रतिपक्षी पर उसकी छाप कैसे बैठानी चाहिए, लोकमान्य इस कला में निपुण थे। मनुष्य की बुद्धि परिस्थिति से बंधी हुई रहती है, यह सच हो तो भी वह उसी बुद्धि की सहायता से परिस्थिति पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता है। **इसीलिए बुद्धि के केवल परिस्थिति-निष्ठ होने से काम नहीं चलता। उसे आत्म-निष्ठ भी होना पड़ता है।** यह आत्म-निष्ठ-बुद्धि ज्ञात परिस्थिति के उस पार जाकर यह पहचान सकती है कि भावी काल की अज्ञात परिस्थिति अपने अनुकूल कैसे बनाई जाय। ज्ञात के उस पार उड़कर जाने की शक्ति मानवी बुद्धि को अंतःप्रेरणा से प्राप्त होती है। सत्य-संशोधन, काव्य-सृष्टि और राष्ट्र-निर्माण जैसे महत् कार्य के लिए आवश्यक नेतृत्व कला इन सबके लिए इस आत्म-निष्ठ बुद्धि की या अंतःप्रेरणा-युक्त-बुद्धि की आवश्यकता होती है। लोक-मान्य के जैसा अलौकिक लोक-नायकत्व इसीसे प्राप्त होता है। **हां, अलबत्ते अंतःप्रेरणा के फेर में पड़कर बुद्धि की परिस्थिति पर की पकड़ ढीली न होने देनी चाहिए।** वह ढीली हुई कि मनुष्य सांसारिक कार्यों में और झगड़ों में टिकने के अयोग्य बन जाता है। बुद्धि के पीछे यदि अंतःप्रेरणा का बल न हो तो बुद्धि परिस्थिति की दासी हो जाती है। इसके विपरीत यदि अंतःप्रेरणा को बुद्धि की सहायता न हो तो परिस्थिति के ज्ञान के अभाव में वह मनुष्य व्यवहार-शून्य आदर्शवादी बन जाता है। राष्ट्र-निर्माण के लिए ऐसा आदर्श-वाद बहुत उपयोगी नहीं होता। वास्तववाद और आदर्शवाद का समन्वय जो बुद्धि कर सकती है वही राष्ट्र-निर्माण कर सकती है। लोकमान्य की बुद्धि इसी तरह की थी। 'सुख-दुःख समे कृत्वा लाभा लाभौ जया जयौ' बुद्धि का यह समत्व उनके पास था और 'योगः कर्मसु कौशलम्' में वर्णित कर्म-योग भी उन्हें सहज प्राप्त था।

लोकमान्य की राजनीति का अंतरंग क्रान्तिवादी था; परन्तु उनके मन में पहले से ही यह दृढ़ निश्चय था कि हिन्दुस्तान में क्रान्ति जनता के द्वारा करानी होगी और उसका स्वरूप लोक-सत्तात्मक होगा। लोक-बल का संगठन कैसे किया जाय और उनका सामर्थ्य कैसे बढ़ाया जाय यह वह जानते थे। सूरत में कांग्रेस के दो टुकड़े हो गये। प्रागतिक दलवालों ने अपना 'कन्वेन्शन' ज्यों-त्यों चालू रक्खा। राष्ट्रीय दल जिस कांग्रेस को चाहता था

वह नष्ट हो गई। इस सारी परिस्थिति पर विचार करके उन्होंने यह तजवीज की कि कांग्रेस पर कब्जा किया जाय। उसका वर्तमान ध्येय स्वीकार करके ही वह उसके अन्दर दाखिल हो सकते थे। वे जानते थे कि राजनैतिक संस्था में राष्ट्र-शक्ति के प्रविष्ट हो जाने पर उनके साधन और साध्य उसके विकास के साथ-ही-साथ बदलने चाहिए। जिस मात्रा में राष्ट्र-शक्ति का विकास होता जाता है उसी मात्रा में राष्ट्र की बुद्धि को अधिक उच्च ध्येय सूझने और पटने लगते हैं। अतएव यदि कांग्रेस में घुसने का अवसर न मिला तो राष्ट्र-शक्ति के संगठन के लिए दूसरी संस्था खड़ी करके उसके द्वारा राष्ट्र का काम करने की उनकी तैयारी थी।

अब हम यह देखे कि इस समय कांग्रेस का रुख क्या था। इस वक्त की कांग्रेस प्रागतिकों की कांग्रेस थी, जिसपर सूरत में औपनिवेशिक स्वराज्य का ध्येय व वैध नीति लद गई थी। कुछ प्रागतिकों की यह इच्छा थी कि सूरत की फूट फिर से जुड़ जाय; लेकिन वे अपना नया ध्येय बदलने को तैयार न थे। इनमें सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, पं० मालवीयजी व गोखले तो इस मत के थे कि यदि गरम दल के लोग नई परिस्थिति के अनुकूल होकर कांग्रेस में आना मंजूर करें तो उन्हें लेकर फूट मिटा ली जाय; किन्तु सर फीरोजशाह मेहता गरम दलवालों को किसी तरह कांग्रेस में आने देना नहीं चाहते थे। सूरत के बाद, सन् १९०८ में मद्रास में डा० रासबिहारी घोष के व सन् १९०९ में लाहौर में पं० मालवीयजी के सभापतित्व में कांग्रेस के अधिवेशन हुए। लाहौर-अधिवेशन के अध्यक्ष सर फीरोजशाह मेहता चुने गये थे; लेकिन गरम-दल को कांग्रेस में शामिल न करने के अपने मत के कारण उन्होंने इस्तीफा दे दिया व मालवीयजी अध्यक्ष बनाये गए। परन्तु जबतक लोकमान्य तिलक छूटकर नहीं आ जाते तबतक इस मेल के प्रयत्न में सफलता मिलनी कठिन थी। फिर जब १९१४ में लोकमान्य छूटकर आ गये तब श्रीमती बेसेंट ने भी इस मत को ज़ोर की गति दी कि गरम दल से मेल कर लेना चाहिए। इस समय तक मा० गोखले ने भी खुद अपने अनुभव से यह देख लिया था कि मॉर्ले-मिंटो-सुधार कितने निराशाजनक हैं और उनके द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा के जैसा प्रश्न भी हल नहीं हो सकता था। उधर ब्रिटिश राज-नेता भी यह महसूस करने लगे थे कि लार्ड हार्डिंग के

प्रान्तिक स्वराज्य-सम्बन्धी सुधारों का विकास करने की आवश्यकता है। फिर यूरोपीय महायुद्ध शुरू हो गया था, इससे सभी यह मानने लगे थे कि युद्ध में हिन्दुस्तान की सहायता लेने के लिए कुछ महत्वपूर्ण सुधार दिये जायंगे व दिये जाने चाहिए। ऐसे समय नरम-गरम दोनों दलों के एक हो जाने से देश का बड़ा हित होगा, ऐसी राय गोखले, बनर्जी, और मालवीयजी की थी। अंत में डा० बेसेंट व तत्कालीन कांग्रेस के मन्त्री श्री सुब्बाराव पंतलू की मध्यस्थता से यह तय हुआ कि गरम अर्थात् राष्ट्रीय दल तो प्रागतिकों अर्थात् नरम दलवालों का ध्येय स्वीकार कर ले व राष्ट्रीय दल की जो संस्थाएं इस ध्येय को मान लें, उन्हें प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया जाय। यह शर्त प्रागतिक लोग मंजूर कर ले व दोनों दल के लोग बहुमत के निर्णय पर चलकर एकता से रहें। प्रागतिकों ने यह भी मंजूर किया था कि आगामी मद्रास-कांग्रेस में यह समझौता पास करा लिया जायगा।

लेकिन इस बीच में तिलक व गोखले के दरम्यान हुई एक बातचीत से गोखले को यह निश्चय हो गया कि तिलक-पक्ष का मत-परिवर्तन नहीं हुआ है, बल्कि अपने मत पर उन लोगों की वैसी ही दृढ़ श्रद्धा है। वे एक आप-द्धर्म के तौर पर प्रागतिकों का ध्येय मंजूर कर रहे हैं। तब उन्होंने (गोखले ने) मद्रास-कांग्रेस के मनोनीत सभापति बा० भूपेन्द्रनाथ वसु को एक पत्र लिखा व बताया कि तिलक के भाव-विचार क्या हैं व क्यों उनसे समझौता न करना चाहिए। पत्र में उन्होंने कहा कि तिलक तो कांग्रेस के द्वारा सर-कार से स्वराज्य की एक ही मांग करना चाहते है व जबतक वह मंजूर न हो तबतक अडंगे की नीति के द्वारा सरकार-तंत्र को बेकार बनाकर अंग्रेज राजनेताओं को कांग्रेस की शरण आने पर बाध्य करना चाहते हैं। यदि कांग्रेस के द्वारा यह नीति न चलाई जा सके तो 'राष्ट्रीय संघ' के नाम से अलग संगठन बनाकर उसके द्वारा अपना कार्यक्रम पूरा करेंगे। अर्थात् तिलक वही पुराने तिलक बने हुए हैं, यह उन्होंने भूपेनबाबू को बताया। इसके फलस्वरूप समझौते का प्रश्न फिर एक साल के लिए आगे चला गया। अपने इस रुख-परिवर्तन का स्पष्टीकरण गोखले ने इस प्रकार किया—"हम समझ गये थे कि नवीन परिस्थिति के कारण तिलकपक्ष का

मत व नीति बदल गई है; किन्तु बाद में हमें अपना यह भ्रम मालूम हुआ। अतएव हमने समझौते का विरोध किया। सच पूछा जाय तो १९०७ में भी गरम-नरम दल का विरोध अन्तिम ध्येय-सम्बन्धी उतना नहीं था जितना इस प्रश्न पर था कि अडंगे की नीति अंगीकार की जाय या सहयोग की, और अपनी शक्ति स्वराज्य की एक ही मूलग्राही मांग पर केन्द्रित की जाय या फुटकर सुधारों पर बिखेरी जाय।"

लोकमान्य तिलक को अपनी अडंगा या विरोध-नीति चलाने के लिए कांग्रेस पर कब्जा करना व उसे प्रबल व संगठित बनाना आवश्यक था। उन्हें यह आत्मविश्वास था कि एक बार कांग्रेस में घुस जाने पर वह हमारे अनुकूल ही साबित होगी; क्योंकि वह मानते थे कि सरकारी दमन-नीति के कारण लोकमत दबा हुआ है। यों वह उनकी नीति के अनुकूल ही है।

इधर १९१५ में मान्य गोखले व सर मेहता दोनों धुरंधर प्रागतिक नेता परलोकवासी हो गये। उस साल कांग्रेस बम्बई में हुई थी। उसमें समझौते का प्रस्ताव पास हो गया व १९१६ की लखनऊ-कांग्रेस में राष्ट्रीय दल लोकमान्य के नेतृत्व में उपस्थित हुआ। इस साल ऐसा अनुभव होने लगा मानो तिलक ने कांग्रेस पर कब्जा कर लिया। इसी साल स्वराज्य की एक सर्व-सम्मत मांग पेश की गई व मुस्लिम लीग का भी समर्थन लोकमान्य ने जिन्ना, महमूदाबाद के राजा व डा० अनसारी आदि मुसलमानी के नेताओं से समझौता करके प्राप्त कर लिया था। उस समय अपने भाषण में उन्होंने कहा था, "जिस बहिष्कार-सम्बन्धी प्रस्ताव पर इतना झगड़ा हुआ था उससे भी यह प्रस्ताव अधिक महत्व का है। हिन्दू, मुसलमान, नरम-गरम सब दलवालों ने संयुक्त-प्रान्त में संयुक्त होकर स्वराज्य की हलचल करने का निश्चय किया है और हमें यह सौभाग्य (Luck) अब (now) लखनऊ (Lucknow) में मिला है।[१] कुछ लोग यह शिकायत करते हैं कि हिन्दुओं को मुसलमानों के सामने झुकना पड़ा है। पर मैं कहता हूं कि अगर अकेले मुसलमानों को भी स्वराज्य के अधिकार दिये गए तो हम उसे बुरा न मानेंगे। यह कहते समय मैं हिन्दुस्तान के तमाम हिन्दुओं की भावना व्यक्त कर रहा हूं। यदि अकेले राजपूत या पिछड़ी जातियों को ज्यादा

[१] We have that luck now in Lucknow.

लायक समझकर उन्हें सब अधिकार दे दिये जायं तब भी मैं कुछ नहीं कहूंगा। हिन्दुस्तान के किसी भी वर्ग को दिये जायं तब भी मुझे कोई चिंता नहीं है; क्योंकि तब झगड़ा उस व वर्ग शेष समाज के बीच ही रहेगा, आज का तिरंगी सामना तो मिट जायगा।"

लोकमान्य का निश्चित मत था कि स्वराज्य के लिए केवल प्रस्ताव पास करने से काम न बनेगा, सारे देश में जोर का आन्दोलन करना पड़ेगा, लेकिन कांग्रेस के जरिये एकाएक ऐसा होना शक्य नहीं था। अतएव उन्होंने 'होमरूल लीग' या स्वराज्य-संघ' नामक एक स्वतन्त्र संस्था खड़ी की। कांग्रेस की मांग के लिए साल-भर लगातार आन्दोलन करते रहना इसका काम था। मद्रास में डॉ० बेसेंट ने भी ऐसा ही एक स्वराज्य-संघ शुरू किया था; लेकिन दोनों को एक कर देने की उनकी तैयारी न थी। मगर लोकमान्य का खयाल था कि कांग्रेस का काम करनेवाले ये दोनों संघ एक हो सकते है। उन्होंने अपने लेखों में यह स्पष्ट किया था कि 'स्वराज्य-संघ' का कांग्रेस से विरोध नहीं, उलटा वे वह काम करेंगे जो कांग्रेस अबतक न कर पाई थी। भिन्न-भिन्न-प्रान्तों में 'स्वराज्य-संघ' स्थापित हों तो उनमें परस्पर विरोध होने की कोई गुंजाइश नहीं है।

लोकमान्य ने यद्यपि 'स्वराज्य' शब्द का भाषान्तर 'होम रूल' कर दिया व सम्राट के प्रति वाफदारी की घोषणा भी कर दी तथापि नौकरशाही यह अच्छी तरह जानती थी कि उनके आन्दोलन से जो लोक-शक्ति निर्माण होनेवाली है, वह उसके लिए मारक ही साबित होगी। इसीलिए उसने १९१६ में लोकमान्य पर राजद्रोह का तीसरा मुकदमा चलाया और इधर बम्बई सरकार ने उन्हीं दिनों डॉ० बेसेंट को बम्बई प्रांत में आने से रोक दिया; परन्तु बम्बई हाईकोर्ट ने लोकमान्य को बरी कर दिया, जिससे वह लखनऊ जाकर कांग्रेस में स्वराज्य के प्रस्ताव पर एकवाक्यता करा सके। किन्तु लखनऊ के बाद फिर तिलक महाराज व डॉ० बेसेंट के आन्दोलन को दबाने की शुरुआत नौकरशाही ने कर दी, जिसका पहला कदम था भारत-रक्षा-कानून के मातहत डॉ० बेसेंट व श्री एरुंडेल को मद्रास-प्रान्त में नजरबन्द कर देना। इस दमन-नीति के साथ ही मद्रास के तत्कालीन गवर्नर लार्ड पेंटलैंड ने भेद-नीति से भी काम लेना शुरू किया। उन्होंने

कहा कि 'सरकार कांग्रेस के खिलाफ नहीं है, स्वराज्य-संघ के विचारों के खिलाफ है।' इसपर लोकमान्य ने जवाब दिया कि '१६०८ में सरकार की नीति थी--नरम दल अपनाओ व गरम को दफनाओ। अब कांग्रेस-विरोध न बताना व स्वराज्य-संघ को दबाना वही पुरानी भेद-नीति है। वस्तुतः कांग्रेस व स्वराज्य-संघ के लक्ष्य में कोई अन्तर नहीं है। अतः इस समय हमें 'वयं पंचोत्तरं शतम्' वाली कहावत चरितार्थ करनी चाहिए। जो ऐसा नहीं करेगा वह भावी इतिहास में देशद्रोही गिना जायगा।"

इस प्रकार लोकमान्य के आवाज उठाने पर डॉ० बेसेंट की नजरबंदी के खिलाफ देश में बड़े ज़ोर की लहर उठ खड़ी हुई व फिर से स्वदेशी, वहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा एवं कौंसिलों से इस्तीफे व सत्याग्रह तक की चर्चा राजनैतिक क्षेत्रों में होने लगी। अबतक जो बड़े-बड़े लोग स्वराज्य-संघ से दूर रहते थे वे उसमें शामिल होने लगे। नरम-गरम का भेद कतई मिट गया। कलकत्ते में तय हुआ कि सारे बंगाल-प्रान्त में स्वराज्य का आन्दोलन चलाया जाय। लखनऊ में भी मुसलमानों ने पेंटलैंडसाहब का विरोध करके डॉ०बेसेंट के प्रति अपनी हमदर्दी जाहिर की। कौंसिलों के सभासद, वकील, बैरिस्टर सब हर सूबे में होमरूल लीग के सदस्य बनने लगे। हजारों लोग अपना दृढ़ संकल्प करने लगे कि सरकार नाराज हो तो परवाह नहीं,स्वराज्य प्राप्ति के लिए हम बराबर उद्योग करते रहेंगे। भारत-रक्षक सेना के लिए जो भरती करना चाहते थे उन्होंने वह बन्द कर दिया। स्वदेशी, बहिष्कार की शपथ ली जाने लगी। पेंटलैंडसाहब को वापस बुलाने के लिए विलायत तार जाने लगे। मि० बोमनजी अकेले ने स्वराज्य-आंदोलन चलाने के लिए एक लाख रुपये देने का अभिवचन दिया। यह चर्चा भी चली कि श्रीमती बेसेंट को छुड़ाने के लिए सत्याग्रह छेड़ा जाय। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी, मुस्लिम लीग, होमरूल लीग आदि संस्थाएं इसमें दिलचस्पी लेने लगीं। उन्हीं दिनों प्रयाग में प० मालवीयजी की अध्यक्षता में लोकमान्य तिलक का स्वराज्य पर भाषण हुआ,जिसमें उन्होंने सत्याग्रह अथवा निःशस्त्र प्रतिकार के बारे में कहा—"जो कानून-कायदे न्याय व नीति के विरुद्ध हों उनका हम पालन नहीं कर सकते। निःशस्त्र प्रतिकार साधन है,साध्य नहीं। किसी खास हुक्म को मानने या न मानने से क्या हानि-लाभ होगा, इसका

विचार करके काम करना निःशस्त्र प्रतिकार है। यदि हमारी समतोल बुद्धि ने यह फैसला दिया कि खास हालतों में इस हुक्म को तोड़ना ही लाभ-दायक है तो इस नियम पर चलना नैतिक दृष्टि से समर्थनीय होगा। लेकिन इस प्रश्न का निर्णय इतनी बड़ी सभा में नहीं किया जा सकता। **वह आपको अपने नेताओं पर ही छोड़ना चाहिए।** हमारी लक्ष्य-सिद्धि के मार्ग में कृत्रिम व अन्यायी कानून या परिस्थिति बाधक हो उसका मुकाबला करना निःशस्त्र प्रतिकार है। निःशस्त्र प्रतिकार बिल्कुल वैध है। इतिहास ने यह साबित कर दिया है कि कानून-संगत व विधि-विहित दो अलग-अलग शब्द हैं। जबतक कोई भी कायदा न्याय व नीति-संगत न हो व उन्नीसवीं-बीसवीं सदी की नीति के अनुकूल लोकमतानुसार न हो तबतक वह कानून-संगति भले ही हो, विधि-विहित नहीं हो सकता। यह भेद आप अच्छी तरह समझ लें। मैं कहता हूं कि आप बिल्कुल वैध मार्ग पर चलिये। परन्तु साथ ही मैं यह भी कहता हूं कि प्रत्येक कायदा शास्त्रीय अर्थ में 'वैध' नहीं हो सकता।"

इन्हीं दिनों महात्मा गांधी हिन्दुस्तान में अपना दो साल का प्रारम्भिक निरीक्षण-कार्य पूरा करके चम्पारन में सत्याग्रह का पहला प्रयोग कर रहे थे। इसी समय अप्रैल में उन्होंने उस जिले के मजिस्ट्रेट का हुक्म खुल्लमखुल्ला तोड़ा था व अन्त को सरकार के हुक्म से वह निषेधाज्ञा वापस लेनी पड़ी थी। इस तरह अब भारतीय राजनीति धीरे-धीरे सत्याग्रह के पथ पर अग्र-सर हो रही थी। लोकमान्य तिलक इस सिद्धान्त का प्रकट रूप से समर्थन करने लगे थे। इतने में डॉ० बेसेंट छोड़ दी गई व ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की कि 'हिन्दुस्तान को स्वराज्य मिलेगा; लेकिन वह किस्तों में दिया जायगा। पहली किस्त महायुद्ध के बाद मिलेगी, बाकी किस्तें कब दी जायंगी इसका फैसला पार्लमेंट समय समय पर करेगी व पहली किस्त की योजना बनाने के लिए व भारत का लोकमत जानने के लिए भारत-मन्त्री मांटेगूसाहब हिन्दुस्तान आयंगे।" इससे वह क्षुब्ध वातावरण कुछ देर के लिए शान्त हो गया व जबतक मांटेगू-सुधारों का रूप सामने नहीं आ जाता तबतक स्वराज्य के लिए सत्याग्रह का या प्रत्यक्ष प्रतिकार का प्रश्न खड़ा होने का कारण नहीं रहा।

१९१७ के दिसम्बर में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में होनेवाला था। राष्ट्रीय दल ने अध्यक्ष के लिए डॉ० बेसेंट का नाम सुझाया। वह मंजूर भी हो गया। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि प्रागतिकों को यह पसन्द नहीं हुआ; लेकिन इस समय कांग्रेस में तिलक महाराज का बोलबाला था। इसका फल यह हुआ कि प्रागतिकों ने अपनी अलहदा 'प्रागतिक परिषद्' बनाई। कलकत्ता-कांग्रेस में मुख्य प्रश्न स्वराज्य का ही था। कांग्रेस व मुस्लिम लीग ने अपनी मांगों की एक तजवीज तैयार कर रक्खी थी। उसका समर्थन तो करना ही था, पर साथ ही मांटेगूसाहब की स्वराज्य-घोषणा पर भी उसे अपनी राय देनी थी। लोकमान्य आदि राष्ट्रीय नेताओं ने इस योजना के तीन हिस्से किये थे : (१) हिन्दुस्तान को स्वराज्य देना, (२) वह किस्तों में देना और (३) इन किस्तों के स्वरूप व समय का निश्चय पार्लमेंट द्वारा होना। इनमें पहले दो हिस्से नेताओं को मंजूर हुए; किन्तु तीसरा हिस्सा बिल्कुल नामंजूर किया गया, क्योंकि वह स्वयं निर्णय के सिद्धान्त के बिल्कुल खिलाफ था और इस बात का निश्चय नहीं हो पाता था कि ब्रिटिश पार्लमेंट कब स्वराज्य देगी। इसलिए कांग्रेस ने अपने प्रस्ताव में कहा कि पूर्ण स्वराज्य देने का एक ही कानून पार्लमेंट में जल्दी बना दे और उसीमें यह भी बता दिया जाय कि स्वराज्य की किस्तें कब-कब दी जायंगी। इससे लाभ यह था कि निश्चित मियाद खत्म होने पर अपने-आप स्वराज मिल जायगा। ब्रिटिश पार्लमेंट की तरफ देखने की या उसके लिए उससे लड़ने की आवश्यकता न रह जायगी। इस प्रस्ताव के तीन भाग थे—पहले भाग में स्वराज की घोषणा के प्रति कृतज्ञतापूर्वक सन्तोष प्रकट किया गया था, दूसरे भाग में यह कहा गया था कि पार्लमेंट पूर्ण स्वराज्य अमुक समय में देने का कानून तुरन्त बना दे और तीसरे भाग में यह चाहा गया था कि कांग्रेस व मुस्लिम लीग द्वारा तैयार की गई सुधार-योजना स्वराज्य की पहली किस्त के तौर पर मंजूर की जाय। इस प्रस्ताव पर बोलते हुए लोकमान्य तिलक ने कहा—"स्वराज्य की घोषणा के प्रति हमें कृतज्ञतापूर्वक सन्तोष व्यक्त करते हैं। किस्तों से स्वराज्य मिलने की शर्त भी हमें मंजूर है। मगर किस्तों का समय व रूप ब्रिटिश सरकार तय करेगी यह हमें मंजूर नहीं। यह बात तो हमारे ठहराने की है। सरकार की लहर पर

अवलम्बित रहना मुनासिब नहीं। किस्तें अभी तय कर दीजिये। इसके बारे में हम समझौता नहीं कर सकते। कांग्रेस-लीग-योजना अभी मंजूर होनी चाहिए। यह हमारी कम-से-कम मांग है। यह स्वराज्य-स्थापना की दागबेल होगी। हमारा सारा घर हमें अपने कब्जे में लेने का अधिकार है। उसका कुछ भाग आपके हवाले रहने देना हमारी एक तरफ से एक रिआयत है। वह इस आशा से दी जाती है कि आप जल्दी-से-जल्दी हमारा घर खाली कर देंगे। हम आपको कुछ दिन और रहने देंगे; लेकिन घर के मालिक हम हो गये, यह बात आज ही आपको मंजूर कर लेनी होगी। कांग्रेस की योजना का पहला गुण यह है कि उसमें केन्द्रीय सरकार पर लोक-नियुक्त सभा का नियन्त्रण रक्खा गया है। केन्द्रीय सरकार में जबतक समान भागीदारी नहीं मिल जाती तबतक म्युनिसिपैलिटी, लोकल-बोर्ड-जैसी छोटी संस्थाओं में भी स्वराज्य की भावना से काम नहीं हो सकेगा।"

लोकमान्य का यह भाषण भावी राजनीति की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें चार सिद्धान्त थे—(१) एक ही कानून के द्वारा स्वराज्य मिलना चाहिए, (२) हिन्दुस्तान के लोग मालिक हो गये, इस आधार पर कोई समझौता होना चाहिए, (३) स्वराज्य की पहली किस्त में केन्द्रीय सरकार में समान भागीदारी मिलनी चाहिए व (४) सम्पूर्ण स्वराज्य-प्राप्ति की मियाद इसी कानून द्वारा निश्चित हो जानी चाहिए। पूर्ण स्वराज्य देने का सवाल तो दरकिनार, इनमें से एक भी सिद्धान्त मांटेगू-सुधारों में मंजूर नहीं किया गया था। उस योजना को इन्हीं सिद्धान्तों पर कसकर अमान्य ठहराया गया था। यह माना गया कि न तो यह स्वराज्य है, न स्वराज्य की नींव ही है।

इधर मांटेगू-सुधार-योजना के प्रकाशित होते ही, प्रागतिक दल को कांग्रेस से फूटकर निकल जाने का एक नया कारण मिल गया। बम्बई में लोकमान्य व बंगाल में देशबन्धुदास दोनों इन सुधारों के प्रति सहयोग की नहीं, विरोध-नीति रखते थे—यह बात सुरेन्द्रबाबू को अच्छी तरह मालूम थी। इनको भी सुधार असन्तोषजनक मालूम होते थे; फिर भी वह सहयोग के लिए तैयार थे। किन्तु इनके एक और नेता, पं० मालवीयजी का कहना था कि तिलक के राष्ट्रीय दल का बहुमत कांग्रेस में विधिवत् हुआ है और

बहुमत को खतरे से सावधान रखते हुए अन्त को मान लेना ही हमारा कर्तव्य है। देश की राजनीति परिस्थिति के अनुसार बढ़ती व बदलती रहेगी। उसको पुरानी लीकों में ही चलाते रहने का प्रयत्न करना तमोगुणी आग्रह है। इससे राष्ट्र-कार्य की हानि होती है। यह पण्डितजी ने सूरत-काण्ड के बाद अच्छी तरह देख लिया था और इसलिए उन्होंने तमाम प्रागतिक दल से आग्रह किया था कि वह कांग्रेस को न छोड़ें; परन्तु उनकी न चली। लोकमान्य ने भी बहुमत को मानने की दुहाई देकर समझाया, एवं फूट से देश की हानि होगी यह बताया; पर प्रागतिक दल अलग होकर ही रहा।

इसके थोड़े ही दिनों बाद बम्बई में कांग्रेस की एक विशेष बैठक हुई, जिसमें डॉ० बेसेंट, लोकमान्य तिलक व कुछ प्रागतिक नेताओं के एकमत से स्वराज्य की मांग का प्रस्ताव पास हुआ व कांग्रेस का शिष्ट-मण्डल विलायत गया। लोकमान्य तिलक भी उसमें थे। इस शिष्टमण्डल के विलायत में रहते हुए दिसम्बर १६१८ में दिल्ली में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। उसमें स्वराज्य-सम्बन्धी प्रस्ताव बंगाली नेताओं ने बदलकर पूर्ण प्रान्तिक स्वराज्य व केन्द्रीय सरकार में समान भागीदारी की मांग, स्वराज्य की पहली किस्त के तौर पर, करने का प्रस्ताव मंजूर कर लिया। इस समय विलायत के शिष्टमण्डल में डॉ० बेसेंट व लोकमान्य तिलक में इस बात पर घोर मतभेद हो गया कि ब्रिटिश राजनेताओं के सामने स्वराज्य की कौन-सी मांग पेश की जाय। डॉ० बेसेंट बम्बईवाली मांग पर दृढ़ रहीं व लोकमान्य तिलक कांग्रेस की आज्ञा, दिल्लीवाले प्रस्ताव पर, कायम रहे। बहुमत को मानने की उनकी नीति के अनुसार लोकमान्य यही कर सकते थे। इसको लेकर आगे तिलक व डॉ० बेसेंट में बड़ा झगड़ा खड़ा हुआ। लोकमान्य कांग्रेस के साथ-साथ आगे बढ़ते रहे व डॉ० बेसेंट पीछे फिसलती गई। विलायत से लौटने पर लोकमान्य ने लोगों को—

"यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वत् भूतसमागमः॥"

इस सिद्धान्त की शिक्षा दी अर्थात् बहुमत के सामने सिर झुकाना चाहिए। जबतक किसीके पीछे राष्ट्र का बहुमत है तभी तक वह राजनीति में काम

कर सकेगा। नेता कितना ही बड़ा क्यों न हो, किसी खास परिस्थिति में उसने कितना ही बड़ा काम क्यों न किया हो, यदि राष्ट्र के आगे चलकर उसका नेतृत्व करने की उसकी तैयारी न हो तो राष्ट्र को उसे पीछे छोड़कर आगे बढ़ जाना चाहिए।

शिष्टमण्डल के विलायत से लौट आने पर, दिसम्बर १९१९ में अमृतसर में होनेवाली कांग्रेस का विषय ही लोकमान्य के सामने सबसे अधिक महत्वपूर्ण था। उनके विलायत में रहते हुए ही महात्मा गांधी ने रोलट-कानून के खिलाफ एक प्रचण्ड राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह-आन्दोलन, ६ से १३ अप्रैल, १९१९ तक हिन्दुस्तान में चला दिया था। इसी समय जलियांवाला बाग में अमानुष रक्तकाण्ड करके ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अपना शैतानी स्वरूप महात्माजी को दिखा दिया था। फिर भी महात्मा गांधी का रुख था कि हण्टर-कमेटी को, जो कि पंजाब के फौजी कानून की जांच के लिए नियुक्त की गई थी, एक मौका और इस बात को जाहिर करने के लिए दिया जाय कि जनरल डायर का यह अमानुष रक्तपात साम्राज्यशाही को पसन्द नहीं है, यह उसका नित्य रूप नहीं है, यह ब्रिटिश साम्राज्य के अंतरंग को नहीं प्रकट करता है, बल्कि एक खास फौजी अफसर की अमानुषिकता का प्रमाण है। तबतक उनका यह कहना था कि कांग्रेस को सहयोग की नीति छोड़कर असहयोग की लड़ाई न छेड़नी चाहिए। उनके मन में यह बात जरूर थी कि अगर हण्टर-कमेटी की रिपोर्ट पर ब्रिटिश सरकार का निर्णय असन्तोषजनक हुआ तो मैं खुल्लमखुल्ला असहयोग की लड़ाई ठान दूंगा। देशबन्धुदास आदि बंगाली नेता कहते थे कि अभी से अडंगा नीति चालू करके इस कानून को खत्म कर दिया जाय। इतने ही में सम्राट की नवीन कानून को प्रचलित करने की घोषणा प्रकाशित हुई, जिसमें लोगों से सहयोग के लिए कहा गया था। इसके साथ ही राजबन्दियों को छोड़ने की नीति भी जाहिर की गई। लोकमान्य तिलक व स्वराज्य-संघ के बैप्टिस्टा आदि नेता जब अमृतसर जा रहे थे तो रास्ते में उन्होंने यह घोषणा देखी। उन्होंने तुरन्त ही सम्राट को यह तार-सन्देशा भेजा कि हम सुधार-कानून के प्रति प्रतियोगी सहकारिता की नीति रखेंगे। लोकमान्य की मृत्यु के बाद उनके शिष्य कहलानेवाले कुछ नेताओं ने 'प्रतियोगी सहकारिता' का अर्थ कर

दिया 'बिना शर्त सहयोग', जिससे वह शब्द आज हास्यास्पद बन गया है। किन्तु खुद लोकमान्य ने उसका अर्थ इस प्रकार किया है—"नौकरशाही यदि सहयोग करने को तैयार हो व करे तो उसको वैसा ही उत्तर देने के लिए लोग भी सहयोग करने को तैयार हैं। यदि वह तैयार न हो तो विरोध करना लाजिम होगा।" अर्थात् प्रतिपक्षी सहयोग करे तो सहयोग व असहयोग करे तो असहयोग करना—यही प्रतियोगी सहकारिता का सच्चा अर्थ है तथा लोग कब सहयोग करें व कब असहयोग करें—इसके निर्णय का अधिकार लोकमान्य के मतानुसार कांग्रेस को ही है।

इस तरह अमृतसर में महात्मा गांधी सहयोग-नीति, देशबन्धुदास अडंगा नीति व लोकमान्य तिलक प्रतियोगी सहकारिता की नीति के पक्ष में थे। ये सब लोग इस बात पर सहमत थे कि नवीन कानून के अनुसार जो चुनाव हो उनमें भाग अवश्य लिया जाय। अतएव तीनों के लिए सन्तोषजनक शब्द-रचना इस प्रस्ताव में की गई थी। वह इस प्रकार थी :

(क) यह कांग्रेस अपनी पिछले वर्ष की घोषणा को दुहराती है कि भारतवर्ष पूर्ण उत्तरदायी शासन के योग्य है और इसके खिलाफ जो बातें समझी या कही जाती हैं उनको यह कांग्रेस अस्वीकार करती है।

(ख) वैध सुधारों के सम्बन्ध में दिल्ली की कांग्रेस द्वारा पास किये गए प्रस्तावों पर ही कांग्रेस दृढ़ है और इसकी राय है कि सुधार-कानून अपूर्ण, असन्तोषजनक और निराशापूर्ण है।

(ग) आगे यह कांग्रेस अनुरोध करती है कि आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के अनुसार भारतवर्ष में पूर्ण उत्तरदायी सरकार कायम करने के लिए पार्लमेंट को शीघ्र कार्रवाई शुरू करनी चाहिए।

(घ) यह कांग्रेस विश्वास करती है कि जबतक इस प्रकार की कार्रवाई नहीं की जाती तबतक, जहांतक सम्भव हो, लोग सुधारों को इस प्रकार कार्य में लावेंगे, जिससे भारतवर्ष में शीघ्र पूर्ण उत्तरदायी शासन कायम हो सके। सुधारों के सम्बन्ध में माननीय मांटेगूसाहब ने जो मेहनत की है उसके लिए यह कांग्रेस उन्हें धन्यवाद देती है।

देशबन्धु दास, लोकमान्य तिलक व महात्मा गांधी तीनों ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया। फिर भी प्रागतिक दल इससे सहमत न हुआ; क्योंकि

यद्यपि इसमें सुधारों को कार्यान्वित करने (Work the Reform) की बात कही गई है तथापि प्रागतिकों की राय थी कि चूंकि इसमें यह कहा गया है कि ऐसी नीति से काम करना चाहिए, जिससे जल्दी-से-जल्दी पूर्ण स्वराज्य स्थापित हो। इसलिए इन सुधारों को भरसक जल्दी भंग करने की तरफ ही इस प्रस्ताव का झुकाव है। प्रागतिकों की स्वतन्त्र परिषद् बन चुकी थी। मा० शास्त्री आदि कुछ प्रागतिक कांग्रेस में गये थे व डा० बेसेंट ने इस प्रस्ताव के विरोध में इस आशय का प्रस्ताव पेश भी किया था कि सुधारों से जितना लोक-हित हो सकता है वह किया जाय व सुधारों की गाड़ी मजे में चलती रहे, किन्तु वह बहुमत से नामंजूर हो गया।

इधर नवीन चुनावों में कांग्रेस का विरोध करने के लिए प्रागतिक व अब्राह्मण-दल एक हो गये। प्रागतिकों का नेतृत्व डा० परांजपे व अब्राह्मणों का श्री बालचंद कोठारी ने किया। अमृतसर के बाद ही सोलापुर में (अप्रैल १९२० में) प्रागतिक दल की बम्बई-प्रान्तीय परिषद् हुई, जिसमें अब्राह्मण-दल भी शरीक हुआ। इसमें उन्होंने अखिल भारतीय नेता के रूप में डा० बेसेंट को भी बुलाया था। इसपर लोकमान्य ने अमृतसर-प्रस्ताव का आशय इस तरह समझाया था—

"कांग्रेस कहती है कि जो कुछ पल्ले पड़ा है उससे फायदा उठाओ। परन्तु जो मिला है वह सन्तोषजनक नहीं, निराशाजनक है। अतः जबतक पार्लमेंट पूर्ण स्वराज्य न दे तबतक आन्दोलन करते रहना चाहिए। ऐसा करते हुए सारे देश के हित की दृष्टि से नौकरशाही के साथ कभी सहयोग तो कभी असहयोग करना पड़ेगा। आवश्यकतानुसार जो इन दोनों साधनों से काम लेंगे वही सच्चे कांग्रेस-भक्त हैं और उन्हींको वोट देना चाहिए, दूसरों को नहीं।"

कौंसिलों में चले जाने पर कांग्रेस—डेमोक्रेटिक पार्टी का नीति बताते हुए लोकमान्य ने कहा था—"इस कानून में से यदि पूर्ण स्वराज्य का विधान उत्पन्न करना हो तो इसकी उम्र जितनी जल्दी खत्म हो उतना ही अच्छा। जिसे पतंग बनना है वह केवल कीड़े की हालत में कबतक रहेगा?" इससे कांग्रेस लोकशाही दल (डेमोक्रेटिक पार्टी) की नीति अच्छी तरह साफ हो जाती है। पार्टी के घोषणा-पत्र में उन्होंने कहा—"कांग्रेस के प्रति अचल

निष्टा व लोकशाही (जनतन्त्र) पर दृढ़ विश्वास' यह इस दल के मुख्य आधार हैं। शिक्षा-प्रचार, मतदाताओं की संख्या-वृद्धि, जाति-भेद तथा रूढ़ि-सम्बन्धी अयोग्यताएं दूर करना, धार्मिक सहिष्णुता, ब्रिटिश-साम्राज्य में भारत को समान भागीदारी प्राप्त कराना, इसके लिए 'जैसे के साथ तैसा' इस नीति के अनुसार काम कराना आदि बातों का खुलासा करते हुए इस दल की यह मांग बताई गई है—यहां की शासन-प्रणाली कैसी हो व कानून-विधान कैसा बने—यह निर्णय करने का (आत्म-निर्णय का) अधिकार अकेले भारतवासियों का ही होना चाहिए।" फिर शासन-सुधार को अपूर्ण, असन्तोषकारक व निराशाजनक बताते हुए उसके संशोधन के रूप में यह मांग की गई है—"हिन्दुस्तानियों को पूर्ण स्वराज्य दिया जाय, यानी भारतीय सेना पर उनका पूरा अधिकार हो, उन्हें आर्थिक स्वतन्त्रता रहे, नागरिकता के सम्पूर्ण अधिकारों का जनता को विधिवत् आश्वासन दिया जाय।" संक्षेप में 'शिक्षण, आन्दोलन व संगठन' यह इस दल का मंत्र-वाक्य बताया गया था; साथ ही 'जहां सम्भव होगा वहां सहयोग व जहां आवश्यक होगा वहां वैध रीति से विरोध' करने की दल की नीति जाहिर की गई थी।

इस तरह लोकमान्य ने नरम नीति का अन्त करके पूर्ण स्वराज्य मिलने तक लड़नेवाली एक सेना खड़ी कर दी। राष्ट्रीय आपद्धर्म का समय अब खत्म हो रहा था। थोड़े ही दिनों में हण्टर-कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई, जिसे देखकर गांधीजी को लगा कि अब वैध राजनीति का युग समाप्त हुआ व उन्होंने निश्चय किया कि भारत को निःशस्त्र क्रान्ति की दीक्षा दी जाय। तिलक ने महात्मा गांधी से कहा—"यदि लोग आपके शस्त्र को उठा लें तो मैं आपका ही हूं।" हण्टर-कमेटी की रिपोर्ट से यह साफ जाहिर होता था कि साम्राज्यवादी सहयोग के लिए तैयार नहीं हैं। अब प्रतियोगी सहकारिता को असहकारिता का रूप मिलना लाजिमी था; क्योंकि अब निःशस्त्र या सशस्त्र क्रान्ति के सिवा दूसरा रास्ता ही कांग्रेस के पास नहीं रह गया था और लोकमान्य तो अबतक यही कहते आ रहे थे कि निःशस्त्र क्रान्ति-मार्ग ही हमारी परिस्थिति के अनुकूल है। फिर अब तो महात्मा गांधी-जैसा लोकोत्तर नेता मिल गया। ऐसी दशा में यदि लोकमान्य उन्हें पूर्वोक्त आश्वासन दें तो कौन आश्चर्य की बात है! परन्तु दुर्भाग्य से इस असहयोग-संग्राम का

महोत्सव देखने के लिए लोकमान्य जीवित न रहे। १ अगस्त, १६२० को बम्बई में उनका शरीरान्त हो गया और क्रान्ति की वह ज्योति, जो उन्होंने स्वार्थ का हवन कर-करके जमा रखी थी उनके शरीर-बन्धन से मुक्त होकर सारे भारत खण्ड में फैल गई। लोकमान्य के देहावसान का दिन भारतीय राष्ट्र के स्वातन्त्र्य-यज्ञ की असहयोग-दीक्षा का दिन साबित हुआ। लोकमान्य की देह पंचत्व में विलीन हुई व उनकी क्रान्तिकारी आत्मा सारे भारतवर्ष में व्याप्त हो गई।

: १० :

भारतीय सत्याग्रह-संग्राम

[निःशस्त्र प्रतिकार भारत की कई बीमारियों— बुराइयों का एक रामवाण उपाय है। हमारी संस्कृति के अनुकूल यही एक शस्त्र हमारे पास है। हमारे देश व जाति को आधुनित सभ्यता से बहुत कम सीखना है, क्योंकि उसका आधार घोर-से-घोर हिंसा पर है, जो कि मानव में दैवी गुणों के अभाव को सूचित करती है और जो खुद ही अपने विनाश की ओर दौड़ी जा रही है।" **महात्मा गांधी (१६०६ में कांग्रेस को संदेश)**]

[जब कानून की मर्यादा धर्म-मूलक या न्याय-सूलक नहीं होती व रहती व केवल सत्ता के बल पर उसका पालन कराया जाता हो तब विचारशील मनुष्य के सामने यह प्रश्न आता है कि वह न्याय के प्रति अपनी सत्य-निष्ठा पर दृढ़ रहकर उस कानून की सजा को भुगते वा उस दण्ड के भय से ईश्वर-निर्मित न्याय-तत्वों की उपेक्षा करे। ऐसे समय न्यायनिष्ठ व सत्यनिष्ठ मनुष्य कहते हैं कि कानून के कृत्रिम बंधनों को न मानना ही उचित है। परन्तु इसके लिए सत्य व न्याय के प्रति बहुत तीव्र निष्ठा आवश्यक होती है। इतनी कि अपने सुख, स्वार्थ, बाल-बच्चों तक का खयाल तक मन में न आना चाहिए। इसीको मानसिक धैर्य, सच्ची सत्यनिष्ठा अथवा सात्विक शील और दियानत कहते हैं। यह गुण विद्वत्ता से नहीं आता, न बुद्धिमत्ता

से ही। इसके लिए उपनिषद् का यह वचन याद रखना चाहिए—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।'

"जो देशभक्त वैध रीति से सुधार कराना चाहते हैं, उनके रास्तों में कई कठिनाइयां आती हैं। मन संतप्त रहता है, सुधार की उत्कट इच्छा होती है, कानून भंग करना अटपटा लगता है; लेकिन कोई उपाय नहीं दीख पड़ता! ऐसी ही कठिनाइयों में गांधी को निःशस्त्र प्रतिकार का, या उनकी भाषा में सत्याग्रह का मार्ग सूझा है और इसपर चलते हुए उन्होंने बहुत कष्ट सहे हैं, इसीलिए अब यह शास्त्र-पूत हो गया है।"

—तिलक (**महात्मा गांधी के जीवन-चरित्र की प्रस्तावना में**)]

पिछले प्रकरण के अन्त में यह कहा जा चुका है कि १ अगस्त, १९२० ई० को हिन्दुस्तान ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ सत्याग्रह शुरू किया। यह लड़ाई आज भी चल रही है और जबतक हिन्दुस्तान को पूर्ण स्वराज्य नहीं मिल जाता तबतक यह नहीं कहा जा सकता कि उसका मकसद पूरा हो गया। इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्रिटिश-शासन से छुटकारा पा जाने के बाद हिन्दुस्तान को सत्याग्रह की जरूरत नहीं रहेगी। इसके हमारा तात्पर्य सिर्फ इतना ही है कि सन् १९२० में असहयोग के रूप में जो लड़ाई शुरू हुई थी, पूर्ण स्वराज्य मिलने पर यह माना जायगा कि उसका उद्देश्य पूर्ण हो गया है। हिन्दुस्तान को राज्यसत्ता मिल जाने के बाद भी सत्ता का उपयोग किस भांति करना, किस कार्य के लिए उसका उपयोग करना और किस तरह की समाज-धारणा को यह राज्यसत्ता अपनावे आदि महत्वपूर्ण प्रश्नों पर हिन्दुस्तान को इस सत्याग्रह का उपयोग करना पड़ेगा। आधुनिक भारत के इतिहास का यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है कि लोकमान्य के स्वर्गवास के बाद तुरन्त ही भारतीय राजनीति और कांग्रेस के सूत्र महात्मा गांधी के हाथ में कैसे आये? भारतीय जनता का विश्वास और सहयोग तत्कालीन दूसरे नेताओं की अपेक्षा महात्मा गांधी को ही इतना अधिक कैसे मिला? इस प्रश्न का समाधानकारक उत्तर जबतक नहीं मिलता तबतक आधुनिक भारत का स्वरूप समझ सकना किसीके लिए भी सम्भव नहीं है। इसके लिए इन प्रश्नों का थोड़ा विचार कर लेना जरूरी हो जाता है कि सन् १९२० के पहले महात्मा गांधी भारत में क्या करते थे, हिंदुस्तान

की जनता और नेता एवं ब्रिटिश शासक उन्हें किस दृष्टि से देखते थे।

जनवरी सन् १६१५ में महात्मा गांधी भारत आये। उस समय भारतीय राजनीति में माननीय गोखले और लोकमान्य तिलक के अपने-अपने दल थे। इन दो पक्षों के सिवा एक सशस्त्र क्रान्तिवादी दल भी था। गोखले की विधि-विहित राजनीति, लोकमान्य का विरोधक बहिष्कार-योग और सशस्त्र क्रान्तिवादियों का गुप्त मार्ग ये सभी एक तरह से उस समय असफल हो चुके थे। ऐसे समय महात्मा गांधी अपने सत्याग्रह-शस्त्र के द्वारा दक्षिण अफ्रीका में सफलता प्राप्त करके एक यशस्वी नेता के रूप में आये थे। इस अध्याय के शुरू में दिये गए लोकमान्य तिलक के उद्धरण के अनुसार उस समय महात्मा गांधी का सत्याग्रह एक तरह से शासकों की दृष्टि में भी शास्त्र-पूत हो गया था और अब महात्मा गांधी भारत आने पर कौन-सा मार्ग ग्रहण करेंगे, यह गरम दल, नरम दल और सरकार सभी पक्ष के लिए समान रूप से कुतूहल का विषय था। उस समय सन् '१४ का महायुद्ध शुरू हुआ ही था और भारत आने के पहले ही इंग्लैण्ड में महात्मा गांधी ने अपना मत प्रकट किया था कि इस युद्ध में वह सरकार को मदद देंगे, इसलिए सरकार उनकी ओर युद्ध में सहायता पाने की दृष्टि से देख रही थी। उनके भारत आते ही बम्बई के उस समय के गवर्नर—लॉर्ड विलिंग्डन—ने बम्बई में उनसे पहली बार मुलाकात की। उस समय उन्होंने कहा कि मैं माननीय गोखले का शिष्य हूं। इससे सरकार का विश्वास उनपर और भी दृढ़ हो गया। माननीय गोखले ने सर फीरोजशाह मेहता और महात्मा गांधी की मुलाकात करवाई। उस समय सर फीरोजशाह ने मजाक में लेकिन बहुत संजीदगी के साथ सलाह दी या इशारा किया कि हिंदुस्तान दक्षिण अफ्रीका नहीं है। यह समझकर आगे का अपना कार्यक्रम बनाना।

महात्मा गांधी ने १६०६ में एक सन्देश कांग्रेस को भेजा था। उसमें उन्होंने लिखा था कि हिन्दुस्तान की सारी मुसीबतों से छुटकारा पाने का रामबाण उपाय सत्याग्रह ही है और यह साधन आधुनिक भौतिक सभ्यता के उद्धार के लिए भी, जो कि खुद विनाश की ओर दौड़ती हुई चली जा रही है, उपयोगी सिद्ध होगा। उस समय के कांग्रेस के प्रागतिक नेताओं को, जो यह समझ रहे थे कि निःशस्त्र प्रतिकार के हामी गरम दल को कांग्रेस से

अलग कर देने से अब हमेशा के लिए सब झगड़ा मिट गया, यह सन्देश कैसा लगा होगा, यह कह सकना मुश्किल है। उन्होंने सिर्फ यही बताने के लिए नाममात्र को उनका सन्देश कांग्रेस में पढ़ा होगा कि दक्षिण अफ्रीका में सरकार से आत्म-बल के द्वारा लड़ने के कारण जिस कर्मवीर की कीर्ति सर्वत्र फैल रही है उसका भी समर्थन हमारी वैधमार्गी व नरम-दलीय कांग्रेस को प्राप्त है। फिर भी माननीय गोखले को यह आशंका हो सकती थी कि महात्मा गांधी हिन्दुस्तान आने पर भारतीय राजनीति में किसी-न-किसी तरह की सत्याग्रही मनोवृत्ति पैदा करेंगे। आधुनिक यूरोपीय संस्कृति के प्रति उनका तुच्छ भाव और प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति विलक्षण आदर और आत्म-श्रद्धा को देखकर मानीनय गोखले को यह डर भी था कि इस आत्म-श्रद्धा के बल पर, हिन्दुस्तान की वस्तुस्थिति पर ध्यान दिये बिना ही, कहीं वह जल्दबाजी में कोई हलचल न कर बैठें और इसीलिए उन्होंने उन्हें सुझाया कि कम-से-कम एक वर्ष तक हिन्दुस्तान की परिस्थिति का निरीक्षण किये बिना आप अपनी कार्य-नीति निश्चित न करें। गांधीजी ने उन्हें तुरन्त ही ऐसा आश्वासन दे दिया। साल भर तक गांधीजी ने सारे हिन्दुस्तान का दौरा किया और राजनैतिक नेताओं से चर्चा और विचार-विनिमय किया। इन्हीं दिनों कुछ दिन महात्मा गांधी और लोकमान्य तिलक एक साथ सिंहगढ़ पर रहे थे; और उन्होंने अपने-अपने तत्वज्ञान और राजनीति की चर्चा करके एक-दूसरे का अन्तःकरण समझ लिया था। उस समय से गांधीजी और लोकमान्य का परस्पर आकर्षण और प्रेम बढ़ता गया।

लोकमान्य ने गांधीजी के सत्याग्रह के बारे में अपनी राय इस अध्याय के शुरू में दिये गए द्वितीय उद्धरण में प्रकट की है। चिरोल केस में प्रश्न पूछे जाने पर उन्होंने जो उत्तर दिये थे, उन्हें पढ़ने से यह पता चलता है कि लोकमान्य तिलक पहले जिस निःशस्त्र प्रतिकार का उपदेश देते थे उसका समर्थन भी अन्ततोगत्वा धार्मिक भावना के आधार से ही करना पड़ता है। वे प्रश्नोत्तर ये थे—

प्रश्न—सभाओं व आवेदन-निवेदनों को आपने बच्चों का खेल बताया है न ?

उत्तर—"हां, जब उनका कोई उपयोग नहीं, तब वे बच्चों के खेल ही हैं।"

प्र०—"इसके सिवा और क्या करना चाहिए था ?"

उ०—"निःशस्त्र प्रतिकार।"

प्र०—"यानी क्या ?"

उ०—"खुद कष्ट सहन करके प्रतिकार करना।"

प्र०—"खुद कष्ट सहन करने से प्रतिकार कैसे होता है ?"

उ०—"धर्म-ग्रंथों में लिखा है कि धार्मिक भावना से यदि कष्ट सहन किया जाय तो दूसरों पर उसका असर पड़ता है।"

लोकमान्य तिलक ने ये उत्तर अदालत में दिये थे, फिर भी उनमें निःशस्त्र प्रतिकार का तत्वज्ञान समाया हुआ है। महात्मा गांधी के जीवन-चरित की प्रस्तावना में वह लिखते हैं कि प्राचीन उपनिषदों के आत्म-बल के आधार पर इस विश्वविज्ञान की इमारत खड़ी की गई है और महात्मा गांधी ने उसे अपने आचरण से शास्त्रपूत भी साबित कर दिया है। उसी जगह उस मार्ग के सम्बन्ध में वह कहते हैं, "यह मार्ग हरेक प्रसंग पर, हर समय, अपनाने योग्य होने पर भी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि हर अवसर पर उसका उपयोग किया जाय या नहीं, अथवा वह हर बार उतना ही फलदाई होगा या नहीं ? फिर भी यह तो सभीको मानना होगा कि इसमें बहुत सामर्थ्य है।"[1] लोकमान्य तिलक के ये उद्गार मार्च १६१८ के हैं। इससे यह व्यक्त होता है कि ये सत्याग्रह-मार्ग को कितना श्रेष्ठ समझते हैं। इस तरह गांधीजी और उनके सत्याग्रह को बड़े-बड़े नेता आदर की दृष्टि से देखते थे और गांधीजी ने १६१५ से १६२० तक जो भाषण दिये और जो हलचलें कीं, उनके कारण सामान्य जनता के चित्त को अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। इसी बीच में उन्होंने क्या-क्या हलचलें कीं, इसका हम संक्षेप में सिंहावलोकन करेंगे।

महात्मा गांधी के जिस एक भाषण ने भारतीय जनता का ध्यान अद्भुत रीति से अपनी ओर आकर्षित कर लिया, वह था फरवरी १६१६ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के उद्घाटन-समारम्भ के समय का उनका

[1] लोकमान्य तिलक यांचे चरित्र, खण्ड ३, भाग ४, पृष्ठ ५२

भाषण। इस समारम्भ में पं० मालवीयजी ने हिन्दुस्तान के सभी नेताओं और राजे-महाराजाओं को निमंत्रण दिया था और इस समारम्भ की शोभा के योग्य ही वहां उपस्थित बड़े-बड़े लोगों के भाषणों का एक ज्ञान-पत्र शुरू किया। लार्ड हार्डिंग आदि बड़े-बड़े अधिकारी वहां आये थे और हिंदुस्तान के सैकड़ों उत्साही विद्यार्थी इस ज्ञानयज्ञ में श्रवण-भक्ति के रूप में अपने-अपने कर्तव्य का पाठ पढ़ रहे थे। ४ फरवरी को इस समारम्भ में सैकड़ों विद्यार्थियों, अनेक राजों-महाराजों और डॉ बेसेंट आदि राष्ट्रीय नेताओं के समक्ष महात्मा गांधी का सुप्रसिद्ध भाषण हुआ। डॉ० बेसेंट ने यह समझकर कि इस व्याख्यान का कुछ हिस्सा अत्यन्त ओजस्वी है और ऐसे स्पष्ट विचार कहना राजनैतिक दृष्टि से आपत्तिजनक भी है भाषण के बीच में बाधा डाली; लेकिन फिर भी भाषण वैसा ही जारी रहा। डॉ० बेसेंट सभा-मण्डप से उठकर चली गईं। उन्हींके साथ उपस्थित राजा-महाराजा भी उठ खड़े हुए और उस दिन का यह ज्ञान-सूत्र अधूरा ही रहा। उस भाषण का महत्वपूर्ण भाग यह है :

"कांग्रेस ने स्वराज्य का प्रस्ताव पास किया है। मुझे इसमें कोई शक नहीं है कि कांग्रेस-कमेटी और मुस्लिम लीग जनता के सामने शीघ्र ही कोई कार्यक्रम रखेंगी। किन्तु अपने बारे में तो मैं साफ शब्दों में कह सकता हूं कि मेरा ध्यान इन नेताओं के कार्यों की ओर उतना नहीं जितना इस ओर है कि विद्यार्थी और भारत की सामान्य जनता क्या करेगी। कल जो महाराज अध्यक्ष थे, उन्होंने भारत की गरीबी के बारे में कहा था। अन्य वक्ताओं ने भी इसी बात पर काफी ज़ोर दिया था; लेकिन जिस भव्य मंडप में वॉइसराय ने उद्घाटन किया था, उसमें आपको कौन-सा दृश्य दिखाई दिया ? उसमें कितनी शान, कितनी तड़क-भड़क थी ! पैरिस के किसी जौहरी की आंखों को लुभानेवाला जड़ जवाहरात का वह प्रदर्शन था। कीमती रत्नाभूषणों से सजे इन सरदारों और देश के करोड़ों गरीबों की स्थिति की मैंने तुलना की। मुझे यह अनुभव होने लगा है कि इन सरदारों से कहना पड़ेगा कि जबतक आप इन जवाहरातों को त्याग करके अपनी धन-दौलत को राष्ट्र की थाती समझकर न रखेंगे तबतक हिन्दुस्तान को मुक्ति नहीं मिलेगी। हमारे देश में सत्तर फीसदी किसान हैं और जैसा कि मि० हिगिन्

बोथम ने कल कहा था कि खेत में अन्न की एक बाल की जगह दो बोरी बालें पैदा करने की शक्ति इन्हीं किसानों में है; लेकिन उनके परिश्रम का सारा फल यदि हम उनसे छीन लें या दूसरे को छीन लेने दें तो फिर यह नहीं कहा जा सकेगा कि हममें काफी स्वराज्य-भावना जागृत है। हमारी मुक्ति इन किसानों के ही द्वारा होगी, डॉक्टरों व वकीलों या अमीर-उमरावों के द्वारा नहीं।

"इन दो-तीन दिनों में जिस कारण हृदय में उथल-पुथल मच गई है, उसका अन्त में उल्लेख करना मेरा कर्तव्य हो जाता है। अन्त में उल्लेख किया, इससे यह न समझियेगा कि इसका महत्व कम है। जब वॉइसराय बनारस की सड़कों पर गुजर रहे थे तब हम सबके दिलों में चिन्ता की लहरें दौड़ती रहती थीं। जगह-जगह खुफिया पुलिस तैनात थी। यह देखकर मुझे चोट पहुंची। मन में कहा, यह अविश्वास क्यों? इस तरह जीवित मृत्यु के सन्निकट जिन्दा रहने की अपेक्षा लार्ड हार्डिंग यदि मर गये तो क्या अधिक सुखी न रहेंगे? लेकिन शक्तिशाली सम्राट के प्रतिनिधि को शायद महसूस न हो। उन्हें जीवित मृत्यु के सन्निकट जीना भी शायद आवश्यक मालूम हो। लेकिन यह खुफिया पुलिस हमपर लादने की जरूरत क्यों पड़ी? इनके कारण हमें गुस्सा आयेगा, मन में झुंझलाहट होगी। इनके प्रति तिरस्कार भी मन में उत्पन्न होगा; लेकिन हमें यह न भूल जाना चाहिए कि आज हिन्दुस्तान अधीर व आतुर हो गया है। अतः भारत में अराजकों की एक सेना तैयार हो गई है। मैं भी एक अराजक हूं; लेकिन दूसरी तरह का। अगर मैं इन अराजकों से मिल सका तो उनसे जरूर कहूंगा कि तुम्हारे अराजकतावाद के लिए भारत में गुंजाइश नहीं है। हिन्दुस्तान को अपने विजेता पर अगर विजय पानी है तो उनका तरीका भय का एक चिह्न है। हमारा यदि परमेश्वर पर पूर्ण विश्वास और भरोसा है तो हम किसीसे नहीं डरेंगे। राजा-महाराजाओं से नहीं, वाइसराय से नहीं, खुफिया पुलिस से नहीं और खुद पंचम जार्ज से भी नहीं। अराजकतावादियों के देश-प्रेम के कारण मैं उनका सम्मान करता हूं। अपने देश के लिए प्राण देने को तैयार होने के शौर्य के कारण उनका सम्मान करता हूं; लेकिन में उनसे पूछता हूं कि हत्या करने में कौन-सी बहादुरी है? हत्यारे की खंजर क्या

सम्मान-योग्य मृत्यु का सुयोग्य चिह्न है ? मैं इससे इनकार करता हूं। ऐसे मार्ग के लिए किसी भी धर्म का आधार नहीं है। हिन्दुस्तान की मुक्ति के लिए यदि मुझे यह जरूरी लगा कि अंग्रेजों को यहां से चला जाना चाहिए तो मैं वैसा साफ-साफ कहूंगा और मुझे आशा है कि अपने इस विश्वास के लिए मैं अपने प्राण भी देने को तैयार हो जाऊंगा। मेरी राय से ऐसी मृत्यु सम्मान-योग्य मृत्यु है। बम फेंकनेवाले गुप्त षड्यन्त्र रचते हैं, प्रकट होने में डरते हैं, और पकड़े जाने पर अपने गलत रास्ते जानेवाले उत्साह की सजा भुगतते हैं। कुछ लोग मुझसे कहते हैं कि हमने ऐसा न किया होता, कुछ लोगों पर बम न फेंके होते तो बंगभंग की हलचल के कारण हमें जो मिला वह न मिला होता। (डॉ० बेसेंट—कृपा करके यह विषय समाप्त कीजिये।) बंगाल में मि० लिऑन की अध्यक्षता में जो सभा हुई थी उसमें भी मैंने यही कहा था। मैं जो कह रहा हूं वह मुझे जरूरी मालूम होता है। फिर भी मुझे रुकने को कहा जायगा तो मैं रुक जाऊंगा। (अध्यक्ष की ओर घूम-कर) मैं आपकी आज्ञा की राह देख रहा हूं। यदि आपको यह प्रतीत होता हो कि अपने भाषण के द्वारा मैं राष्ट्र और साम्राज्य की सेवा नहीं कर रहा हूं तो मैं जरूर चुप हो जाऊंगा। ('कहे-जाइये', 'कहे जाइये,' ऐसी आवाजें) (अध्यक्षा—अपना मतलब साफ करके कहिये।) मैं अपना आशय ही स्पष्ट कर रहा हूं। मैं सिर्फ (फिर रुकावट) मित्रो, कृपया इस रुकावट के प्रति निन्दा न व्यक्त कीजिये। डॉ० बेसेंट को ऐसा लग रहा है कि मुझे रुक जाना चाहिए। वह भारत से बहुत प्रेम रखती हैं और मैं जो विचार प्रकट कर रहा हूं वे तुम जैसे युवकों के सामने स्पष्टतया कहकर मैं गलती कर रहा हूं यहीं उनका ख्याल है और इसीलिए वह रोकना चाहती हैं। लेकिन ऐसा हो तब भी मैं सिर्फ यही कहना चाहता हूं कि भारत में दोनों पक्षों में जो परस्पर सन्देह का वातावरण है उसे हिन्दुस्तान से निकाल डालने की मेरी इच्छा है। परस्पर प्रेम के आधार पर स्थित साम्राज्य हमें चाहिए...राज्या-धिकारियों से हमें जो कहना हो साफ-साफ और निडर होकर कहें और यदि हमारा कहना उन्हें बुरा लगे, उसका फल भोगने को भी हम तैयार रहें। लेकिन हम अपशब्दों का व्यवहार न करें...हां, कई अधिकारी बड़ी मगरूरी से पेश आते हैं, मनमानी करते हैं। वे जुल्म करते हैं और कई बार अविवेकी

भी बन जाते हैं। ऐसे कई विशेषणों का उपयोग उनके लिए किया जा सकता है। और मैं यह भी मानता हूं कि कई साल भारत में रहने पर उनका कुछ अधःपतन भी होता है। लेकिन इससे क्या पता चलता है? वे भारत आने के पहले सभ्य थे, उनका यह गुण यहां आने पर नष्ट हो गया तो जिम्मेदारी हमारी है। कल तक जो मनुष्य अच्छा था वही यदि मेरे सहवास से आज बिगड़ जाय तो उसके लिए वह जिम्मेदार है या मैं? भारत में आने पर उन्हें जो खुशामद का, और कृत्रिम वातावरण मिलता है, उससे उनका नैतिक अधःपात् होता है। ऐसी स्थिति में तो हममें से भी कइयों का पतन हो जायगा। अपनेको दोषी मानने का भी कई बार सदुपयोग होता है। हमें यदि कभी स्वराज्य मिलेगा तो तभी कि जब हम उसे लेंगे। हमें दान के रूप में स्वराज्य कभी भी नहीं मिलेगा। ब्रिटिश-साम्राज्य और ब्रिटिश-राष्ट्र का इतिहास देखिये। वे खुद भले ही स्वतंत्रता का उपयोग कर रहे हों, लेकिन जो खुद स्वतंत्रता प्राप्त नहीं करते उन्हें वे कभी स्वतंत्रता न देंगे। वोअर-युद्ध से आप चाहें पाठ सीख सकते हैं। कुछ दिनों पूर्व जो इस राष्ट्र के दुश्मन थे वे ही आज उनके मित्र हैं। (इस समय डॉ० बेसेंट और मंच पर बैठे हुए राजा-महाराजा उठकर चले गये और सभा समाप्त हो गई।[१])

इस किस्से से अखबारों में वाद-विवाद शुरू हो गया। जिसके कारण पाठकों का ध्यान महात्मा गांधी की तरफ आकर्षित हुआ। उस समय सामान्य शिक्षित लोगों में यह चर्चा शुरू हुई कि हिन्दुस्तान में यह कोई नया राजनैतिक तत्वज्ञान आ रहा है। डॉ० बेसेंट ने कहा कि एक सन्त के नाते महात्मा गांधी भले ही बहुत बड़े हों; लेकिन राजनीति की दृष्टि से वह एक दुधमुंहे बच्चे हैं। गरम दल के लोग कोसने लगे कि इनका निःशस्त्र प्रतिकार पहलेवाला बहिष्कार-योग ही है। नरम दल के कहने लगे कि इनकी अहिंसा व राज्यनिष्ठा संशयातीत है, इसलिए ये हमींमें से हैं। सुधारक कहने लगे कि गांधीजी भी यही कहते हैं कि हमारी गुलामी के कारण हमीं हैं और जबतक हमारा सुधार न होगा हमें स्वराज्य न मिलेगा, इसलिए

[१] Speeches and Writings of M.K. Gandhi by Natesan and Co. Page 252.

गांधीजी सुधारक हैं। धर्मसुधारक कहने लगे कि महात्मा गांधी भागवत-धर्मी सन्त हैं और हमारे धर्म-सुधार का तत्व उन्हें मान्य है। सनातनी कहने लगे कि वह चातुर्वर्ण्य पालनेवाले सनातनी हिन्दू हैं और कभी हुई तो इन्हीं के द्वारा भारत में धर्मराज्य की या रामराज्य की स्थापना हो सकेगी। नास्तिक कहने लगे : महात्मा गांधी मानते हैं कि सत्य के सिवा कोई धर्म नहीं है और सत्य ही परब्रह्म है। इसलिए एक तरह से वह नास्तिक ही हैं, क्योंकि सत्य के सिवा और किसी ईश्वर को वह नहीं मानते। राजनैतिक सुधार पहले चाहनेवाले लोग गांधीजी के जीवन की ओर संकेत करके कहने लगे कि इन्होंने 'राजनैतिक सुधार पहले' यही पाठ पढ़ाया है। क्रांतिकारी कहने लगे कि वह हैं तो एक क्रान्तिकारी ही; लेकिन उस्तादी से, पालिसी से शान्ति और अहिंसा का उपदेश कर रहे हैं। इसके विपरीत कुछ उग्र कहे जानेवाले व नेता समझे जानेवाले लोग यों भी कहते हैं कि गांधी सरकार का ही एक खुफिया है। सरकार महायुद्ध के इस आपत्काल में साम्राज्य की रक्षा के लिए उग्र राजनीति व क्रान्तिकारी दल को नष्ट करने में इनको इस्तेमाल कर रही है। यह हमारी मंडली का नहीं हो सकता। इस तरह जितने मुंह उतनी बातें लोग १९१६-१७ में गांधीजी के बारे में करते थे। इसमें कोई शक नहीं कि गांधी इस समय पढ़े-लिखे लोगों में चर्चा का एक विषय थे और पूर्वोक्त घटना से इस चर्चा को विशेष गति जरूर मिल गई थी।

१९१६ के अन्त में महात्मा गांधी का ध्यान फिजी के गिरमिटियों की हालत की तरफ गया। गिरमिटिया-प्रथा को अंग्रेजों के लिए हिन्दुस्तानियों को बाकायदा गुलाम बनाकर भेजने की प्रथा ही कहना चाहिए। १९१५ में लार्ड हार्डिंग ने यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया था कि यह प्रथा उठा दी जाय। परन्तु यह अफवाह सब जगह फैल गई कि और पांच साल तक इस प्रथा को जारी रखने का आश्वासन लार्ड हार्डिंग ने फिजी के गोरों को दे दिया है। इसका रहस्य प्रकट होते ही महात्माजी ने इस प्रश्न को अपने हाथ में लिया और यह घोषणा कर दी कि यदि ३१ मई, १९१७ के पहले यह प्रथा बन्द न हुई तो मैं सत्याग्रह शुरू करूंगा। तब तत्कालीन वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने एलान किया कि १२ अप्रैल से यह प्रथा भारत-रक्षा-

कानून की रू से युद्ध चलने तक बन्द की गई है। बाद को महायुद्ध खत्म होते ही यह प्रथा बन्द कर दी गई। इस छोटी-सी विजय से महात्माजी की ओर लोगों का ध्यान और भी खिंच गया।

इसी समय महात्माजी ने चम्पारन के निलहे गोरों के जुल्म से वहां के किसानों को छुड़ाने का आन्दोलन किया। लखनऊ-कांग्रेस के समय इस प्रश्न की ओर महात्माजी का ध्यान दिलाया गया। उसके बाद अप्रैल १९१७ में महात्माजी मोतीहारी (चम्पारन) में जांच के लिए जा पहुंचे। वहां के मजिस्ट्रेट ने १४४ दफा के अनुसार उन्हें चम्पारन जिला छोड़कर चले जाने का हुक्म दिया। महात्माजी ने उसे नहीं माना व अपना 'कैसर-ए-हिन्द' नामक सोने का तमगा सरकार को लौटा दिया। अदालत में उन्होंने अपना अपराध मंजूर किया और कहा कि मैं इसकी सजा भोगने को खुशी से तैयार हूं। परन्तु अन्त में सरकार के आदेश से उनपर से मुकदमा हटा लिया गया व महात्माजी तथा उनके अनुयायियों को उस जिले में किसानों की स्थिति की जांच व उनकी सेवा करने की छुट्टी मिली। बाद में सरकार ने भी एक जांच-कमीशन बिठाया, जिसमें महात्माजी भी एक सदस्य बनाये गए। अन्त को सरकार ने एक कानून बनाया, जिसके द्वारा किसानों की वे सब शिकायतें, जो सौ साल से किसी भी तरह मिट नहीं रही थीं, महात्माजी की सत्याग्रह-नीति के कारण दूर हो गई। तबसे बिहार-निवासी व किसान महात्माजी के बड़े भक्त हो गये।

फिर जनवरी १९१८ में उन्होंने खेड़ा जिले के अकाल के प्रश्न में हाथ डाला। अकाल रहते हुए भी वहां छूट न देकर किसानों से लगान वसूल किया जा रहा था, यह देखकर उन्होंने करबन्दी का आन्दोलन शुरू किया व उसमें सफलता मिली। इससे हिन्दुस्तान के किसानों को यह विश्वास जमने लगा कि ब्रिटिश सरकार को भी, जो कि हमपर हुकूमत चलाती है, झुका देने की शक्ति गांधीजी के पास है। चम्पारन व खेड़ा में सत्याग्रह के सफल प्रयोगों को देखकर पढ़े-लिखे लोगों की भी यह धारणा होने लगी कि यह हमारे उद्धार का एक ऐसा साधन जरूर है, जो भारत-भूमि में उग व फल-फूल सकता है। महात्माजी का भी आत्मविश्वास इससे बढ़ गया।

इसके बाद ही महायुद्ध के सिलसिले में धन-जन की सहायता के लिए

दिल्ली में सरकार ने एक दरबार किया। इसमें डॉ० बेसेंट व लोकमान्य तिलक को निमन्त्रण न मिलने से महात्मा गांधी ने जाने से इनकार कर दिया था। मगर बाद में वाइसराय के आग्रह से वह गये थे। उन्होंने अपना मत वहां साफ तौर पर जाहिर किया, जिसपर लोकमान्य तिलक ने 'केसरी' में सन्तोष प्रकट किया था। इस दरबार से लौटकर महात्माजी ने वाइसराय को एक खत लिखा था, "साम्राज्य की हिस्सेदारी में अभी हमारा चंचुपात भी नहीं हुआ है। भावी आशा के भरोसे हम अपना काम चला रहे हैं। इस आशा को सफल करने का सौदा मैं करना नहीं चाहता। परन्तु यह जता देना उचित होगा कि इस आशा का टूटना मानो हमारा भ्रम दूर होना ही है। हमने यदि साम्राज्य-रक्षा के लिए अपनी सेवाएं दीं तो उसके फल-स्वरूप हमें यह दिखाई पड़ना चाहिए कि स्वराज्य मिल गया। आपने कहा कि घरेलू झगड़े निपटा लो; पर इसका अर्थ अगर यह हो कि हम हुकूमत के जोरो-जुल्म चुपचाप सहन करते रहें तो यह मानने में मैं असमर्थ हूं। यही नहीं, बल्कि इस संगठित जुल्म का प्रतिकार मैं अपनी सारी शक्ति लगाकर करता रहूंगा। आप अधिकारियों को यह बता दें कि वे किसी शख्स पर जुल्म न करें और लोकमत का अधिक-से-अधिक आदर करते हुए शासन-कार्य चलावें। चम्पारन में बरसों के जुल्मों का प्रतिकार करके मैंने ब्रिटिश न्याय की श्रेष्ठता प्रकट की है। खेड़ा ज़िले में जो जनता सरकार को शाप दे रही थी। उसे अब यह जंचने लगा है कि यदि हम अपने हक—सत्य—के लिए कष्ट उठाने को तैयार हैं तो वास्तविक सत्ताधारी सरकार नहीं बल्कि खुद हमीं हैं। इससे उनकी कटुता आज दूर हो रही है और वे कहते हैं, यह सरकार लोक-हितकारी ही होगी; क्योंकि जहां कहीं अन्याय का प्रतिकार सविनय अवज्ञा के द्वारा किया जाता है वहां वह उसे मानती है। इस तरह चम्पारन व खेड़ा में मैंने अपने ढंग से साम्राज्य की निश्चित व खास सेवा की है। इस तरह के मेरे काम को बन्द करने के लिए मुझसे कहना मानो मुझे अपना जीवन ही स्थगित करने के लिए कहना है।"

इससे यह जाना जाता है कि वह महायुद्ध की विकट परिस्थिति में भी जनता को अपने हकों के लिए सत्याग्रह का अवलम्बन करने की शिक्षा दे रहे थे। इससे यह बात भी बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाती है कि वे उन दिनों

स्वराज्य के आन्दोलन में ज्यादा हिस्सा क्यों नहीं ले रहे थे। वह मानते थे कि स्वराज्य का जन्म, जिस तरह का आन्दोलन उस समय हो रहा था उससे नहीं, बल्कि सत्याग्रह के बल से होगा। इसलिए वह उसमें या विलायत शिष्ट-मंडल ले जाने के फेर में नहीं पड़े। जब कांग्रेस का शिष्टमंडल विलायत गया तो वह उसके साथ न जाकर हिन्दुस्तान में सत्याग्रह का पाठ लोगों को पढ़ाते रहे। १९१९ में महात्माजी ने एक राष्ट्रव्यापी सत्याग्रह का प्रयोग शुरू किया। उस साल जनवरी में रोलट कानून, जोकि काले कानून नाम से पुकारा गया, भारत सरकार ने बनाया। इसका विरोध धारा-सभाओं में लोक-प्रतिनिधियों ने बड़े जोरों से और असंदिग्ध भाषा में किया, बल्कि भाषणों में ऐसी धमकी भी दी कि लोकमत को ठुकराकर यदि ऐसा कानून जनता के सिर पर थोपा गया तो उसका फल सरकार को भोगना पड़ेगा। मगर सरकार ने समझा कि यह 'गीदड़ भबकी' है और कानून पास कर लिया। तब २ फरवरी को महात्मा गांधी ने हिन्दुस्तान भर में सत्याग्रह का पहला शंख फूंका।

इसका श्रीगणेश ३० मार्च को हड़ताल और उपवास से होनेवाला था; परन्तु बाद को यह दिन बदलकर ६ अप्रैल कर दिया गया। लेकिन कुछ भूल से दिल्ली में यह दिन ३० मार्च को ही मनाया गया। इसी दिन वहां जुलूस में पहली बार गोली चली और स्वामी श्रद्धानन्द गुरखों की संगीन के सामने छाती खोलकर खड़े हो गये। स्वामीजी का यह सत्याग्रह सफल हुआ और गुरखों के हृदय में सत्यरूपी परमेश्वर जागा। घट-घट में सत्यरूपी परमेश्वर मौजूद है और अनासक्ति की भावना से आत्माहुति की जाय तो वह उससे प्रकट हो जाता है। सत्याग्रह का यह अनुष्ठान आधुनिक भारत के इतिहास में पहले-पहल ही लोगों को जंचा। सरकारी फौज के गुरखे सैनिक भी 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' धर्म-शास्त्र या अध्यात्मशास्त्र में इस सिद्धान्त के अपवाद नहीं हैं, यह देखकर विचारशील लोगों का विश्वास इस सिद्धान्त पर अधिक दृढ़ हुआ। दिल्ली में गोली चलने की खबर सुनकर महात्माजी उस तरफ को चल पड़े। उन्हें कोसी स्टेशन पर रोक लिया गया और पंजाब व दिल्ली प्रान्त में जाने की मनाही कर दी गई। जब गांधीजी ने उसे नहीं माना तो उन्हें गिरफ्तार करके १

अप्रैल को बम्बई लाकर छोड़ दिया गया। ६ अप्रैल को सारे हिन्दुस्तान के कस्बे-कस्बे में, हड़ताल, उपवास, प्रार्थना, जुलूस, सभा आदि हुई। जगह-जगह पर सत्याग्रह-मंडल कायम हुए, गैरकानूनी साहित्य प्रकाशित किया गया और बिना डिक्लेरेशन दिये अखबार निकालने का निश्चय महात्माजी ने किया। 'सत्याग्रही' नामक अखबार निकाला गया और गांधीजी के वे पुराने लेख जो राजद्रोहात्मक करार दिये गए थे, फिर से छापकर बांटे गये। इधर लोगों में ऐसा जोश बढ़ रहा था और उधर एकाएक उनकी गिरफ्तारी की खबर सुनकर लोग आपे से बाहर हो गये और जगह-जगह दंगे, अंग्रेजों के खून, लूटमार, आग, रेल की पटरी और तार उखाड़ना अनेक प्रकार के उपद्रवों की भीषण लहर फैल गई। महात्माजी जब बम्बई लाये गए तो वहां दंगा चालू था। उन्होंने उसे शान्त किया। अन्त को उपद्रव रोकने के लिए उन्होंने तीन दिन का उपवास किया। फिर १८ अप्रैल को आवश्यक शान्तिमय वातावरण के अभाव में यह आन्दोलन अनिश्चित काल के लिए स्थगित करना पड़ा। इन्हीं दिनों पंजाब में भी जगह-जगह दंगे हुए। फौजी कानून जारी कर दिया गया। १५ अप्रैल को अमृतसर के जलियांवाला बाग में बीस हजार लोगों की भीड़ पर मशीनगन से गोलियां चलाई गई और लोगों पर अजहद जुल्म और बेइज्जती की गई। सरकारी गिनती के अनुसार चारसौ लोग मरे और एक हजार दो घायल हुए। इनमें हिन्दू, मुसलमान, स्त्री, पुरुष-बालक-वृद्ध सभी थे। जख्मियों को वैसे ही मुर्दों के साथ बिना किसी उपचार के रात-भर रहना पड़ा। यह आसुरी काण्ड जब प्रकट हुआ और हंटर-कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई तब महात्मा गांधी ने ब्रिटिश-साम्राज्य के साथ असहयोग-युद्ध ठान दिया। लोकमान्य तिलक इन दिनों विलायत थे। वह हिन्दुस्तान लौटे और बम्बई की सभा में उन्होंने कहा, "मुझे अफसोस इतना ही है कि रौलट बिल के खिलाफ जब गांधीजी ने सत्याग्रह शुरू किया, तब उसमें सम्मिलित होने के लिए मैं हिंदुस्तान में मौजूद नहीं था। शिष्ट-मण्डल का परिणाम आशाजनक नहीं है, इसलिए स्वराज्य का आन्दोलन जोरों से करते रहना चाहिए।" उनके इस भाषण का हमारे ख्याल में यही अर्थ निकलता है कि उनकी राय में स्वराज्य शिष्टमण्डलों के द्वारा नहीं बल्कि सत्याग्रह के ही द्वारा मिल सकता था।

इसके बाद अमृतसर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इसमें महात्माजी के आग्रह से एक प्रस्ताव पास हुआ, जिसमें लोगों की तरफ से हुए उपद्रव की निन्दा की गई थी। इसे पेश करते हुए महात्माजी ने कहा—"हमारी भावी सफलता की कुंजी इसीमें है कि हम इस प्रस्ताव के मूलभूत सत्य को हृदय से स्वीकार करें व उसपर अमल करें। यदि हम उस शाश्वत सत्य को न समझेंगे तो हम असफल हुए बिना न रहेंगे। सरकार यदि पागल हो गई तो लोग भी उसके साथ पागल हो गये। पागलपन का जवाब पागलपन से नहीं बल्कि समझदारी से दीजिये, जिससे सारी स्थिति आपके काबू में आ जाय।" महात्माजी के इस प्रस्ताव को मंजूर करना मानो उनके सत्याग्रह के धरातल और सिद्धान्त को मान लेना था। यह स्वीकार कर लेना था कि हमारी राजनीति का अब आगे सत्याग्रह के सिवा दूसरा अधिष्ठान मानना सम्भवीय नहीं है और इस अधिष्ठान को कायम करना है तो 'जैसे के साथ तैसा' की नीति नहीं बल्कि 'पागलपन का जवाब समझदारी से देने' की नीति और सिद्धान्त के अनुसार चलना होगा।

अमृतसर-कांग्रेस के पहले, नवम्बर १६१६में, दिल्ली में अखिल भारतीय खिलाफत कमेटी की मीटिंग हुई थी। उसमें खिलाफत के मामले में न्याय न हुआ तो महात्माजी की सलाह से असहयोग करने का प्रस्ताव पास हो चुका था। अर्थात् महात्माजी पहले से ही असहयोग-संग्राम की तैयारी कर रहे थे। लेकिन जबतक पंजाब व खिलाफत के विषय में सरकार अपनी नीति की घोषणा साफ तौर पर न कर दे तबतक लड़ाई का बिगुल बजाना ठीक न जंचता था। अन्त को जब सरकार की ओर से पूरी निराशा मिली तब उन्होंने स्पष्ट रूप से असहयोग की घोषणा कर दी।

जब पिछले महायुद्ध में तुर्किस्तान के खिलाफ हिन्दुस्तान के मुसलमानों के लड़ने का सवाल पैदा हुआ तब उन्हें यह आश्वासन दिया गया था कि मुसलमानों के धर्म-क्षेत्रों पर से खलीफा की सत्ता नष्ट नहीं की जायगी; लेकिन वे वायदे तोड़ दिये गए। अतः खिलाफत के मसले में महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक व लाला लाजपतराय तीनों एकमत थे। तीनों को यही लगता था कि ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों को दिये सब वचन तोड़ दिये, उनके साथ विश्वासघात किया तो प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य है कि इस

समय मुसलमानों का साथ दे। प्रश्न यह था कि मुसलमानों का साथ देकर ब्रिटिश-साम्राज्य से लड़ा जाय और इस तरह हिन्दुस्तान की आजादी फिर हासिल की जाय, या इस भय से कि हमें आजादी मिलने पर सम्भवतः मुसलमान सिरजोर हो जायंगे और अपनी हुकूमत कायम कर लेंगे, ब्रिटिश साम्राज्य के गुलाम ही बने रहें ? ऐसे समय लोकमान्य व गांधीजी ने यही उत्तर दिया कि ब्रिटिश-साम्राज्य से लड़ना ही प्रत्येक राजनीतिज्ञ व देश-भक्त हिन्दू का पवित्र कर्तव्य है। कांग्रेस डेमोक्रेटिक पक्ष के घोषणा-पत्र में तिलक ने कहा—मुसलमानों की इस मांग का कि हमारी धार्मिक भावना व कुरान की शरीयत के मुताबिक खिलाफत का मसला हल होना चाहिए, यह दल समर्थन करता है। लालाजी ने कलकत्ता में कांग्रेस के अध्यक्षपद से दिये अपने भाषण में बहुत खूबी से यह बताया है कि महज राजनैतिक व राष्ट्रीय दृष्टि से भी इस समय मुसलमानों का साथ देना हमारा कर्तव्य है। पश्चिमी एशिया के साथ मुस्लिम राज्यों को अपने साम्राज्य में मिलाने की कैसी चाल अंग्रेज व फ्रांसीसी राजनेता चल रहे हैं, और यदि यह सफल हुई तो ईरान, अरब, मेसोपोटेमिया, बल्कि अफगानिस्तान में से भी मुसलमान फौज लाकर अंग्रेज किस तरह हमारी गुलामी को अमिट बना सकेंगे, यह उन्होंने बहुत अच्छी तरह दिखाया। यदि ये तीनों इस नीति को अंगीकार न करते तो राष्ट्रद्रोही व व्यवहारशून्य राजनैतिक नेता साबित हुए होते। महात्मा गांधी ने साफ-साफ कह दिया कि मैं मुसलमानों की तरह अंग्रेजों का भी दोस्त हूं। लेकिन अगर यह सवाल आया कि मुझे अंग्रेज व मुसलमान दो में से किसी एक की दोस्ती छोड़नी पड़े तो मैं अंग्रेजों की दोस्ती छोड़ दूंगा और अपने राष्ट्र-बन्धुओं के नाते मुसलमानों का साथ दूंगा तथा उनकी तरफ से अंग्रेजों से लड़ूंगा। इस लड़ाई में धर्म के तौर पर नहीं किंतु नीति के तौर पर अहिंसा को मानना मुसलमानों ने मंजूर किया था। १० मार्च, १९२० को असहयोग की जो पहली घोषणा प्रकाशित हुई उसमें गांधीजी कहते हैं :

"अगर हमारी मांगें मंजूर न की गई तो हमें क्या करना चाहिए इसके बारे में दो शब्द लिखता हूं। गुप्त या प्रकट रूप से सशस्त्र युद्ध करना एक जंगली तरीका है। आज वह अव्यावहारिक है, इसलिए उसे छोड़ देना उचित

है। यदि मैं सबको यह समझा सकूं कि यह तरीका हमेशा के लिए अनिष्ट है तो हमारी सब मांगें बहुत जल्दी पूरी हो जायं। जो व्यक्ति या राष्ट्र हिंसा को छोड़ देता है उसमें इतना बल आ जाता है कि उसे कोई नहीं रोक सकता। परन्तु अब तो मैं अव्यवहार्यता व निष्फलता के आधार पर हिंसा का विरोध कर रहा हूं। हमारे सामने एक रास्ता है, असहयोग। वह सीधा व साफ मार्ग है। हिंसात्मक न होने से वह कारगर भी उतना ही होगा। सहयोग से जब अधःपात व अपमान होने लगता है या हमारी धार्मिक भावनाओं को चोट पहुंचती है, तब असहयोग कर्तव्य हो जाता है। जिन हकों को मुसलमान अपनी जान से भी ज्यादा प्यारा समझते हैं उनके अपहरण को हम चुपचाप सह लेंगे, ऐसा ख्याल इंग्लैंड न बना सकेगा और इसलिए, हम पूरा असहयोग अमल में ला सकेंगे। जिन्हें पद-पदवियां, तगमे मिले हों वे उन्हें छोड़ दें। छोटी-छोटी सरकारी नौकरियां भी छोड़ दी जायं। हां, खानगी नौकरियों का समावेश असहयोग में नहीं होता। जो असहयोग न करें उनका सामाजिक बहिष्कार करना ठीक नहीं। स्वयंप्रेरित असहयोग ही जनता की भावना व असन्तोष की कसौटी है। सैनिकों को फौजी नौकरी छोड़ने के लिए कहना असामयिक है। वह पहली नहीं आखिरी सीढ़ी है। जब वाइसराय, भारत मंत्री, प्रधान मंत्री कोई भी हमें दाद न देंगे तभी हमें उस सीढ़ी पर पांव रखने का अधिकार होगा। असहयोग का एक-एक कदम हमें बहुत सोच-विचार कर उठाना होगा। अत्यन्त प्रखर वातावरण में भी हमें आत्मसंयम रखना होगा, इसलिए हमें आहिस्ते कदम ही चलना होगा।"

इस घोषणापत्र में असहयोग-संग्राम का सारा कार्यक्रम बीज-रूप में आ जाता है। कोई भी सरकार मुल्की व फौजी व्यवस्था में प्रजा के सहयोग के बिना एक कदम नहीं चल सकती और प्रजा द्वारा घोषित असहयोग में यदि मुल्की व फौजी अफसर एवं नौकर शामिल हो गये तो फिर जनता जिस राज्य को नहीं चाहती वह नहीं टिक सकता और उसकी जगह नवीन राज्य की स्थापना हो जाती है। निःशस्त्र राज्यक्रांति की यह तात्विक उपपत्ति है। वह इस उद्धरण में दी गई है। जबतक देश की जनता में यह आत्म-विश्वास नहीं पैदा होता कि हम अपने संगठन के बल पर अपना राज्य चला

लेंगे और देश में अंधाधुन्धी न होने देते हुए शान्ति स्थापित कर सकेंगे तब-तक प्रस्थापित राजसत्ता की पुलिस व फौजी महकमे के लोगों को असहयोग के लिए न पुकारना चाहिए, क्योंकि उनके अभाव में यादवी-गृहकलह व अराजकता फैलने की व जनतन्त्र की शान्ति के बजाय सैनिकवाद व ताना-शाही की मनमानी चल निकलती है, जिससे विदेशी सत्ता को लाभ मिलेगा व शान्तिमय क्रान्ति सफल न होगी। इसलिए गांधीजी ने इस घोषणापत्र में कहा है कि सैनिक असहयोग बिल्कुल आखिरी सीढ़ी है।

इसके बाद, खिलाफत, पंजाब व स्वराज्य के बारे में सरकार की तरफ से पूर्ण निराश हो जाने पर महात्माजी ने १ अगस्त, १९२० को असहयोग-युद्ध की दुन्दुभी बजा दी और कलकत्ता-कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में उस-पर अपनी मुहर-छाप लगा दी। असहयोग का कार्यक्रम इस प्रकार बनाया गया।

(१) उपाधियां व तमगे-बिल्ले लौटा देना,

(२) सरकारी दरबार, उत्सव आदि समारम्भों से असहयोग,

(३) सरकारी व अर्द्धसरकारी पाठशालाओं का बहिष्कार व उनकी जगह राष्ट्रीय शालाओं की स्थापना,

(४) अदालतों का बहिष्कार व पंचायतों की स्थापना,

(५) मेसोपोटेमिया के लिए सैन्य भरती व मुल्की नौकरियों का बहिष्कार,

(६) धारा-सभाओं का व मतदान का बहिष्कार,

(७) विदेशी माल का बहिष्कार।

इसमें देशबन्धुदास आदि कुछ नेताओं ने धारासभा के बहिष्कार का तत्वत: विरोध किया था; लेकिन अन्त में महात्मा गांधी का प्रस्ताव बहुत बड़े बहुमत से पास हुआ। तभी से कांग्रेस ने महात्माजी के सत्याग्रह की दीक्षा ली व अन्त तक वह उनके नेतृत्व में स्वराज्य की लड़ाई लड़ती रही।

सन् १९२० के अन्त में नवीन धारासभाओं का पहला चुनाव हुआ, जिसके बहिष्कार में सब नेताओं ने पूरा सहयोग दिया। यह असहयोग-संग्राम की पहली चढ़ाई थी। देशबन्धु व नेहरूजी ने वकालत छोड़ दी व अदालतों का बहिष्कार किया। नागपुर-कांग्रेस ने भी इस कार्यक्रम को मंजूर

किया। तबसे १९२२ में महात्माजी को राजद्रोह में छः साल की सजा देने के समय तक, महाराष्ट्र के केलकर-पक्ष को छोड़कर, किसी भी राष्ट्रीय नेता ने इस कार्य में बेसुरा राग नहीं अलापा और न कोई विघ्न पैदा किया।

१९२० में कांग्रेस ने अपने पुराने ध्येय—औपनिवेशिक स्वराज्य वैध मार्गों से—को बदलकर 'उचित व शान्तिमय साधन से स्वराज्य-प्राप्ति' कर दिया। बहिष्कार-योग की पहलेवाली टूटी हुई श्रृंखला फिर असहयोग-योग के रूप में जुड़ गई। इसी तरह लोकमान्य प्रभृति राष्ट्रीय नेताओं का यह आग्रह कि स्वतन्त्रतावादी दल को कांग्रेस में सम्मानपूर्वक आने की सुविधा रहे, महात्माजी ने पूरा किया व कांग्रेस में स्वातन्त्र्यवादी शान्तिमय वीरों की शक्ति का संचय किया। सूरत में लोकमान्य ने जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिए नरम दलवालों से झगड़ा किया था वह १९२० में महात्माजी ने पूरा कर दिया।

नवम्बर १९२० में सरकार ने इस आन्दोलन के विषय में अपनी नीति घोषित की। कहा कि आन्दोलन के मूल प्रणेताओं ने जो उसकी सीमाएं बांध दी हैं, उन्हें लांघकर जो हिंसा को उत्तेजना देंगे या पुलिस अथवा फौज की राजभक्ति कम करने की कोशिश करेंगे उन्हींपर कानूनी कार्रवाई की जाय, ऐसी हिदायतें प्रान्तीय सरकारों को दी गई हैं। उस समय सरकार ने शायद यह सोचा होगा कि लोगों की सहानुभूति के अभाव में असहयोग की यह हलचल अपनी मौत आप ही मर जायगी। लेकिन इसका बल जैसे-जैसे बढ़ने लगा वैसे-वैसे यह दीख पड़ने लगा कि सरकार अपनी इस नीति पर कायम न रह सकेगी व दमन पर उतारू हो जायगी। इस समय लार्ड चेम्सफर्ड चले गये थे और लार्ड रीडिंग का दौर शुरू ही हुआ था।

३१ मार्च व १ अप्रैल को बेजवाड़ा में कांग्रेस की कार्यसमिति व महासमिति की बैठकें हुई, जिनमें यह तय हुआ कि तिलक स्वराज्य फंड के लिए एक करोड़ रुपया जमा किया जाय, बीस लाख चरखे चलाये जायं, शराबखोरी मिटाई जाय व पंचायतें स्थापित की जायं। इन्हीं दिनों सरकार ने जाब्ता फौजदारी की १४४ व १०८ धाराओं के अनुसार भाषणबन्दी, सभाबन्दी, जमानतें तलब करना आदि नागरिक स्वतन्त्रताओं पर कुठाराघात

करनेवाली दमन-नीति शुरू कर दी थी। लेकिन कार्य-समिति ने इन हुक्मों को तबतक तोड़ने की मनाही कर दी थी जबतक कानून-भंग की नौबत न आ जाय।

मई १९२१ में मालवीयजी की मध्यस्थता से लॉर्ड रीडिंग व गांधीजी की मुलाकात हुई। उसमें, ऐसा मालूम होता है कि लॉर्ड रीडिंग ने महात्माजी को यह आश्वासन दिया था कि जबतक आन्दोलन अहिंसा की मर्यादा के अन्दर रहेगा तबतक नागरिकता के मूलभूत अधिकारों पर प्रहार करके दमन-नीति अंगीकार नहीं की जायगी। इधर महात्माजी ने भी उन्हें यह जताया होगा कि मैं अहिंसात्मक नीति के बारे में बहुत सावधान हूं और यह साबित करने के लिए उन्होंने कहा होगा कि अली-भाइयों के भाषणों में ऐसे उद्गार होंगे, जिनसे हिंसा को प्रोत्साहन मिलता होगा। तो उसके लिए खेद प्रदर्शित करावेंगे, क्योंकि उस मुलाकात के बाद ही अली-बन्धुओं की तरफ से एक विज्ञप्ति प्रकाशित की गई थी, जिसमें उन्होंने अपने भाषणों के कुछ अंशों पर खेद प्रदर्शित किया था और अहिंसा-नीति पर फिर अपना विश्वास प्रकट किया था। कहना न होगा कि यह सब महात्माजी की सलाह से ही हुआ होगा। इसके बाद सितम्बर तक सरकार ने दमन-नीति का खास तौर पर अवलम्बन नहीं किया; मगर बाद में अली-भाइयों पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। यह दमन-नीति का श्रीगणेश था। इस समय तक तिलक स्वराज्य-फण्ड पूरा हो चुका था। बीस लाख चरखे चलाने का संकल्प पूरा होकर खादी का काम जोरों से शुरू हो गया था। जुलाई सन् १९२१ के अन्त में महासमिति की जो बैठक बम्बई में हुई उसमें यह प्रस्ताव पास हुआ कि जिस सरकार ने बहुसंख्यक भारतीय प्रजा का पृष्ठपोषण व विश्वास खो दिया है उसकी मुल्की व फ़ौजी नौकरी छोड़ देने का अर्थात् असहयोग की सलाह देने का प्रत्येक नागरिक का मूलभूत अधिकार है। 'अंकारा' की तुर्की सरकार से ब्रिटिश सरकार की लड़ाई छिड़ जाने की आशंका थी, इसलिए एक यह भी प्रस्ताव किया गया कि इसमें हिन्दुस्तानी सैनिक ब्रिटिश सरकार से सहयोग न करें। इसके फौरन बाद ही चारों ओर दमन-नीति का दौर-दौरा शुरू हो गया, जिसके पहले शिकार अली-भाई हुए।

कराची की खिलाफत-परिषद् में ८ जुलाई को मौलाना मुहम्मदअली ने पूर्वोक्त प्रस्ताव की नीति के अनुसार भाषण दिया व उसमें बताया कि हिंदुस्तान में कानून-भंग का आंदोलन शुरू करके अहमदाबाद-कांग्रेस के समय हम स्वतन्त्रता का झण्डा खड़ा करेंगे। शौकत अली ने भी इसी आशय का भाषण दिया था। इन्हींके लिए मुकदमा चलाया गया था। इस तरह सितम्बर से सरकार व कांग्रेस की खुल्लमखुल्ला लड़ाई शुरू हो गई। १७ नवम्बर को इंग्लैंड के युवराज बम्बई उतरे। वह जहां-जहां गये वहां हड़ताल विरोध-प्रदर्शक सभाएं व जलूस तथा विलायती कपड़ों की होलियां—ये प्रदर्शन होने लगे। जिस दिन वह बम्बई उतरे, उस दिन सारे हिन्दुस्तान में हड़ताल रक्खी गई थी। किन्तु बम्बई में उस समय दंगे व खून-खराबी हो गई। तब महात्माजी ने पांच दिन का उपवास करके एक-दो दिन में ही शान्ति स्थापित की थी।

युवराज-स्वागत के इस बहिष्कार में कांग्रेस व खिलाफत कमेटी मिलकर काम कर रही थी। इन्होंने जगह-जगह स्वयं-सेवक दल बनाये थे। २५ दिसम्बर को युवराज कलकत्ता पहुंचनेवाले थे। वाइसराय भी वहीं रहते थे। इससे उस दिन की हड़ताल को बड़ा महत्व मिला था। लॉर्ड रीडिंग की यह प्रबल उत्कण्ठा थी कि हर तरह ऐसा प्रयत्न किया जाय, जिससे हड़ताल न होने पावे व स्वागत-सत्कार ठाट-बाठ से हो जाय। इसके लिए उन्होंने कठोर दमन-नीति का सहारा लिया व स्वयंसेवक दलों को गैर-कानूनी करार दे दिया। इसके जवाब में कांग्रेस ने इतने हुक्मों को न मानकर स्वयंसेवक दलों में भर्ती होने की हलचल तेजी से शुरू की। इस सत्याग्रह में देशबन्धुदास, पण्डित मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय आदि बहुतेरे राष्ट्रीय नेता जेलों में चले गये व सत्याग्रही कैदियों की संख्या बीस-पच्चीस हजार तक पहुंच गई। तब भी इस लहर को रोक सकने का कोई लक्षण लॉर्ड रीडिंग को नहीं दिखाई दिया। तब उन्होंने कहा था—"मेरी समझ में नहीं आता कि हिन्दुस्तान में कैसे व क्यों हजारों लोग एक-एक करके जेल चले जा रहे हैं। इस आन्दोलन को कैसे रोका जाय? मैं बड़ी उलझन व असमंजस में पड़ गया हूं।" यह दृश्य देखकर बम्बई के तत्कालीन गवर्नर जॉर्ज लायड ने खानगी तौर पर कहा था कि यदि गांधीजी ने खुद-

ब-खुद इस आन्दोलन को १९२१ में बन्द न कर दिया होता तो वह सफलता के बिल्कुल नजदीक ही पहुंच गया था। इससे इस बात का अन्दाज हो सकता है कि उस समय आन्दोलन कितना प्रखर व दुर्धर्ष हो गया था। जब लॉर्ड रीडिंग ने यह देखा कि हमारे दमन-चक्र से आन्दोलन बन्द नहीं हुआ तो उन्होंने २५ दिसम्बर के युवराज के आगमन-दिवस के पहले महात्मा गांधी से हो सके तो समझौता करने की कोशिश शुरू की।

१९२१ के अन्त में अहमदाबाद में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उन्हीं दिनों यहां समझौते की बातचीत होने लगी। उसकी शर्तें इस प्रकार थीं। सत्याग्रह बन्द किया जाय, सत्याग्रही कैदी छोड़ दिये जायं और सर्वपक्षीय नेताओं की एक परिषद् बुलाकर स्वराज्य के प्रश्न पर विचार किया जाय। परन्तु लॉर्ड रीडिंग इस बात पर अड़ गये कि कराची-परिषद् के बाद खिला-फत-आन्दोलन में जिन नेताओं को जेल भेजा गया है, उन्हें न छोड़ा जाय। अन्त को इसके विषय में भी उन्होंने कुछ समझौता कर लिया था; लेकिन कहते हैं कि इस बारे में महात्माजी का तार द्वारा उत्तर उन्हें देर से मिला, जिससे यह प्रकरण वहीं समाप्त हो गया। मगर ऐसा मालूम होता है कि इस समझौते की गरज़ सिर्फ इतनी ही थी कि किसी तरह युवराज के स्वागत के बहिष्कार को टलवा दिया जाय। इसीलिए वह मौका निकल जाने पर लॉर्ड रीडिंग ने उन्हीं शर्तों पर समझौता करने से साफ इनकार कर दिया। तब महात्माजी ने १ फरवरी, १९२२ को वाइसराय को आखिरी चेतावनी का एक पत्र भेजकर लिखा कि दमन-नीति को बन्द करके अब भी नागरिक स्वतंत्रता का सदैव के लिए आश्वासन दे दीजिये; नहीं तो मैं बारडोली ताल्लुके से करबन्दी का आन्दोलन शुरू करूंगा। वाइसराय का तुरन्त इन कार आ गया। इसके पहले ही अहमदाबाद कांग्रेस ने महात्माजी को डिक्टेटर —सर्वाधिकारी—बना दिया था और सारे हिन्दुस्तान की आंखें बारडोली के अपूर्व शान्ति-संग्राम की ओर लग रही थीं। इतने ही में महात्माजी को तार द्वारा खबर मिली कि ५ फरवरी को चौरी-चौरा (युक्तप्रान्त) में कांग्रेसी जलूस के लोगों ने पुलिस के इक्कीस सिपाहियों व एक थानेदार का पीछा करके उन्हें थाना चौकी में शरण लेने पर मजबूर किया व आखिर में उस चौकी में आग लगा दी, जिससे वे जलकर खाक हो गये। इसके पहले भी

बम्बई, मालेगांव आदि में छोटे-बड़े दंगे हो चुके थे व मलाबार में तो मोपलों का खासा उत्पात ही हो गया था। इसपर महात्मा गांधी इन दंगों की निन्दा करके ही रह गये थे और उपवास के द्वारा उनका प्रायश्चित्त करके आन्दोलन को चलने दिया था। परन्तु चौरी-चौरा के हत्याकाण्ड की खबर सुनकर उनकी धारणा हुई कि अभी अहिंसा का मर्म कांग्रेसवाले समझे नहीं हैं। ऐसी दशा में यदि करबन्दी का आन्दोलन जारी रखा जायगा तो जगह-जगह हिंसा-काण्ड व सैनिक शासन शुरू हो जायगा और यह प्रयोग असफल ही रहेगा। यह सोचकर उन्होंने बारडोली की लड़ाई अनिश्चित समय के लिए स्थगित कर दी। १२ फरवरी को कार्यसमिति की बैठक बारडोली में हुई, जिसमें कानून-भंग व आज्ञा-भंग स्थगित किया गया व कांग्रेस के सदस्य बढ़ाना, चरखों का प्रचार करना, राष्ट्रीय शिक्षण-संस्थाएं व पंचायतें स्थापित करना, शराबखोरी मिटाना, अस्पृश्यता-निवारण व हिन्दू-मुसलमान-एकता के लिए प्रयत्न करने का विधायक कार्यक्रम मंजूर हुआ। इसके बाद २४-२६ फरवरी को दिल्ली में महासमिति की बैठक हुई व महात्माजी की इस नीति को उसका समर्थन प्राप्त हुआ, लेकिन इसमें स्थान-विशेष व प्रश्न-विशेष के लिए व्यक्तिगत सत्याग्रह करने की इजाजत प्रान्तिक समितियों को दे दी गई थी। इस तरह निःशस्त्र क्रान्ति का पहला सत्याग्रही धावा एक वर्ष पांच महीने के बाद अनिश्चित काल के लिए स्थगित हुआ। परन्तु इससे कांग्रेस की असहयोग-नीति पर असर नहीं पड़ा, बल्कि इसके द्वारा शान्तिमय असहयोग व सत्याग्रह अर्थात् निःशस्त्र क्रान्ति ही हमारी नीति का वास्तविक बल है, यह विश्वास अधिक दृढ़ हुआ।

असहयोग का आक्रामक कार्यक्रम बन्द करके सिर्फ विधायक व संगठनात्मक जन-सेवा का कार्यक्रम कांग्रेस के सामने रखने से देश में अनेक मतभेद होने लगे व महात्माजी पर कांग्रेस के अनेक नेता तरह-तरह से हमले करने लगे। ऐसा मालूम पड़ने लगा मानो सरकार के प्रति बगावत करने की भावना कुछ समय के लिए ठण्डी पड़ गई व आपस के रगड़ों-झगड़ों के रूप में प्रकट होने लगी। इतने ही में महात्मा गांधी की गिरफ्तारी की अफवाहें उड़ने लगीं। तब ६ मार्च के 'यंग इण्डिया' में महात्माजी ने एक लेख लिखा—'अगर मैं पकड़ा गया'। उसमें उन्होंने कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं को यही

उपदेश दिया कि वे खादी, राष्ट्रीय शिक्षा, हिन्दू-मुसलमान-एकता, अस्पृश्यता-निवारण आदि विधायक कार्य करते रहें और अहिंसा-व्रत का पूरा-पूरा पालन करें। १३ मार्च को महात्माजी राजद्रोह के अभियोग में गिरफ्तार हुए और अहमदाबाद के दौरा जज मि० ब्रूमफील्ड के इजलास में उनका मुकदमा चला। १८ मार्च को महात्माजी ने अपना लिखित बयान पेश किया। इसमें उन्होंने विस्तार के साथ यह बताया है कि दक्षिण अफ्रीका में उनका सार्वजनिक जीवन कैसे शुरू हुआ, सत्याग्रह करते हुए भी वहां कैसे साम्राज्य-निष्ठ रहे, फिर रोलट कानून, जलियांवाला बाग, खिलाफत आदि काण्डों से उनकी साम्राज्य-भक्ति को कैसे ठेस लगी, हिन्दुस्तान में कानून-स्थापित सरकार किस तरह जनता को चूसने की नीति पर चल रही है, यहां देशभक्ति ही किस प्रकार अपराध बना दिया गया है, लोग कैसे भयभीत व पौरुषहीन हो गये हैं और १२४ (अ) किस तरह दमनकारी धाराओं का तुर्रा बन गई है! फिर कहते हैं, "मुझे खुशी है कि नागरिक स्वातन्त्र्य का गला घोंटनेवाले कानूनों के सिरताज १२४ (अ) धारा के अनुसार मुझपर अभियोग लगाया गया। प्रेम कानून के द्वारा न तो पैदा किया जा सकता है, न कानून से उसका नियमन ही हो सकता है। किसी भी व्यक्ति या संस्था के प्रति असन्तोष प्रकट करने की छुट्टी तबतक होनी चाहिए जबतक हिंसा को प्रोत्साहन न दिया जाय या ऐसा इरादा न हो। परन्तु भाई शंकरलाल पर व मुझपर जो दफा लगाई गई हैं उसके अनुसार तो असन्तोष का प्रचार करना भी अपराध है। इस दफा की रू से जो मुकदमे चलाये गए हैं उनमें से कइयों पर मैंने गौर किया है और मैं जानता हूं कि इनके अनुसार भारत के कई अत्यन्त लोकप्रिय देश-भक्तों को सजाएं हुई हैं। इसलिए इस धारा के मुताबिक मुकदमा चलाया जाना मैं अपने लिए गौरव की ही बात समझता हूं। मैंने बहुत थोड़े में बता दिया है कि मेरे असन्तोष का कारण क्या है? किसी भी अधिकारी या खुद राजा के प्रति मेरे मन में किसी तरह की व्यक्तिगत घृणा या द्वेष नहीं है; लेकिन जिस शासन-पद्धति द्वारा अबतक लोगों का अभूतपूर्व अहित हुआ है उसके प्रति असन्तोष रखना मैं एक सद्गुण मानता हूं। इसलिए इस प्रणाली के प्रति प्रीति रखना मैं पाप समझता हूं।...मेरी नाकिस राय है कि 'सत्' से सह-

योग करना जितना कर्तव्य है उतना ही 'असत्' से असहयोग करना भी है। मगर अबतक न्यायकर्त्ताओं का जो प्रतिकार किया जाता था वह हिंसायुक्त होता था। लेकिन मैं अपने देशबन्धुओं को यह बता रहा हूं कि हिंसात्मक प्रतिकार से अनिष्ट ही अधिक होता है और पूर्ण अहिंसा के द्वारा ही 'असत्' से सफल असहयोग किया जा सकता है। इसलिए भले ही कानून की दृष्टि से मेरा यह कार्य जान-बूझकर किया हुआ अपराध दिखाई देता हो, लेकिन मुझे वह नागरिक का श्रेष्ठ कर्तव्य भासित होता है और इसके लिए मैं बड़ी खुशी से भारी-से-भारी सजा भोगने को तैयार हूं। आपको यदि ऐसा प्रतीत होता हो कि जिस कानून के अनुसार कार्रवाई करने की जिम्मेदारी आप-पर है वह अन्याय-युक्त है तो आपके सामने अपने पद से इस्तीफा दे देने व 'असत्' से असहयोग करने का, अथवा आपका यह खयाल हो कि जिस शासन-पद्धति को चलाने में आप सहायता कर रहे हैं वह या यह कानून न्यायोचित व जनहितकारी हैं और इसलिए मेरा यह कार्य जनहित के प्रतिकूल है तो मुझे अधिक-से-अधिक सजा देने का—दो में से कोई एक मार्ग—न्यायाधीश व असेसर साहबान, खुला है।" कहना नहीं होगा कि न्यायाधीश ने दूसरे ही मार्ग का अवलम्बन करके महात्माजी को छः साल की सजा ठोकी व लोकमान्य की परम्परा चालू रखने का प्रमाण-पत्र उन्हें दिया। अपने फैसले में उन्होंने गांधीजी की प्रशंसा की और कहा कि आपको सजा सुनाते हुए मुझे बड़ा दुःख हो रहा है। उन्होंने लोकमान्य के मुकदमे का भी उल्लेख किया। भारतवासियों के हृदय ने इस बात को फौरन ही ग्रहण कर लिया व लोकमान्य के दिवंगत हो जाने से खाली हुए अपने हृदय-सिंहासन पर जिस विभूति की उन्होंने स्थापना की थी, उसकी महत्ता के प्रति उनकी श्रद्धा अधिक दृढ़ हुई।

सितम्बर, १९२० में जब महात्माजी ने कांग्रेस के सामने असहयोग-संग्राम की योजना रक्खी तब उन्होंने कहा था कि यदि कार्यक्रम पूरा हो जाय तो एक साल में हमें स्वराज्य मिल जायगा। उसके बाद कोई डेढ़ साल तक उस कार्यक्रम को पूरा करने में अपना व जितना और उत्पन्न हो सका वह सारा बौद्धिक व आत्मिक बल खर्च करके उन्होंने कोई कसर नहीं उठा रक्खी। परन्तु वह बल स्वराज्य-प्राप्ति के लिए काफी नहीं साबित हुआ।

यह सच हो, तो भी, कांग्रेस का इस मार्ग में दृढ़ विश्वास होना, व पहले जो वह महज प्रस्ताव पास करनेवाली दुर्बल संस्था थी उसकी जगह तब्दील होकर उसको साल भर तक अखण्ड कार्य करनेवाली व प्रस्थापित राजसत्ता से संगठित लड़ाई लड़नेवाली क्रान्तिकारी संस्था बनाना यह चमत्कार कोई मामूली बात नहीं है। देशबन्धुदास, पं० मोतीलाल नेहरू, डा० राजेन्द्र-प्रसाद जैसे प्रख्यात वकील-बैरिस्टरों का अपनी सारी बुद्धि व शक्ति देश-सेवा में झोंककर फकीर बन जाना व सैकड़ों मामूली वकीलों व उत्साही युवक विद्यार्थियों का आजन्म देश-सेवा का व्रत ले लेना कोई ऐसी-वैसी बात नहीं थी। हजारों लोगों द्वारा खुले आम कानून-भंग करने से देश में जो प्रतिकार की एक जबरदस्त लहर उठी, दमन-चक्र के द्वारा उसे रोक सकने में राजप्रतिनिधि को असमर्थता का एहसास होना, कांग्रेस के साथ सुलह करने की आवश्यकता प्रतीत होना, अन्त में उस महान् व प्रबल आन्दो-लन का कांग्रेस व उसके सर्वाधिकारी के हुक्म से रुक जाना और उसी हुक्म से देश के हजारों नवयुवकों व सैकड़ों नेताओं का जन-संगठन व जनसेवा के रचनात्मक कार्यों में लग जाना उस दीक्षा को अमिट बनाने के लिए काफी थीं, जो महात्माजी ने राष्ट्र को अबतक दी थी। १६०६ में बरीसाल में 'वन्देमातरम्' का उच्चार न करने-सम्बन्धी हुक्म के निःशस्त्र प्रतिकार करने का जो आन्दोलन भारतीय राजनीति में पहले-पहल आया व जो बहिष्कार-योग अपनी बुद्धि से तैयार करके चलाने का प्रयोग किया गया, उसे बहुत बड़े पैमाने पर व अधिक वैज्ञानिक आधार पर महात्मा गांधी ने प्रत्यक्ष कर दिखाया था। इस प्रयोग में एक नवीनता थी और वही इसकी सफलता का वास्तविक कारण थी। महात्माजी ने उस बहिष्कार-योग को अहिंसा-निष्ठा का आध्यात्मिक अधिष्ठान दे दिया था। लोकमान्य तिलक ने पहले ही लिखा था कि निःशस्त्र क्रान्ति या सत्याग्रह की बुनियाद उप-निषद् के आत्मबल पर डाली गई है। निःशस्त्र क्रान्ति का शास्त्र यदि तैयार करना है तो उसका अधिष्ठान अहिंसा ही हो सकती थी। अहिंसा-शास्त्र की भूमिका न स्वीकार करने के कारण ही आयरलैंड के निःशस्त्र क्रान्तिवाद को आगे चलकर सशस्त्र क्रान्ति का रूप प्राप्त हो गया। हिन्दुस्तान में पहले-पहल तिलक या अरविन्दबाबू ने जो प्रयोग किया उसे सरकार ने

दबा दिया व फिर उसका पुनरुज्जीवन उनसे न हो सका। लेकिन जिन दिनों भारत में बंग-भंग का आन्दोलन चल रहा था उन्हीं दिनों दक्षिण-अफ्रीका में अहिंसा के अधिष्ठान पर निःशस्त्र क्रान्ति का एक प्रयोग महात्माजी ने सफल कर लिया था। हिन्दुस्तान आने पर एक-दो छोटे मामलों में उन्होंने वही प्रयोग सफल करके दिखा भी दिया था। फिर १६२० के सितम्बर से १६२२ की फरवरी तक बहुत बड़े पैमाने पर यह प्रयोग किया, जिसमें पूरी नहीं तो इतनी सफलता जरूर मिली, जिससे लोगों में यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि उसकी फिर आजमायश करके देखा जाय। इसे क्या अन्धश्रद्धा कहेंगे ? आंखवाले तो ऐसा नहीं कह सकते।

जो हो; लेकिन महज इसीलिए कि इस प्रयोग को स्थगित करना पड़ा, यदि कई लोगों का विश्वास उसपर से उठ जाय तो ताज्जुब नहीं ! ऐसे समय में जिन नवयुवकों के हृदय में क्रान्ति की ज्वाला तो धधक रही थी; परन्तु अहिंसावाद मान्य नहीं था, वे रूस के कम्यूनिस्ट क्रान्ति-शास्त्र की ओर झुकने लगे; क्योंकि ऐसे समय युवक-हृदय को निःशस्त्र या सशस्त्र कोई भी एक क्रान्तिवाद ही पसन्द आ सकता था। नरम दलवालों का वैध मार्ग व देशबन्धुदास प्रभृति की धारासभा में अडंगा-नीति में उनका विश्वास बिल्कुल नहीं रह गया था। ऐसे ही कुछ युवकों ने भाई डांगे के नेतृत्व में, अक्तूबर १६२२ में, 'सोशलिस्ट' नामक एक अंग्रेजी साप्ताहिक पत्र शुरू किया। इन्हीं दिनों भाई मानवेन्द्रराय आदि यूरोपस्थित भारतीय कम्यूनिस्टों ने बर्लिन में 'वैनगार्ड' नामक एक पत्र निकाला। १६१६ में रूस में कम्यूनिस्टों की विश्व-क्रान्तिकारक संस्था थर्ड इन्टर नेशनल स्थापित हुई। उसने १६२० में यूरोप की साम्राज्यशाही से मुक्ति पाने के उत्सुक एशिया के देशों हिन्दुस्तान, चीन, ईरान, तुर्किस्तान, अफगानिस्तान इत्यादि को उनके क्रान्तिकार्य में सहायता पहुंचाने की नीति स्वीकार की, जिसके धागे-डोरे हिन्दुस्तान तक पहुंचने लगे। १६२०-२२ में उत्तरी भारत के कम्यूनिस्ट विचार रखनेवाले कुछ लोगों ने किसान-आन्दोलन में भाग लेना शुरू किया। १६२३ में पेशावर में कम्यूनिस्टों पर मुकदमा चला। १६२४ में कानपुर में एक षड्यन्त्र का मुकदमा चला, जिसमें भाई राय, मुजफ्फर अहमद, शौकत उस्मानी, गुप्ता, शर्मा, शृंगारवेलु, गुलाम हुसेन आदि आठ

अभियुक्त बनाये गए। इनमें से राय जर्मनी में थे, शर्मा फरार हो गये, शृंगारवेलु बीमार हो गये और हुसेन ने माफी मांग ली। शेष चार मुलजिमों को मई १९२४ में चार-चार साल की सजा हुई। इसके बाद पहले के गुप्त षड्यन्त्रवाले सशस्त्र क्रान्तिकारियों का ध्यान मार्क्स के वैज्ञानिक क्रान्तिवाद की तरफ अधिकाधिक जाने लगा। १९२५ में कानपुर में खुल्लम-खुल्ला कम्यूनिस्ट-कान्फरेंस हुई और भारत में कम्यूनिज्म के वैज्ञानिक क्रान्तिबाद के विधिपूर्वक स्थापित होने की घोषणा की गई। इसी समय कम्यूनिस्ट पार्टी ने कांग्रेस के नेताओं से वैसा ही एक ठहराव करने का प्रयत्न किया जैसा कि चीन के राष्ट्रीय नेता डॉ० सनयातसेन से किया था। लेकिन भाई डांगे का कहना है कि कांग्रेस के नेताओं ने उसे मंजूर नहीं किया। १९२२ से कांग्रेस में दो दल हो गये—धारासभा-प्रवेशवादी और धारासभा-बहिष्कारवादी। बहिष्कार-वादी पक्ष वह था जो असहयोग के कार्यक्रम पर डटा हुआ था और जिसे प्रवेशवादी अपरिवर्तनवादी कहने लगे। अपने लिए उन्होंने परिवर्तनवादी नाम पसन्द किया। असल में तो इस वाद का बीज १९२० की कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में बोया गया था। बीच में डेढ़ साल तक सत्याग्रह-रूपी उग्र कार्यक्रम के कारण उसमें अंकुर नहीं फूटा था। देशबन्धुदास ने महात्माजी के धारासभा-बहिष्कार का जोरों से विरोध किया था तथापि उनका यह मत नहीं था कि माण्टेगू-सुधारों को कार्यान्वित करने में सहयोग दिया जाय। वह धारासभा में अडंगानीति के पक्षपाती थे और अन्त तक उसपर डटे रहे। १९२३ में जो स्वराज्य-पार्टी कायम की गई उसकी नीति-घोषणा में कहा गया था कि जबतक माण्टेगू-सुधार रद्द करके पूर्ण स्वराज्य देने का वचन सरकार नहीं देगी और प्रांतिक स्वराज्य की स्थापना नहीं करेगी तबतक अधिकार स्वीकार करके सरकार से सहयोग न किया जाय और सतत विरोध किया जाय। पं० मोतीलाल नेहरू और देशबन्धुदास दोनों मानते थे कि यह नीति अहिंसात्मक असहयोग के सिद्धान्त के विपरीत नहीं थी और इसलिए वे अपनेको सहयोगवादी ही कहते थे। १९२३ के दिल्लीवाले कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में स्वराज्य-पार्टी को धारासभा में जाने की इजाजत मिल गई और १९२३ के अन्त में

जो चुनाव हुए उसमें सब जगह इसकी जीत हुई और धारा-सभाओं में बहुमत रहा।

जनवरी १९२४ में महात्मा गांधी यरवदा-जेल में अपेंडिसाइटिस से एकाएक बीमार हुए। कर्नल मेडॉक उन्हें तुरन्त पूना के ससून अस्पताल में ले गये और ऑपरेशन किया। इसके बाद सरकार ने उन्हें बिना शर्त छोड़ दिया। कुछ दिन वह जुहू (बम्बई) में रहे। वहां पं० मोतीलाल नेहरू व देशबन्धुदास से धारासभा-प्रवेश के सम्बन्ध में उनकी बहुतेरी चर्चा हुई। मतभेद तो नहीं मिटा; लेकिन महात्माजी ने यह आश्वासन दिया कि जब कांग्रेस ने धारा-सभा में जाने की मंजूरी दे दी है तो अब किसीको उसमें आपत्ति नहीं करनी चाहिए, बल्कि भरसक सहायता करनी चाहिए। इधर दास-नेहरू ने यह मंजूर किया कि हम सब महात्माजी के विधायक कार्यक्रम में सहायक होंगे। उन्होंने तो यहांतक लिखित अभिवचन दिया कि जब हमें यह प्रतीत होगा कि धारा-सभाओं से कुछ काम नहीं बनता तो हम उन्हें छोड़कर चले आवेंगे और महात्माजी के नेतृत्व में कांग्रेस के नियमानुसार सविनय-भंग अथवा सत्याग्रह-आन्दोलन में अग्रसर हो जायंगे। १९२४ में बेलगांव के अधिवेशन में कांग्रेस ने इस समझौते को मंजूर कर लिया। इससे महात्माजी की गैरहाजिरी में कांग्रेस में जो दल बन गये थे उनका फिर गठबन्धन हो गया। बेलगांव में महात्माजी ही कांग्रेस के सभापति थे। उसके बाद थोड़े ही दिनों में उन्होंने बंगाल में जाकर देशबन्धु की सहायता से सत्याग्रह के दूसरे मोर्चे की तैयारी की थी। मगर दुर्भाग्य से १९२५ में देशबन्धु का देहावसान हो गया और लोगों को लगा कि बंगाल में दूसरे सत्याग्रह की जो तैयारी की जा रही थी वह विफल हुई।

देशबन्धु की मृत्यु के बाद पं० मोतीलाल नेहरू स्वराज्य-पार्टी के नेता हुए। स्वराज्य-पार्टी की नीति माण्टेगू-सुधारों के सम्बन्ध में यह थी कि जबतक सरकार कांग्रेस से इसके विषय में समझौता नहीं कर लेगी तबतक मंत्रिमंडल न बनाया जाय। १९२६ की गौहाटी-कांग्रेस के अध्यक्ष श्रीनिवास आयंगर ने अपने भाषण में कहा था कि मन्त्रिपद अस्वीकार करने की नीति सार्वकालिक या बिला-शर्त नहीं है। देशबन्धुदास ने फरीदपुर में जो शर्तें रखी थीं वे जबतक मंजूर नहीं हो जायं तबतक इस नीति में परिवर्तन करना

न शक्य है और न इष्ट ही। धारा-सभा में अड़ंगा-नीति, बाहर रचनात्मक संगठन और अन्त में सत्याग्रह ऐसा तिहेरा बल इस मांग के पीछे था। प्रत्येक मांग के पीछे कुछ शक्ति होनी चाहिए। उसकी परिणति प्रत्यक्ष प्रतिकार तक होनी चाहिए। इसके लिए कांग्रेस का अनुशासन मानना और सत्याग्रह के समय महात्मा गांधी का नेतृत्व मंजूर करना आवश्यक था। इन मुद्दों को स्वराज्य-पार्टी ने कभी नहीं छोड़ा। यही कारण है कि महात्मा गांधी और स्वराज्य-पार्टी का वह सहयोग दिन-दिन दृढ़ होता गया और अंत को, १९२९ में, जब यह साबित हो गया कि ब्रिटिश सरकार धारा-सभा के विरोध के फलस्वरूप स्वराज्य की मांग पूरी करने को तैयार नहीं होती तब लाहौर-कांग्रेस में पं० मोतीलाल नेहरू ने देशबन्धुसहित महात्माजी के आश्वासन को पूरा किया और धारा-सभा के बहिष्कार का तथा महात्मा गांधीजी के नेतृत्व में सत्याग्रह करने का प्रस्ताव कांग्रेस ने पेश किया।

महात्मा गांधी और स्वराज्य-पार्टी में जो यह सद्भाव बढ़ रहा था वह महाराष्ट्र के केलकर-पक्ष को १९२५ से ही अप्रिय होने लगा। १९२६-२७ की धारा-सभाओं के चुनाव के पहले ही उन्होंने स्वराज्य-पार्टी से अलग होकर मांटेगू-सुधारों का विरोध करने की नीति छोड़ दी थी और उन्हें कार्यान्वित करके लोक-हित साधन की नई नीति अख्तियार कर ली थी। यह नीति कांग्रेस और स्वराज्य-पार्टी की नीति के खिलाफ चली, मगर १९२० में लोकमान्य तिलक द्वारा निर्धारित कांग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टी की नीति से भी यह गई-बीती थी। तिलक ने 'वैधानिक विरोध' पर ज़ोर दिया था जो कि केलकर-पक्ष ने अपनी नीति से हटा दिया। इसी तरह 'लोक-मतानुसार विरोध या सहयोग की नीति ठहराने' की बात भी निकाल डाली। प्रतिसहयोग की व्याख्या ही ऐसी कर डाली कि सुधार कैसे ही हों, उन्हें कार्यान्वित किया जाय और इसी तरह लोगों का बल बढ़ाया जाय।

लोकमान्य के समय में ही उनके दल में दो भाग हो गये थे। एक था क्रान्तिकारियों की तरफ और दूसरा था वैधमार्गियों की तरफ झुकता हुआ। पहले उपपक्ष में थे—खाडिलकर, परांजपे व देशपांडे (गंगाधर राव) दूसरे में केलकर, करंदीकर का समावेश होता था। लोकमान्य की राय में केलकर राजनीति में 'सावधानता' की व खाडिलकर 'उत्साह' की प्रतिमूर्ति थे।

उनके स्वर्गवास के बाद उनकी राजनीति का 'उत्साह' महात्मा गांधी के साथ मिल गया व 'सावधानता' सिर्फ केलकर-पक्ष के पास रह गई। लोकमान्य के समय में जिनके हृदय क्रान्तिवाद की ओर आकर्षित हो गये थे वे गांधीजी के निःशस्त्र क्रान्तिवाद में शामिल हो गये और जो 'सावधानता' का मन्त्र जपते रहे थे उनसे अलग रहकर कहने लगे—गांधी का अहिंसावाद हमें नहीं जंचता। इनमें से कुछ लोग जनता को ऐसा भी भासित करने की चेष्टा करते हैं मानो वे हिंसात्मक क्रान्तिकारी हैं। हम ऊपर बता ही चुके हैं कि पहले का सशस्त्र क्रान्तिकारी दल धीरे-धीरे मार्क्स के क्रान्तिवाद में शरीक होने लगा। इस वैज्ञानिक क्रान्तिवाद से केलकर-पक्ष का कितना विरोध है, यह बताने की आवश्यकता नहीं।

१६२२ से लेकर १६२८ तक स्वराज्य-पार्टी व असहयोग-दल अपने-अपने ढंग से स्वराज्य की लड़ाई लड़ते रहे, मगर प्रत्यक्ष आक्रमण की नौबत अबतक न लाई जा सकी। १६२७ में लार्ड बर्कनहेड ने साइमन-कमीशन की नियुक्ति करके यह चर्चा शुरू की कि मांटेगू-सुधारों में कुछ परिवर्तन किया जाय या नहीं। इसमें एक भी भारतीय नहीं लिया गया था। भारतीयों के आत्मनिर्णय के अधिकार पर यह जबरदस्त कुठाराघात था। यह देखकर नरम दल-सहित सब दलों ने उसके बहिष्कार की आवाज उठाई व मद्रास-कांग्रेस में पं० जवाहरलाल नेहरू का स्वतन्त्रता को ध्येय मानने का प्रस्ताव पास हो गया। इसके साथ दो और महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुए : (१) साइमन-कमीशन के बहिष्कार का आन्दोलन करना व (२) ऐसी स्वराज्य-योजना बनाना जो सब दलों के लोगों को पसन्द हो। एक और भी प्रस्ताव पास हुआ—आगामी महायुद्ध में ब्रिटिश साम्राज्य के साथ सहयोग न किया जाय। इससे पहले जवाहरलालजी यूरोप-यात्रा कर चुके थे और उनके विचार समाजवादी हो गये थे। इसी समय से उन्होंने समाजवादी नीति के अनुसार कांग्रेस की राजनीति को सार्वत्रिक क्रांतिकारी बनाने का सिलसिला शुरू कर दिया था। १६२८–२६ में जगह-जगह घूमकर उन्होंने 'युवक-संघ' व 'स्वाधीनता-संघ' स्थापित किये व नवयुवकों में समाजवादी सर्वांगीण क्रान्ति की भावना पैदा की। फिर १६३० में महात्माजी के नेतृत्व में जो पूर्ण स्वराज्य का सत्याग्रह शुरू हुआ और उसमें जो

युवक सम्मिलित हुए उन्हींमें से आगे चलकर कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का जन्म हुआ। इसके अलावा, १९२४ में कानपुर षड्यन्त्र-केस में सजा पाये हुए लोग जब छूट आये तो कम्यूनिस्ट पार्टी को फिर ज़ोर मिलने लगा। १९२७ से २९ तक मजदूरों की हड़तालों व कम्यूनिस्ट पार्टी के संगठन का बड़ा जोर रहा। परन्तु १९३० के प्रचण्ड संग्राम से यह पार्टी प्रायः अलग रही। इसके पहले ही इस पक्ष के नेताओं को १९२९ में मेरठ षड्यन्त्र केस में सरकार ने जेल में ठोक दिया था।

पं० जवाहरलालजी जहां एक ओर भारतीय नवयुवकों में समाजवादी क्रान्ति के विचार फैला रहे थे वहां दूसरी ओर पं० मोतीलाल नेहरू एक सर्वपक्षीय परिषद् बुलाकर उसमें औपनिवेशिक स्वराज्य के विधान का मसविदा तैयार कर रहे थे। तीसरी ओर सरदार वल्लभभाई पटेल बारडोली में किसानों का सगठन करके उन्हें सत्याग्रह के लिए तैयार कर रहे थे—मानो वह दिखाना चाहते थे कि महात्माजी के रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा सत्याग्रह की प्रचण्ड शक्ति किसानों में कैसे आ सकती है। पं० मोतीलालजी ने महात्माजी को तार दिया कि स्वराज्य-योजना बनाने के लिए आप इलाहाबाद आ जाइये। महात्माजी ने उन्हें जवाब दिया—आप योजना तैयार कीजिये, उसे अमल में लाने के लिए जिस शान्ति की जरूरत पड़ेगी उसे पैदा करने का काम मैं कर रहा हूं। इससे यह जाना जाता है कि महात्माजी राजनीति की ओर किस दृष्टि से देखते थे। १९२८ में सरदार वल्लभभाई ने बारडोली में करबन्दी-सत्याग्रह का जो आन्दोलन उठाया था वह सोलहों आने सफल हुआ। इससे देश के लोगों का ध्यान फिर से सत्याग्रह व प्रत्यक्ष प्रतिकार की ओर गया। १९२८ के अन्त में कलकत्ता में पं० मोतीलालजी की अध्यक्षता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उसमें 'नेहरू-रिपोर्ट', जो सर्वपक्षीय परिषद् के द्वारा बनाई गई थी, मंजूर हुई और महात्मा गांधी ने यह प्रस्ताव पेश किया कि यदि नेहरू-रिपोर्टवाली औपनिवेशिक स्वराज्य की योजना सरकार ने एक साल में मंजूर नहीं की तो फिर करबन्दी व कानून-भंग-सहित असहयोग-युद्ध शुरू कर दिया जायगा। साथ ही कांग्रेस ने यह भी घोषित किया कि असहयोग औपनिवेशिक स्वराज्य के लिए नहीं, बल्कि पूर्ण स्वराज्य या स्वतंत्रता के लिए

किया जायगा।

पं० मोतीलालजी ने केन्द्रीय धारा-सभा में इसी आशय का प्रस्ताव पेश किया व सरकार को चेताया कि अगले साल हम सत्याग्रह की जबरदस्त लड़ाई छेड़ेंगे। लॉर्ड अर्विन विलायत गये व इसके उत्तर के बारे में ब्रिटिश मंत्रिमंडल से सलाह-मशविरा कर आये। इधर देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन की लहर बढ़ रही थी व कहीं-कहीं हिंसा-काण्ड भी होने लगे थे। साइमन कमीशन के बहिष्कार के जलूस में लाला लाजपतराय पर भी लाठी-प्रहार हुए थे और उससे उनकी ऐसी तबीयत खराब हुई कि उनका देहान्त हो गया। सन् १९२८ में उनकी यह वीरोचित मृत्यु उनकी आजन्म देश-सेवा के अनुरूप ही हुई। बाद को लाहौर में साण्डर्स की जो हत्या हुई उसका कारण लालाजी की मृत्यु का बदला लेना ही था। इस तरह इन दिनों हिन्दुस्तान में चारों ओर खलबली मच रही थी। **क्रान्तिकारी भावना** जिन राष्ट्रों की राजनीति का **नित्य अधिष्ठान होता है** और जिसकी लहरें उठती-गिरती रहती हैं, इससे जिनमें क्रान्तिकारी भावना नहीं रहती है उन्हें बहिष्कार, असहयोग, सत्याग्रह, निःशस्त्र या सशस्त्र क्रान्ति ये क्षणिक लहरें मालूम होती हैं व उन्हें यह **अपनी राजनीति का नैमित्तिक** स्वरूप प्रतीत होता है; परन्तु जिन लोगों का अन्तःकरण पराधीनता में जकड़ी हुई जनता की आकांक्षाओं से समरस हो गया है, उन्हें ये रह-रहकर उठनेवाली लहरें मानो पराधीन जनता के हृदय में उठनेवाली स्वतन्त्रता की पवित्र आत्म-प्रेरणा ही जान पड़ती हैं। मानव-मन में परतन्त्रता से स्वतन्त्रता की ओर जाने की जो आत्मप्रेरणा होती है, उसीमें क्रान्तिकारी भावनाओं की लहरें उठती हैं। अतएव वे सच्चे लोकनायक अथवा राजनीतिज्ञ, जो चाहते हैं कि लोगों पर उनकी सत्ता चले, उनकी तरफ से आंखें नहीं मूंद सकते; परंतु जिनके हृदय में स्वतन्त्रता की प्रेरणा कम होती है उनके लिए यह एक रहस्य ही बना रहता है कि लोगों की आत्मप्रेरणा को जाग्रत करनेवाले नेता आम लोगों में क्रान्तिकारी आंदोलन की जबरदस्त लहर कैसे पैदा कर देते हैं। उनकी बुद्धि इसमें असमर्थ सिद्ध होती है, इसलिए वे यह मान बठते हैं कि यह एक जोश की, पागलपन की लहर उठी है, थोड़े दिनों में डण्डी हो

जायगी। तब लोग हमारी समझदारी की व बुद्धि की बातों को सुनने लगेंगे।

हिंदुस्तान लौट आने पर १ नवम्बर, १९२९ को लॉर्ड अर्विन ने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की, जिसमें कहा गया है कि १९१९ वाले सुधार-कानून का अंतिम पर्यवसान औपनिवेशिक स्वराज्य ही है, साइमन-कमीशन की रिपोर्ट आने पर व दूसरी सुधार-योजनाओं पर विचार करने के लिए, ब्रिटिश मंत्रिमण्डल का इरादा है कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों, ब्रिटिश भारत के भारतीय नेताओं व देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की मिलकर एक 'गोल-मेज परिषद्' की जाय। नरम दलवालों को इससे सन्तोष हो गया और वे फिर सहयोगवादी हो गये, किन्तु महात्मा गांधी व कांग्रेस उस समय सहयोग के लिए तैयार न हुए। गांधीजी, सर सप्रू, पंडित मोतीलाल नेहरू, जिन्नासाहब इत्यादि नेताओं की इस समय लॉर्ड अर्विन से मुलाकातें हुईं। महात्मा गांधी वहा जाकर यह आजमा लेना चाहते थे कि ब्रिटिश राजनेता औपनिवेशिक स्वराज्य एक ही किस्त में दे देने को तैयार हैं या उसे अन्तिम ध्येय कहकर मांटेगू-सुधार जैसी कोई और बेकार योजना हमारे गले बांध देना चाहते हैं; लेकिन जब यह मालूम हुआ कि ब्रिटिश राजनेता ऐसा कोई आश्वासन देने को तैयार नहीं है तब गोलमेज-परिषद् से असहयोग करने की व कलकत्ता-कांग्रेस के निश्चयानुसार स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास करके सत्याग्रह-युद्ध ठानने की नीति मन में धारण करके महात्माजी लाहौर-कांग्रेस में उपस्थित हुए थे।

दिसम्बर १९२९ का लाहौर-कांग्रेस का अधिवेशन भारतीय राजनीति के इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण है। उसके सभापति पण्डित जवाहरलाल नेहरू थे। उन्होंने अपने भाषण में यह बताया कि 'समाजसत्तात्मक जनतन्त्र' (Socialist Republic) मेरा अन्तिम ध्येय है। कांग्रेस के प्रथम समाजवादी अध्यक्ष की दृष्टि से उनका यह भाषण आधुनिक भारत के इतिहास में कायम रहेगा। उन्होंने साफ तौर पर इसमें कहा है कि "यदि हिन्दुस्तान को अपने देश से दरिद्रता व विषमता मिटानी है तो समाजवाद के ही रास्ते उसे जाना पड़ेगा। अलबत्ता उसका ढांचा हमारे देश की मूल प्रकृति के अनुरूप बनाना पड़ेगा व उसके साधन भी अपनी परिस्थिति व परम्परा के

अनुसार स्वतन्त्र रूप से खोजने होंगे।" साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि कांग्रेस की वर्तमान मनोवृत्ति, भारतीय-स्वतन्त्रता-संग्राम की आज की अवस्था व इस युद्ध के वर्तुमान नेता इन सबका विचार करते हुए कांग्रेस का समाजवादी बनना और समाजवाद के पूरे कार्यक्रम को अपनाना सम्भव नहीं है। उन्होंने यह विचार भी बेधड़क पेश किया कि मेरे आदर्श भारत में मध्ययुगीन राजे-रजवाड़ों के लिए, पूंजी-युग के आधुनिक औद्योगिक राजाओं के लिए कोई स्थान नहीं है।

हिन्दुस्तान में प्रजातन्त्र के ध्येय का प्रचार करके राष्ट्रीय मनोवृत्ति को बढ़ाने का काम लोकमान्य तिलक व महात्मा गांधी ने भारत की मूल प्रकृति का, खास राजनैतिक परिस्थिति को ध्यान में रखकर तद्नुकूल मार्ग से किया है। इन प्रयत्नों का फल ही यहां का वर्तमान राष्ट्रवाद है।

इस राष्ट्रवाद को यूरोपीय राष्ट्रवाद की तरह पूंजीवादी व सेनावादी राष्ट्रवाद से उत्पन्न साम्राज्यवाद की अवस्था में से न गुजरना होगा, बल्कि उसका स्वाभाविक विकास समाजवाद में ही होना चाहिए। सो भी कांग्रेस के द्वारा ही। इस बात को समझने व उसके अनुसार अपनी नीति निश्चित करनेवाले पहले समाजवादी नेता जवाहरलाल ही हैं। यों तो हिन्दुस्तान में १९२२ से ही कम्यूनिज्म के रूप में समाजवाद आ गया था; परन्तु वह राष्ट्रीय संग्राम के वास्तविक महत्व व खासियत को ठीक-ठीक नहीं समझ पाया था और उसमें रूसी क्रान्ति के अनुकरण की प्रवृत्ति थी। किन्तु पं० जवाहरलाल का समाजवाद पहले से प्रचलित राष्ट्रीय संग्राम-रूपी परिणत वृक्ष का परिपक्व फल है। अतएव हमारा यह खयाल है कि इसी नीति का अवलम्बन करने से हिन्दुस्तान में समाजवाद को प्रस्थापित करने का मार्ग जनता के हाथ लग सकेगा। समाजवादी युवक कार्यकर्त्ता भी इस बात को धीरे-धीरे समझने लग गये हैं। जो लोग उन्हें कुछ समय तक क्रान्तिविरोधी समझते थे वे भी यह मानने लगे हैं कि वे क्रान्तिवादी हैं। उनका क्रान्तिवाद लोकमान्य तिलक के पहले के क्रान्तिवाद की तरह ही वर्धिष्णु है, राष्ट्र-शक्ति के साथ-साथ बढ़ता जानेवाला है।

लाहौर-अधिवेशन में कांग्रेस का ध्येय स्वतंत्रता—पूर्ण स्वराज्य—घोषित किया गया व धारा-सभाओं का बहिष्कार करके फिर से सत्याग्रह

व असहयोग-संग्राम छेड़ने में सारा देश सम्मिलित हो, इस आशय का प्रस्ताव पास हुआ। इस प्रस्ताव के इक्के-दुक्के विरोधियों में श्री केलकर व पं० मालवीयजी प्रमुख थे। किन्तु लाहौर-कांग्रेस के बाद जो प्रचण्ड सत्याग्रह शुरू हुआ व बीच में थोड़ा-सा विश्राम लेकर फिर जो १९३४ तक चला, उसमें वृद्ध मालवीयजी तो अन्त तक टिके रहे, मगर केलकरसाहब ने शुरू में तो उसकी जबरदस्त लहर को देखकर सहयोग करने का थोड़ा-सा दिखावा किया; लेकिन बाद में शीघ्र ही उससे अपनेको बचा लिया व लोगों से कहने लगे कि अब यह आन्दोलन बन्द होना चाहिए। वह कांग्रेस पर तथा उसके नेताओं पर टीका-टिप्पणी करने का अपना नित्य धर्म पालने लगे। परन्तु उनके इस नित्य या नैमित्तिक धर्म-कर्म का खुद महाराष्ट्र पर भी कोई प्रभाव नहीं हुआ। इस महान् युद्ध में पुराना ब्राह्मण-अब्राह्मणवाद खत्म हो गया व सारा महाराष्ट्र एक मुख से कांग्रेस के झण्डे के नीचे आकर ब्रिटिश साम्राज्य का मुकाबला करने लगा। लोकमान्य के निधन के बाद महाराष्ट्र में जो अंधकार-युग शुरू हुआ था, वह नष्ट हो गया और महाराष्ट्र की बुद्धि पर जो राख चढ़ गई थी वह उड़ गई व उससे उसके अन्तःकरण में जो ज्योति देदीप्यमान हुई, उसके प्रकाश में उसे अपना राष्ट्रीय कर्तव्य साफ तौर पर दिखाई देने लगा। सारे देश में, तमाम प्रान्तों में, कम-बेश यही हालत हुई। महात्माजी ने 'डांडी-कूच' से आरम्भ करके नमक-कानून-भंग का जो सत्याग्रह-युद्ध पुकारा, लार्ड अर्विन साम्राज्य की सारी शक्ति व दमन-नीति को आजमाकर भी, उससे कांग्रेस को पीछे न हटा सके। बारिश के दिन नजदीक आ जाने से नमक-सत्याग्रह के बन्द होने की नौबत आनेवाली थी कि जङ्गल-सत्याग्रह शुरू होने लगा। सत्याग्रह की इस आग को बुझाने के लिए गांधीजी आदि नेताओं को दमन-कानून के मातहत राजबन्दी बनाया गया; किन्तु इससे आग उलटी और भड़क उठी। दमन का प्रत्येक नया हुक्म सत्याग्रह के लिए एक नवीन अवसर देता था और इसी उमंग में देश के हजारों युवक शान्ति के साथ जेलों में जाने लगे। किसान करबन्दी की हलचल मचाने लगे, व्यापारी ब्रिटिश माल के बहिष्कार का संगठन करने लगे, स्वयं-सेविकाएं विदेशी माल की दुकानों पर धरना देकर लाठी-प्रहार सहन करने लगीं, राष्ट्रीय झंडे के जलूस व सलामी

के लिए हजारों लाल देहात से एकत्र होने लगे मानो अपने आचरण से यह दिखाने लगे हों कि हम ब्रिटिश सत्ता का नहीं, बल्कि कांग्रेस का हुक्म मानेंगे। हिन्दुस्तान का सारा नक्शा चार-पांच मास में बदल गया और इस युद्ध से निर्मित आत्म-तेज का प्रकाश सारी दुनिया में फैल गया। संसार के सब विचारशील लोग हिन्दुस्तान की इस अपूर्व राष्ट्रीय क्रान्ति की ओर आश्चर्य से देखने लगे। सरकारी सिपाहियों के लाठी-प्रहार या गोलीवार को भी लोग नगण्य मानने लगे और जैसा कि महात्माजी ने गोलमेज-परिषद् में कहा था, लड़के साम्राज्यशाही की गोलियों के सामने सीना तानकर खड़े रहने लगे। ऐसा दृश्य दिखाई देने लगा मानो कांग्रेस ब्रिटिश-राज्य की प्रतिस्पर्द्धी राज्यसंस्था हो और भारतीय जनता पर ब्रिटिश हुकूमत नहीं, बल्कि कांग्रेस की अबाध सत्ता चालू हो। पेशावर में गढ़वाली पलटन को हुक्म हुआ कि निहत्थी भीड़ पर गोली चलाओ; लेकिन उसने साफ इनकार कर दिया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि नि:शस्त्र क्रान्ति की यह जबरदस्त लहर ब्रिटिश हुकूमत को हड़प किये डालती है। इन्हीं दिनों अर्थात् प्रथम स्वाधीनता दिवस (२६ जनवरी, १९३१) के एक साल बाद महात्मा गांधी प्रभृति कांग्रेस-मन्त्रिमंडल—कार्य समिति के सदस्यों—को जेल से रिहा करके लॉर्ड अर्विन ने उनसे समझौते की बातचीत शुरू की और कांग्रेस से 'गांधी-अर्विन समझौता' के अन्तर्गत अस्थायी संधि की।

१९३० के जाड़ों में इंग्लैंड में पहली गोलमेज-परिषद् हुई थी, उससे महात्मा गांधी व कांग्रेस ने असहयोग किया था। फलत: इंग्लैंड के जहाज में बैठने के बजाय कांग्रेसी नेता जेलों में जाकर बैठे थे। इस बार सर सप्रू व बैरिस्टर जयकर ने लार्ड अर्विन व महात्मा गांधी में इस उद्देश्य से समझौता कराने का प्रयत्न किया कि वह सत्याग्रह बन्द करके गोलमेज-परिषद् में जा सकें। इसके लिए पं० जवाहरलाल व मोतीलाल नेहरू को महात्मा गांधी से मिलने इलाहाबाद से यरवदा भेजा गया था। फिर भी कांग्रेस के नेता जैसा आश्वासन चाहते थे उसके लिए सरकार तैयार नहीं थीं। इससे समझौता न हो सका और सर सप्रू तथा जयकरसाहब दूसरे नरम दली तथा साम्प्रदायिक नेताओं सहित विलायत गये। इस समय महाराष्ट्र के प्रतिसहयोगी सहयोग के चार नेता चार दिशाओं में अपना-अपना रास्ता

खोजने लगे। जयकरसाहब 'हिन्दू लिबरल' के रूप में और डा० मुंजे 'हिन्दू' की हैसियत से विलायत गये; किन्तु केलकरसाहब परिषद् का निमंत्रण अस्वीकार करके हिन्दुस्तान में ही रहे। उन्होंने 'केसरी' में कांग्रेस पर यह टीका की कि महात्माजी ने जवाहरलाल के चक्कर में आकर समझौता नहीं किया। लोकनायक अणे महात्माजी के झण्डे के नीचे सत्याग्रह में शरीक होकर जेल चले गये। इस तरह प्रतिसहयोगी सहयोग-दल नाममात्र का रह गया। बाद को 'लोकशाही स्वराज्य-पक्ष' के नाम से श्री केलकर व बै० जमनादास मेहता के नेतृत्व में फिर उसे जन्म मिला; किन्तु आज इस दल में जयकरसाहब व लोकनायक अणे नहीं हैं।

गोलमेज-परिषद् की चर्चा के फलस्वरूप तत्कालीन प्रधान मंत्री रेम्से मैकडॉनल्ड ने भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देने का अभिवचन दिया। मन्त्रिमण्डल की ओर से जो घोषणा उन्होंने की, उसमें ब्रिटिश सरकार की राय जाहिर की गई कि भारत के शासन की जिम्मेदारी केन्द्रीय व प्रान्तीय धारा-सभा को सौंपी जाय व बीच के संक्रमण काल में आवश्यकता पड़ने पर अल्पसंख्यकों के हकों की रक्षा के लिए कुछ संरक्षण रक्खे जायं। जो संरक्षण रक्खे जायं, वे भी ऐसे होंगे और इस तरह उनपर अमल किया जायगा, जिससे पूर्ण उत्तरदायी शासन-व्यवस्था प्राप्त होने में किसी प्रकार बाधा न पड़े। केन्द्रीय सरकार संयुक्त हो, उसमें ब्रिटिश हिन्दुस्तान व देशी राज्य दोनों का समावेश किया जाय, इसे क्या-क्या अधिकार दिये जायं इसपर आगे और विचार कर लिया जाय, क्योंकि देशी राजाओं पर इस सरकार का उतना ही अंकुश रहेगा जितना वे स्वेच्छा से मंजूर कर लेंगे। इस प्रकार केन्द्रीय धारा-सभा-मंडल बन जाने के बाद केन्द्रीय सरकार के मंत्रिमंडल को अधिक उत्तरदायी बनाने का सिद्धांत ब्रिटिश सरकार स्वीकार करेगी। हां, वर्तमान परिस्थिति में संरक्षण व परराष्ट्रीय राजनीति के विषय गवर्नर जनरल के अधीन रहेंगे। इसके अलावा शान्ति-रक्षा के लिए भी विशेषाधिकार रक्खे जायंगे। हिन्दुस्तान की साख और आर्थिक स्थिरता-सम्बन्धी कुछ संरक्षण रखकर केन्द्रीय सरकार का अर्थ-विभाग मंत्रिमंडल के अधिकार में दे दिया जायगा।

इस योजना में तीन तत्व मुख्य हैं: (१) संयुक्त घटना, (२) केन्द्रीय

सरकार में उत्तरदायी शासनपद्धति और (३) संक्रमणकाल के लिए कुछ संरक्षक बन्धन। बाद में महात्मा गांधी व लार्ड अर्विन में जो स्थायी सन्धि हुई, उसमें महात्माजी ने मंजूर कर लिया था कि ये संरक्षण हिन्दुस्तान के हित की दृष्टि से ही तय किये जायंगे। गांधी-अर्विन-समझौते पर एक यह एतराज किया जाता था कि लाहौर में स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास करने के बाद महात्मा गांधी गोलमेज-परिषद् में जायंगे कैसे? इसका जवाब महात्माजी यह देते थे कि अर्थ-व्यवस्था, संरक्षण और परराष्ट्रीय राजनीति यह स्वतन्त्रता का सार-भाग है। यदि इनकी सत्ता हमें मिल जाय और जब चाहें तब ब्रिटिशों की साझेदारी से हट जाने का हमें हक हासिल हो जाय तो फिर राष्ट्र के साथ बराबरी के दर्जे की साझेदारी करने में स्वतन्त्रता के प्रस्ताव या ध्येय के विपरीत कुछ नहीं है। उन्होंने खुद लॉर्ड अर्विन को जताकर कहा और लोगों पर भी प्रकट कर दिया कि मैं अपनी स्वतन्त्रता की मांग गोलमेज-परिषद् में ब्रिटिश राजनेताओं के सामने रक्खूंगा और उसकी बुनियाद पर ही अंग्रेजों से समझौता करूंगा। मार्च १६३१ को गांधी-अर्विन-सन्धि के होने के बाद विदेशी पत्र-प्रतिनिधियों से गांधीजी की महत्वपूर्ण बातचीत हुई। उसका कुछ अंश इस प्रकार है:

प्रश्न—समझौते की दूसरी धारा[१] को देखते हुए मद्रास, कलकत्ता और लाहौर-कांग्रेस में स्वीकृत स्वतन्त्रता का प्रस्ताव फिर से कांग्रेस में पास

[१] "As regards constitutional question, the scope of future discussion is stated, with the assent of His Majesty's Government, to be with the object of considering further the scheme for the constitutional Government of India discussed at the Round Table Conference. Of the scheme there outlined, Federation is an essential part. So also are Indian Responsibility and reservation or safeguards in the interest of India, for such matters as, for instance, Defence, External affairs, the position of Minorities, the financial credit of India; and the discharge of obligation."

होना सुसंगत होगा ?

उत्तर—जरूर होगा। क्योंकि यह धारा कराची-कांग्रेस में ऐसा प्रस्ताव करने में बाधक नहीं हो सकती। यह नहीं, बल्कि मैंने इस बात को तय कर लिया है कि आगामी गोलमेज-परिषद् में स्वतन्त्रता की मांग पेश करने में कोई बाधा न होगी। समझौता मंजूर करने से पहले इस विषय में मैंने इस स्थित को अच्छी तरह खोल दिया था और अपनी स्थिति भी साफ कर दी थी।

प्र०—क्या आप प्रस्तुत संरक्षणों व प्रतिबन्धों को मान लेंगे ?

उ०—इस सम्बन्ध में कांग्रेस की स्थिति सारे संसार पर प्रकट है और मैं समझता हूं कि जो लोग आज कांग्रेस को परिषद् में निमंत्रण दे रहे हैं, उन्हें मालूम होना चाहिए कि कांग्रेस क्या चाहती है। कांग्रेस की स्थिति को स्पष्ट करने का मैंने अपनी ओर से भरसक प्रयत्न किया है और अब भी ब्रिटिश सरकार के लिए मार्ग खुला हुआ है कि वह कांग्रेस को निमन्त्रण न दे। इस समझौते में यह शर्त नही है कि कांग्रेस को गोलमेज-परिषद् में जाना ही चाहिए।

प्र०—नये विधान में कुछ बन्धन लगाना आप मंजूर करेंगे ?

उ०—हां, जो बन्धन वाजिब व वांछनीय होंगे, उन्हें मैं जरूर मंजूर करूंगा। अल्पसंख्यकों का ही सवाल लीजिये : यदि हम इस बात को नहीं मानेगे कि अल्पसंख्यकों का हित हमारे हाथ में एक पवित्र धरोहर है तो हम इस महान् राष्ट्र के ध्येय को सार्थक न कर सकेंगे। मैं इसे एक न्याय-पूर्ण संरक्षण मानूंगा।

प्र०—फौज और आर्थिक प्रतिबन्धों के सम्बन्ध में आपकी क्या राय है ?

उ०—आर्थिक व्यवस्था के बारे में कहना हो तो कर्ज को लीजिये। सरकार पर अगर कर्ज हो तो उसकी कुछ जिम्मेदारी लेनी ही पड़ेगी। इस अंश तक देश की साख पर व उसकी वृद्धि पर कुछ बन्धन स्वीकार करना मेरा कर्तव्य है। फौज के सम्बन्ध में मुझे यही बन्धन सूझता है कि हिन्दुस्तान की रक्षा के लिए जो ब्रिटिश सैनिक हमें दरकार होंगे उनके वेतन की जिम्मेदारी लेना और ऐसी ही किसी तरह की दूसरी बात का जिम्मा

लेना मेरी समझ में आ सकता है।

प्र०—पूर्ण स्वराज्य की आपकी क्या तस्वीर है ?

उ०—मैं तो आकाश में उड़नेवाला आदमी हूं। इसलिए मैं तो ऐसे कई 'मनोराज्य' किया करता हूं। 'पूर्ण-स्वराज्य' पूर्ण समानता का विरोधी नहीं बल्कि आधार है। सर्व-साधारण का दिमाग इस समानता को सहसा नहीं समझ सकता। समानता से मेरा तात्पर्य है कि सरकारी कार्य का केन्द्र डाउनिंग स्ट्रीट होने के बजाय दिल्ली हो। मित्रों का कहना है कि सम्भव है, इंग्लैंड इस स्थिति के लिए राजी न हो।

ब्रिटिश लोग व्यावहारिक आदमी हैं। जिस प्रकार वे अपनी स्वतन्त्रता से प्रेम करते हैं उसी प्रकार दूसरों को स्वतन्त्रता देना उसी स्वातंत्र्य-प्रेम का अगला कदम है। मैं जानता हूं कि भारत के लिए मैं जो समानता चाहता हूं उसके दे देने का जब समय आवेगा तो यही कहेंगे कि यह तो हम हमेशा से चाहते थे। ब्रिटिश लोगों में अपने-आपको भ्रम में रखने की जैसी खूबी है वैसी और किसी राष्ट्र में नहीं। मेरे विचार से निश्चय ही समानता का तात्पर्य है सम्बन्ध-विच्छेद के अधिकार काफी होना।

इस तरह अर्थ-व्यवस्था, संरक्षण और परराष्ट्रीय राजनीति या वैदेशिक मामले और जब चाहें तब साझेदारी छोड़ देने का अधिकार यह स्वतन्त्रता का या पूर्ण स्वराज्य का सार है, ऐसा महात्मा गांधी का और कांग्रेस का मत था। स्वतन्त्रता का यह सार प्राप्त करने के लिए ही कांग्रेस की लड़ाई जारी रही और इसका अन्त भी इनके प्राप्त हो जाने पर ही हो गया। इस मुलाकात के थोड़े ही दिन बाद कराची में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में उपर्युक्त अर्थवाला प्रस्ताव हुआ और यह तय हुआ कि महात्मा गांधी राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप में द्वितीय गोलमेज-परिषद् में जायं, जिसके अनुसार वह १९३१ के अन्त में इंग्लैंड गये। जाने के पहले गांधी-अर्विन-समझौते के मुताबिक लड़ाई स्थगित हो गई थी और सारे राजनैतिक कैदी छोड़ दिये गए थे। सत्याग्रह की लड़ाई का मुकाबला करने के लिए निकाले गए आर्डिनेन्स रद्द किये गए, मुकदमे उठा लिये गए और जो जुर्माना भरा नहीं गया था वह माफ हो गया, जब्त हुआ माल-असबाब, जो सरकार के पास था, वापस कर दिया गया और जब्त जमीनें वापस कर

दी गई। जिस जगह नमक बनता हो वहां के आसपास के लोगों को घरू खर्च के लिए बिना कर दिये नमक ले सकने का अधिकार दिया गया। यह तय किया गया कि स्वदेशी को उत्तेजन देने के लिए धरना देना तो जारी रक्खा जाय, सिर्फ इंग्लैण्ड में बनी चीजों का बहिष्कार करना बन्द कर दिया जाय। इसके व शराबबन्दी के लिए धरना दिया जाय; लेकिन वह पूर्ण शान्तिमय हो। गांधी-अर्विन-समझौते की इन सारी शर्तों पर अमल किये जाने के बाद ही गांधीजी द्वितीय गोलमेज-परिषद् के लिए विलायत गये।

गांधी-अर्विन-समझौते का कांग्रेस और उसके द्वारा की गई निःशस्त्र क्रान्ति के इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। आधुनिक भारत के इतिहास में यह एक अपूर्व बात थी कि कांग्रेस का आन्दोलनन बन्द करने के लिए साम्राज्यशाही को कांग्रेस के नेताओं से बराबरी का व्यवहार करना पड़ा। इसी एक बात पर ब्रिटिश राजनेताओं ने इस ठहराव के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से यह भी मान लिया कि कांग्रेस ही हिन्दुस्तान की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था है और अन्त में स्वराज्य के प्रश्न का भी उसीसे समझौता करना पड़ेगा। दूसरी गोलमेज-परिषद् में महात्मा गांधी कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि बनकर गये थे और महात्माजी ने परिषद् के अपने पहले भाषण में ही यह कह दिया था कि मैं उस महान् संस्था का एकमात्र प्रतिनिधि हूं, जिसने अपने पराक्रम से यह साबित कर दिया है कि उसे सारे भारत की जनता की तरफ से विदेशी शासकों के साथ सुलह-समझौते का अधिकार प्राप्त है। अतः यदि भारतवर्ष से सन्धि करना हो तो वह मेरे मार्फत ही करनी चाहिए। उसके बाद उन्होंने अपनी सारी शक्ति संरक्षण व वैदेशिक विषयों पर ही केन्द्रित की। इसलिए उन्होंने बताया कि जबतक आप स्वतन्त्रता का सार देना मंजूर न करेंगे तबतक मैं किसी तरह समझौता मंजूर नहीं कर सकता।

पहले मांटेगू-सुधारों के अवसर पर समझौते की जो नीति लोकमान्य ने अंगीकार की थी उसका परिणत रूप महात्माजी की यह वर्तमान नीति है, ऐसा कहना अनुचित न होगा। संक्षेप में महात्माजी का यह कहना था कि पहले तुम यह मान लो कि आज से हम अपने घर के मालिक हो चुके,

फिर यह सुझाओ कि अब इस घर में तुमको कितने दिनों तक किस तरह रहना है तो इसके बारे में समझौता किया जाय। इसकी तजवीजें व सुझाव रक्खो। तब हम यह देख लेंगे कि हमारे हित की दृष्टि से वे हमें मंजूर हो सकते हैं या नहीं। लेकिन तब दूसरे देशों के बराबर स्वतन्त्र राष्ट्र के तौर पर हिन्दुस्तान को मानने व ब्रिटेन के साथ साझेदारी के उसके दर्जे को स्वीकार करने की भूमिका पर समझौता करने के लिए ब्रिटिश राजनेता तैयार नहीं थे और इधर महात्माजी इस धरातल को छोड़कर अपने देश की स्वतंत्रता का सस्ता सौदा करने के लिए तैयार न थे। इसीसे दूसरी गोल-मेज-परिषद् विफल हुई और उन्हें वहीं पता लग गया था कि हिन्दुस्तान जाने पर फिर कोई सत्याग्रह किये बिना गति नहीं है। हां, उनके यहां लौटते ही अगर उन्हें यह न दिखाई दिया होता कि नौकरशाही ने बाद में गांधी-अर्विन-समझौता तोड़ दिया है और 'उसको फिर से साधने की बातचीत भी करने के लिए हम तैयार नहीं हैं' ऐसा रूखा जवाब यदि लार्ड 'विलिंग्डन ने महात्माजी को न दिया होता तो महात्माजी विलायत से आते ही सत्याग्रह शुरू न करते, बल्कि संगठनात्मक व विधायक कामों में कुछ समय लगाते! लेकिन जनवरी १९३२ में दूसरी गोलमेज-परिषद् से लौटकर महात्माजी यहां आकर क्या देखते हैं कि बंगाल, युक्तप्रान्त और सीमाप्रान्त में दमन-चक्र चल गया है और सुभाषबाबू, जवाहरलालजी व खान अब्दुल गफ्फार खान आदि कांग्रेस नेताओं को सरकार ने गिरफ्तार कर लिया है। ऐसी स्थिति में भी महात्माजी ने लार्ड विलिंग्डन से समझौते के लिए तार द्वारा मिलने की इच्छा प्रकट की; परन्तु वह ठुकरा दी गई। इसका कारण यह था कि यहां की नौकरशाही चाहती थी कि गांधी-अर्विन-समझौते के कारण कांग्रेस की जो एक तरह की प्रतिस्पर्धी राज्य-संस्था की-सी स्थिति बन गई थी उसे बदलकर कांग्रेस व उसके नेताओं पर हाथ साफ किया जाय। इसके लिए इंग्लैंड का नवीन ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल व भारत मंत्री सर सेम्युअल होर उनकी पीठ ठोंकने के लिए तैयार थे। यहां के अधिकारी उन्हें सब्ज बाग दिखा रहे थे कि कांग्रेस को एक-दो महीने में ही खतम कर देंगे व महात्माजी के आत्म-बल की कलई थोड़े ही दिनों में खोलकर दिखा देंगे। तदनुसार जनवर

१९३४ में ही लार्ड विलिंग्डन की सरकार ने कांग्रेस पर धावा बोल दिया। लेकिन आशा के अनुसार दो महीने में कांग्रेस खत्म नहीं हुई। आर्डिनेंस की छः महीने की मियाद भी खत्म हो गई तब भी कांग्रेस नहीं हारी। उसकी सब संस्थाएं गैर-कानूनी करार दी गई तो भी उसका काम बन्द नहीं हुआ और खुद दिल्ली में उसका बेकायदा अधिवेशन सफलता के साथ हुआ। तब जो काम ब्रिटिश सरकार की अतुल दमन-शक्ति से न हो सका, उसे भेदनीति से सफल करने की शुरुआत धीरे-धीरे हुई।

गांधी-अर्विन-समझौते के बाद से करीब-करीब ऐसी स्थिति बन गई थी कि भारतीय जनता की तरफ से किसी भी शासन-विधान को मंजूर करना हो तो वह कांग्रेस ही करे। मगर जिस तरह ब्रिटिश राजनेता इस स्थिति को मानने के लिए तैयार नहीं थे उसी तरह हमारे देश के कांग्रेस-बाह्य दूसरे दल भी तैयार नहीं थे। वे कहने लगे—कांग्रेस की तरह हमारा भी एक दल है। तब हम क्यों न सरकार से सुलह-समझौता करें, यदि कांग्रेस इसके लिए तैयार नहीं है? गांधीजी की तरह हम भी विलायत जा सकते हैं, हम भी विधान-शास्त्र के पण्डित हैं और शायद उनसे तो अधिक ही हैं। उनकी तरह हम भी व्याख्यान दे सकते हैं। तब हम अपनी इच्छानुसार विधान इंग्लैंड से लाकर हिन्दुस्तान के माथे क्यों नहीं मार दें? लेकिन इस विचार-सरणि में दो दोष थे—एक तो यह कि जो शासन-विधान हिन्दुस्तान में लागू होता उसके लिए इतने ही से काम नहीं चलता कि यह थोड़े लोगों के मनोनुकूल है। वह तो समूचे राष्ट्र के मनोनुकूल होना चाहिए था और राष्ट्र को समझाने की जितनी शक्ति महात्मा गांधी के पास थी उतनी तीसरी गोलमेज परिषद् में गये किसी भी नेता के पास नहीं थी, बल्कि सारे नेता-मंडल के पास भी नहीं थी। एक वक्ता ने तो उस समय आम सभा में कह दिया था कि कांग्रेस व महात्मा गांधी को जेल में ठूंसकर जो नेता विलायत गये हैं उनकी कीमत राष्ट्रीय प्रतिनिधि के तौर पर शून्य से अधिक नहीं है। अगर महात्मा गांधी-रूपी अंक पर ये बिन्दियां लगाई होतीं तो इनकी कीमत हुई होती। परन्तु उस अंक के अभाव में इन सबकी मिलकर कीमत एक सिफर के बराबर ही थी। फिर महात्मा गांधी की कीमत भी उन अकेले के व्यक्ति-माहात्म्य पर नहीं, बल्कि उनके पीछे सारे

राष्ट्र का जो संगठित आत्मबल अर्थात् सत्याग्रही राष्ट्र-सभा कांग्रेस थी, उसपर अवलम्बित था। जबतक हम राष्ट्रीय राजनीति का यह पाठ न पढ़ लेते तबतक ब्रिटिश साम्राज्य से पूर्ण स्वराज्य के अधिकार मांग या छीन न सकते। फिर भी कांग्रेस को वैसे ही जेल में पड़ी रहने देकर हिन्दुस्तान के वे कुछ राजनीतिज्ञ, जो अपनेको व्यवहार-दक्ष कहलाते थे, १९३२ के अन्त में तीसरी गोलमेज-परिषद् में गये थे। उनमें से हरेक ने यह जाहिर किया था कि हम किसीके प्रतिनिधि की हैसियत से नहीं, बल्कि निजी तौर पर जा रहे हैं, मानो बाल्डविन या मैक्डॉनल्ड के घर से उन्हें किसी शादी में आने का निमंत्रण मिला हो! और जिस तरह निमंत्रित भिक्षुकों को यजमान भोजन कराके विदा कर देता है उसी तरह सर सेम्युअल वगैरा ब्रिटिश राजनेताओं ने स्वराज्य की दक्षिणा मिलने की आशा से निजी तौर पर गये हुए इन भिक्षुकों को हाथ हिलाते हुए सूखे ही घर लौटा दिया! हां, इससे सर सेम्युअल प्रभृत्ति ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को यह भ्रम अवश्य पैदा हो गया कि जब कांग्रेस को छोड़कर हमारे बुलाने से इतने राजनीतिज्ञ इंग्लैंड आ सकते हैं तो किसी भी शासन-विधान को चलाने के लिए चाहे जितने दल व नेता हमें मिल जायंगे या बनाये जा सकेंगे। इससे यह भी साफ मालूम हो गया कि जबतक उनका यह भ्रम दूर न होगा तबतक कांग्रेस व हिन्दुस्तान को पूर्ण स्वराज्य भी न मिल सकेगा। ब्रिटिश लोग विदेशी हैं और उनसे संधि-विग्रह करने का अधिकार जबतक एक ही संस्था को न मिलेगा तबतक हमें स्वराज्य नहीं मिल सकता, यह पाठ हमारे नरम दल के नेता और लोकमान्य के नाम पर चलनेवाला लोकशाही पक्ष नहीं सीख पाया।

तीसरी गोलमेज-परिषद् के बाद पार्लमेंट की सिलेक्ट कमेटी बनी और उसका बनाया विधान १९३५ में 'गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट' के नाम से कानून बन गया। इस बीच महात्माजी ने पहले तो सामुदायिक सत्याग्रह बन्द किया और कुछ महीने बाद व्यक्तिगत सत्याग्रह भी बन्द कर दिया। सत्याग्रह बन्द कर देने के बाद १९३४ में धारासभा पर से बहिष्कार उठा लिया गया और कांग्रेस ने अपने नियंत्रण में धारासभा के काम के लिए एक विभाग खोला। १९२४ में जबसे महात्माजी

और देशबन्धुदास में समझौता होकर कांग्रेस को यह अनुभव हुआ कि धारा-सभा के अन्दर का कार्य व बाहर का विधायक कार्य करनेवाले दोनों दल भावी लड़ाई की पेशबन्दी में बहुत सहायक होते हैं तभी से महात्मा गांधी ने दोनों दलवालों को ऐसे ढर्रे पर चला दिया था कि आपस में विरोध न करते हुए परस्पर सहयोग से रहें और भावी लड़ाई की तैयारी करें। फिर भी १९३० का सत्याग्रह शुरू होने तक दोनों दलों का दिल मिला नहीं था। मगर १९३० व ३२ के सत्याग्रह-संग्रामों में दोनों का दिल एक हो गया और वे महसूस करने लगे कि हम दोनों कांग्रेस के दो हाथ हैं। अतएव दोनों मिलकर महात्मा गांधी के नेतृत्व में अनुशासन के साथ कार्य करें। इधर पं० जवाहरलालजी ने १९३० में जिस समाजवादी मनोवृत्ति का बीज कांग्रेस में बोया था वह अंकुरित हुआ और 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी' के नाम से एक तीसरा दल भी बन गया; परन्तु उसे भी सब दलों के साथ मेल से व कांग्रेस के अनुशासन में रहकर काम करने की नीति मंजूर थी। फिर वह यह समझता था कि कांग्रेस के सामने निकटवर्ती प्रश्न समाजवाद की स्थापना का नहीं, पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति का था। इससे कांग्रेस के अन्दर रहकर वह अपनी वृद्धि करता रहा और हम समझते हैं कि इस दल की बढ़ती से कांग्रेस के भावी विकास में सहायता मिली।

१९३४-३५ में केन्द्रीय असेम्बली के नये चुनाव होनेवाले थे। उस समय कांग्रेस के सामने मुख्य कार्यक्रम यही था कि उन चुनावों में भाग लेकर यह दिखा दिया जाय कि होरसाहब के कल्पित सुधार राष्ट्र को मंजूर नहीं हैं। वे प्रागतिकों भी पसन्द नहीं थे; परन्तु उन्हें नामंजूर करने की नीति को खुल्लमखुल्ला स्वीकार करने के लिए वे तैयार न थे। लोकशाही दल भी इसके अनुकूल नहीं था। इन दलवालों का यह खयाल था कि १९३२ के सत्याग्रह में कांग्रेस की शिकस्त हो गई, इससे अब देश असेम्बली के चुनाव में उसका साथ नहीं देगा। इधर कांग्रेस ने यह घोषणा की कि सुधारों को ठुकराकर जबतक पूर्ण स्वराज्य न मिले तबतक लड़ाई जारी रक्खी जायगी व बम्बई के अधिवेशन में यह राष्ट्रीय मांग तय की गई कि पूर्ण स्वराज्य की योजना ऐसी विधान-परिषद् के द्वारा बनाई जाय, जो बालिग मताधिकार द्वारा चुनी गई हो। अर्थात् असेम्बली का चुनाव कांग्रेस ने इन मुद्दों पर

लड़ा : (१) नया विधान ठुकरा दिया जाय और (२) आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के अनुसार विधान-सभा के द्वारा पूर्ण स्वराज्य प्राप्त किया जाय। खुद सिलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट में ही यह साफ-साफ कहा गया है कि होर-सुधार प्रागतिकों की मांग से भी बहुत कम हैं। फिर भी उसके लेखकों ने यह आशा प्रकट की कि हिन्दुस्तान के लोग इन सुधारों को मान लेंगे और इसकी नींव पर स्थायी शासन-व्यवस्था कायम की जा सकेगी। उनकी दलील यह थी कि हिन्दुस्तान में एक ऐसा मध्यस्थ लोकमत निर्माण हो गया है कि उसके बल पर यह विधान स्थापित किया जा सकेगा, भले ही कुछ दुराराध्य लोग न मानें। कहना नहीं होगा कि ये मध्यस्थ लोग और कोई नहीं, राजा-महाराजा, बड़े पूंजीपति व जमींदार तथा हिन्दू-मुसलमानों के साम्प्रदायिक या जातिनिष्ठ नेता थे। गोलमेज-परिषद् से एकत्र इन लोगों के आश्वासनों के भरोसे ब्रिटिश राजनेताओं ने १९३५ में शासन-विधान का कानून हिन्दुस्तान पर लादने का निश्चय कर लिया। अब कांग्रेस के सामने मुख्य प्रश्न ही यह था कि इस विधान को ठुकराकर स्वयं निर्णीत स्वराज्य-विधान प्राप्त किया जाय। इस कानून के पास होने के पहले असेम्बली के नये कांग्रेसी सदस्यों ने व जिन्नासाहब के मुसलमान-दल ने मिलकर इन सुधारों को ठुकरा देने का प्रस्ताव पास कर दिया। तब सर सेम्युअल होर ने पार्लमेंट में कहा कि असेम्बली में ऐसा प्रस्ताव पास हो गया तो क्या हुआ, प्रान्तों के नेता उसे चलाने के लिए तैयार हैं और इन सुधारों का असली दारोमदार तो प्रान्तीय कौंसिलों पर ही है। इस समय प्रान्तीय कौंसिलों में कांग्रेस-विरोधी अराष्ट्रीय लोग भरे हुए थे और सर होर जैसों को यह उम्मीद थी कि नवीन कौंसिलों में कांग्रेस-दल के लोगों का बहुमत न होगा, या नौकरशाही अपनी तरकीबें लड़ाकर कांग्रेस का बहुमत न होने देगी। पर बात यह है कि ये कांग्रेस-विरोधी दल दो तरह से ब्रिटिश राजनेताओं को भुलावे में डालते रहे। पहले तो वे उन्हें बताते रहे कि कांग्रेस की लड़ाकू नीति लोगों को जंचती नहीं व लोग उसका साथ नहीं देते। कई बार उनका यह अंदाज गलत साबित हुआ; फिर भी वे बार-बार यह कहते नहीं चूके। फिर दूसरा भुलावा यह देते हैं कि कांग्रेस जो लड़ाई की भाषा बोलती रहती है उसमें कुछ दम नहीं है, कोरी धमकियां हैं। कांग्रेस के नेता लोगों को

झांसा देने के लिए झूठमूठ ऐसी भाषा बोलते रहते हैं। मगर इन कांग्रेस-विरोधियों का यह बात याद रखनी चाहिए थी कि स्वराजपार्टी के आह्वान को भी वे 'कोरी धमकियां' कहा करते थे; पर आखिर को कांग्रेस ने इतने ज़ोर का आन्दोलन चलाया कि १९३० के अन्त में सरकार को उससे समझौता करने पर मजबूर होना पड़ा।

नवीन विधान के प्रान्तीय स्वराज्य का भाग स्थापित हो चुका था व ग्यारह में से सात प्रान्तों में कांग्रेस-मंत्रिमण्डल जनता के बहुमत के बल पर प्रत्यक्ष शासन कर रहे थे। कांग्रेस विधान को नामंजूर करने व आत्मनिर्णय के सिद्धान्तानुसार विधान-सभा के द्वारा पूर्ण स्वराज्य का नवीन विधान बनाने की भाषा उतने ही बल व निश्चय के साथ बोल रही थी। यदि इसमें वह सफल न होती तो उसने अबतक जो निःशस्त्र क्रांतिवादी तन्त्र, शास्त्र व तत्वज्ञान देश के सामने रक्खा था, वह सफल हुआ नहीं माना जाता और फिर, सम्भव है, राष्ट्र को अपनी आजादी के लिए किसी दूसरे ही तन्त्र, शास्त्र व तत्वज्ञान का अवलम्बन करना पड़ता। उस समय देश के सामने एक दूसरा तन्त्र, शास्त्र व तत्वज्ञान (कम्यूनिज्म) वैज्ञानिक क्रान्ति के शास्त्र के रूप में आने लगा था और जिन लोगों का विश्वास अहिंसात्मक क्रान्ति-शास्त्र पर नहीं था, वे धीरे-धीरे बहुत-कुछ उसीका अवलम्बन करने लगे थे। देश जिस लड़ाई में लगा हुआ था उसका स्वरूप राष्ट्रीय था। १९१९ के सुधार-कानून के बाद यह लड़ाई शुरू हुई और एक खास तत्वज्ञान व क्रान्ति-शास्त्र के अनुसार एक अलौकिक, असामान्य विभूति के नेतृत्व में चलती आई। अबतक जिन नेताओं ने इस लड़ाई का संचालन किया, जिस कांग्रेस के द्वारा और जिस जनता के बल पर वह लड़ी गई उसका निःशस्त्र क्रान्ति-वादी तत्वज्ञान पर विश्वास कायम था। यही नहीं बल्कि बढ़ता जा रहा था और उसे यह आत्मविश्वास हो रहा था कि इसीके द्वारा-हम पूर्ण स्वराज्य के शिखर तक पहुंच जायंगे व अठारह साल के इस स्वराज्य-संग्राम में विजयी होकर संसार की संस्कृति और भारत की कीर्ति में अपूर्व वृद्धि करेंगे।

: ११ :

प्रान्तीय स्वायत्तता और द्विराष्ट्रवाद

अबतक पिछली करीब एक सदी का इतिहास हमने देखा। इस अर्से में यह राष्ट्र किस बड़े आन्दोलन में संलग्न था और उसके सामने कौनसी बड़ी समस्याएं थीं, इसका विवेचन अबतक किया गया। जो राष्ट्रीय आन्दोलन देश में चला, उसका आरम्भ १९१९ के सुधारों के बाद तुरन्त हो जाता है। यह आन्दोलन एक खास तत्वप्रणाली और क्रान्तिशास्त्र को लेकर तथा एक असामान्य विभूति के नेतृत्व में चल रहा था। १९२० से जिस निःशस्त्र क्रान्तिवादी तत्व को कांग्रेस के नेताओं के मार्गदर्शन में जनता ने स्वीकार किया, उसपर चलकर देश को पूरी आजादी मिल जायगी, अठारह सालों से चलता हुआ शान्तिपूर्ण आन्दोलन कामयाब होगा और संसार की संस्कृति तथा देश की कीर्ति में इससे काफी वृद्धि होगी, इसका लोगों को पूरा विश्वास हो गया था।

निःशस्त्र क्रान्ति के मार्ग से यश पाने का इतना विश्वास भारतीय जनता में किस तरह निर्माण हुआ, इसकी जब हम छानबीन करने लगते हैं तब हमें पता चलता है कि इसके बीज आधुनिक भारत का इतिहास शुरू होने के पहले ही जनता के हृदय में बोये जा चुके थे। मराठों की हार के बाद हिन्दुस्तान पूरी तरह अंग्रेजों के पंजे में फंसा। इसी वक्त सर्वांगीण समाज-क्रान्ति के अग्रदूत राजा राममोहन राय ने जो आन्दोलन शुरू किया, उससे आधुनिक भारत के इतिहास का श्रीगणेश होता है। अन्य देशों की अपेक्षा अपने पिछड़ जाने का भान अगर भारत को हो जायगा तो उसे अंग्रेज गुलाम नहीं रख सकेंगे, यह बात राजा राममोहन राय जानते थे। संसार के अन्य देशों की तरह नये विचारों को अपनाकर करीब एक सदी में भारत उनके स्तर पर आ सकेगा और तब उसकी मांगों को ठुकराना अंग्रेजों के लिए असम्भव होगा, यह उनको मालूम था। जिन अंग्रेज अधिकारियों ने हिन्दुस्तान पर कब्जा कर लिया था वे भी इस तथ्य से वाकिफ थे। वे कहते थे, "हमने भारत को नहीं जाता है, मोहवश वह हमारे अधीन हो गया है। जब अपनी असली ताकत का पता उसे चल जायगा, तब एक पलभर के

लिए भी उसे अपने काबू में रखना हमारे लिए असम्भव है। लाख-डेढ़ लाख लोग बीस-बाईस करोड़ की संख्यावाले किसी राष्ट्र को सदा के लिए अपने अधीन नहीं रख सकते।"

अठारहवीं सदी में मराठा, निजाम तथा हैदर-टीपू का मैसूर—ये ही तीन प्रमुख राज्य भारत में थे। इन तीनों का मुकाबला करने की क्षमता अंग्रेजों में नहीं थी, इतना ही नहीं बल्कि दूसरे की सहायता के सिवा किसी एक का भी मुकाबला वे नहीं कर सकते थे। इस बात को न पहचानकर इन तीनों में ब्रिटिशों के कृपाभाजन बनने के लिए होड़-सी लगी थी। देश में एकता की भावना ही नहीं रही थी। अन्दरूनी झगड़ों से ये राज्य बिल्कुल कमजोर बन गये थे। अगर उस वक्त लोगों में लोकशाही तथा राष्ट्रीयता की भावना होती तो हिन्दुस्तान अपनी आजादी बनाये रख सकता था।

एक शताब्दी तक भारत को गुलामी में रहना पड़ा। गुलामी के कारण देशभर में हद दर्जे की गरीबी फैली। स्वर्गीय दादाभाई नौरोजी, लोकमान्य तिलक तथा महात्मा गांधी देश को राष्ट्रीयता की तालीम देकर संगठित करने की कोशिश कर रहे थे। इनके नेतृत्व में निःशस्त्र होने पर भी पराई हुकूमत से छुटकारा पाने की बात जनता ने ठान ली। उधर अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में भी अंग्रेजों का प्रभाव घट ही रहा था। अंग्रेजों की संस्कृति से जागतिक संस्कृति के विकास में मदद मिलेगी, ऐसी जो भावना लोगों में फैली थी वह मिट रही थी। भारत को लोकतन्त्र तथा राष्ट्रीयता के पाठ पढ़ाने के लिए अंग्रेजों का अवतार हुआ है, ऐसी शेखी अंग्रेज बघारते थे और यहां के लोगों का उसपर विश्वास हो गया था; लेकिन दुनिया की हालत बदली और आज परिस्थिति ऐसी है कि पूंजीवादी प्रणाली से निर्मित वर्गयुद्ध को टालकर अपनी राष्ट्रीयता तथा अपना लोकतन्त्र कायम रखने के लिए अंग्रेजों को भारत से सबक लेना जरूरी महसूस होने लगा है।

बढ़ते हुए राष्ट्रीय भावों में दरार पैदा करके प्रान्तीय स्वायत्तता के नाम पर भारत को अनेक टुकड़ों में बांट देने की अंग्रेज शासकों की ख्वाहिश थी। संयुक्त-राज्य की स्थापना के नाम पर यहां के लोकतन्त्र को पूंजीवादियों तथा सरमायादारों की सहायता से परास्त करने की साजिशें गोल-

मेज-परिषद् के नाम पर अंग्रेजों ने कीं। लेकिन करीब सभी प्रान्तों में अंग्रेजों की इस चाल को प्रान्तीय स्वायत्तता के आधार पर कांग्रेस ने बेकार बना दिया और सच्चे लोकतन्त्र के लिए आवश्यक अहिंसक वायुमंडल देश में पैदा किया, जिससे प्रान्तीय स्वायत्तता के काल में भी निःशस्त्र क्रान्ति की ताकत बढ़ती ही गई। इस तरह लोकशाही, राष्ट्रीयता और दोनों की पुष्टि तथा परिणति के लिए आवश्यक अनत्याचारी अहिंसात्मक क्रान्तिवाद पूरे देश में फैलने लगा। क्रान्तिवाद की ये लहरें ब्रिटिश हुकूमत की सीमाओं को लांघकर देशी रियासतों में भी फैल रही थीं। लोकतन्त्रात्मक भारतीय गणराज्य का निर्माण, गोलमेज-परिषद् के वक्त अंग्रेजों ने जो कुटिल कार्रवाइयां कीं, उनसे नहीं, बल्कि उनको परास्त करने के लिए जो सत्याग्रही क्रान्ति-शक्ति उदित हुई, उसके कारण हुआ है।

१९३७ से १९४७ तक की घटनाएं बड़ी महत्व की हैं। ब्रिटिश पार्लमेंट ने १९३५ में हिन्दुस्तान में संयुक्त राज्य स्थापन करने का एक कानून बनाया था। उस कानून के अनुसार १९३७ में प्रान्तीय स्वायत्तता की प्रस्थापना हुई। इसके बाद दो-ढाई सालों में संयुक्त राज्य-पद्धति की केन्द्रीय सरकार बनाने का भी ब्रिटेन का विचार था। १९३५ का संयुक्त राज्य का कानून राष्ट्रीय नेताओं को मंजूर नहीं था। उस कानून को ठुकराकर ब्रिटिश साम्राज्य के पंजों से पूरी तरह मुक्त होकर, लोकतन्त्र तथा स्वयं निर्णय के तत्वों के अनुसार अपना विधान खुद बनाने का कार्य निःशस्त्र क्रान्ति के मार्ग से सम्पन्न करने का कांग्रेस ने निश्चय कर लिया था। कांग्रेस की इस नीति के पीछे पूरा देश खड़ा होने का सबूत, प्रान्तीय चुनावों में कांग्रेस की जो शानदार जीत हुई, उससे ब्रिटिशों को तथा सारे संसार को मिल चुका था। प्रान्तीय चुनावों के बाद भारत के ग्यारह में से आठ प्रान्तों के शासन की बागडोर कांग्रेस के प्रतिनिधियों के हाथ में आ गई। पंजाब, बंगाल तथा सिन्ध ये ही ऐसे तीन प्रांत थे, जहां कांग्रेस के मन्त्रिमंडल नहीं बन सके; लेकिन कांग्रेस को विश्वास था कि निकट भविष्य में ये तीन प्रान्त भी उसके प्रतिनिधियों के शासनाधिकार के नीचे आ जायंगे।

भारत के सभी प्रान्तों के शासनाधिकार प्राप्त करके पूर्ण स्वाधीनता,

स्वयंनिर्णय तथा अपना शासन-विधान बनानेवाली परिषद प्राप्त करने के लिए एकाध सत्याग्रही आन्दोलन के बाद कांग्रेस सफल होगी, ऐसी आशा लोगों के दिलों में जगाने में कांग्रेस के नेता सफल हो गये थे। कांग्रेसी नेताओं की सलाह से देशी रियासतों में भी स्थानीय प्रजापरिषदों के मातहत ऐसे आन्दोलन शुरू हो गये थे कि जिनसे रियासती प्रजा में भी लोकतन्त्र की आशाएं पनपने लगी थीं। स्वातन्त्र्य की इस लगन से तथा निःशस्त्र प्रतिकार की भावना से कांग्रेस को आज नहीं तो कल सफलता मिलेगी, इसके बारे में दूरदर्शी ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को भी निश्चय हो गया था।

स्वातन्त्र्य और स्वयंनिर्णय के लिए अगर भारत में खुला विद्रोह हुआ तो उसको कुचलने के लिए देशी रियासतें तथा फिरकापरस्त अल्पसंख्यक जमातों की सहायता प्राप्त करने की पूरी कोशिश इंग्लैंड के प्रतिगामी राजनेता कर रहे थे। ऐसे आन्दोलन के दौर में भारत का कुछ हिस्सा साम्राज्य के प्रति वफादार बना रहेगा और उसकी सहायता से ऐसे आन्दोलन को दबाया जा सकेगा, ऐसा ये राजनेता मानते थे। भारतीय राष्ट्रवाद का प्रतिनिधित्व करनेवाली कांग्रेस के हाथ में पूरा हिन्दुस्तान न आ जाय, इसलिए अलग-अलग तरीकों को १९३० से ये लोग आजमा रहे थे। देशी रियासतें स्वतन्त्र राज्य हैं, उनपर वहां के नरेशों का पूरा अधिकार है, चाहे तो वे अपनी शर्तों पर भारतीय संघराज्य में शामिल होंगी और अगर ये शर्तें नरेशों को पसन्द न हों तो वे अपनी रियासतों को स्वतन्त्र रख सकेंगे या ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन रहने की उन्हें स्वतन्त्रता होगी, ऐसे आश्वासन देकर उनको भड़काने का रवैया १९३० के पहले से प्रतिगामी ब्रिटिश राजनेता अख्तियार कर रहे थे।

इस तरह का फूट का दूसरा एक विचार पाकिस्तान के नाम से भारतीय राजनीति में १९३० से आगे बढ़ रहा था। जिन प्रांतों में मुसलमान बहुसंख्यक हों, उनका शाही हुकूमत से हमेशा वफादार बनने की इच्छा रखनेवाला, एक स्वतंत्र राज्य बनाने की बात सोची जा रही थी। हिन्दुस्तान एक राष्ट्र न होकर उसमें हिन्दू और मुसलमान ऐसे दो राष्ट्र हैं, यह भावना जो कि द्विराष्ट्रवाद के नाम से पहचानी जाती है, कुछ लोगों में जगाने के प्रयास किये जा रहे थे। देशी नरेशों को स्वतंत्र रहने के अधिकार बख्श-

कर और मुसलमानों में पृथक् राष्ट्रीयता की भावना पैदा करके, उनको अपने प्रति वफादार बनाकर, अंतिम लड़ाई में भारतीय राष्ट्रीयता को परास्त करने के ख्वाब ये प्रतिगामी ब्रिटिश राजनेता देखा करते थे। प्रांतीय चुनावों को जीतकर आठ प्रांतों के शासन-सूत्र जब कांग्रेस ने हथिया लिये तो ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों की चालों की रफ्तार तेज होती गई। एक तरफ ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ अंतिम लड़ाई छेड़ने के लिए कांग्रेस के झंडे के नीचे संगठित पुरोगामी शक्ति उतावली हो रही थी तो दूसरी तरफ देशी नरेशों के अधिकार और मुसलमानों की पृथक् राष्ट्रीयता की भावना की दुहाई देकर अपने साम्राज्य की नींव मजबूत बनाने की जी-तोड़ कोशिश ये राजनीतिज्ञ कर रहे थे।

अन्त में १५ अगस्त, १९४७ के दिन ब्रिटिशों के पंजों से पूरा हिन्दुस्तान मुक्त हो गया। भारत के सभी प्रांतों और देशी रियासतों से अंग्रेजों ने अपना शासन उठा लिया; लेकिन विदाई के वक्त अपने हाथों में संचित सत्ता को अंग्रेजों ने दो हिस्सों में बांटकर एक हिस्सा कांग्रेस के हवाले कर दिया और दूसरा हिस्सा अपने वफादार दोस्त मुस्लिम लीग को बख्श दिया। अपना शासन यहां से उठाते हुए अंग्रेजों ने एलान कर दिया कि पंजाब तथा बंगाल के मुस्लिम-प्रधान हिस्से, सरहद प्रांत, सिंध तथा आसाम का कुछ हिस्सा मिलाकर पाकिस्तान के नाम से एक स्वतंत्र राज्य बनेगा और बचे हुए हिन्दुस्तान में भारत नाम का दूसरा राज्य प्रस्थापित होगा। ये दोनों राज्य संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न होंगे और अपनी इच्छा के अनुसार ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बन्ध रख सकेंगे। अपनी इच्छा के अनुसार देशी रियासतें इन दोनों में से किसी एक राज्य में शामिल हो सकेंगी। ब्रिटेन का न उनपर कोई अधिकार रहेगा और न ब्रिटेन कोई उत्तरदायित्व ही सम्हालेगा।

इसका अर्थ यह हर्गिज नहीं है कि यहां के नरेशों को आज़ादी बख्शकर और हिन्दुस्तान व पाकिस्तान नाम के दो राष्ट्र बनाकर अंग्रेज खुशी-खुशी यहां से विदा होने की बात पहले से सोच रहे थे। वे यह सिद्ध करने की कोशिश कर रहे थे कि अगर अंग्रेज यहां से अपना शासन उठा लेंगे तो देश में अनेक छोटे-छोटे राज्य पैदा होंगे जो हमेशा आपस में लड़ते-झगड़ते रहेंगे। अगर यह भावना लोगों में जड़ें जमा सकी तो अपना शासन और

मजबूत बनता जायगा, ऐसा उनको लगता था। अपने शासन के पक्ष में समर्थन प्राप्त करने की उनकी यह चाल थी। इन कूटनीतिज्ञों को लगता था कि अगर कांग्रेस की पैदा की हुई एकराष्ट्रीयता की भावना में दरारें पैदा करने में सफलता मिल सकी तो यहां से अपना शासन उठाने की नौबत ही न आयगी। कम-ने-कम भारत को अपने अधीन रखने की अवधि बढ़ाने के लिए इससे एक कारगर बहाना मिल जायगा, ऐसी कल्पना थी, जो बहुत समय तक न टिक सकी।

पहले प्रांतीय चुनावों के बाद केवल दस वर्षों में भारत के कोने-कोने से अंग्रेजों को अपना शासन हटाना पड़ा। आज यद्यपि देश में भारत और पाकिस्तान के नाम से दो राज्य निर्माण हुए हैं, फिर भी सभी रियासतें किसी-न-किसी राज्य में शामिल हो चुकी हैं और बहुतेरी भारत में शामिल हो गई हैं। पाकिस्तान का पहला मसविदा बनानेवालों ने सोचा था कि कश्मीर पाकिस्तान का एक अहम हिस्सा बनेगा। लेकिन फिलहाल वह एक मर्यादा में भारत के साथ जुड़ गया है और पाकिस्तान का हिस्सा बनने की कोई उम्मीद नहीं हैं। अपने भविष्य का निर्णय आखिर में कश्मीर को खुद ही करना है, इस सिद्धान्त को भारत तथा पाकिस्तान ने कबूल किया है। निजाम की रियासत को अंग्रेजी साम्राज्य का आखिरी सहारा माना जाता था, वह भी आज भारत में शामिल हो चुकी है। देशी रियासतों व फिकापरस्त जमातों को स्वयं निर्णय और स्वातंत्र्य के नाम पर खास रियायतें देकर अपने साथ रखने की अंग्रेजों की चाल आज बड़े पैमाने पर बेकार साबित हो चुकी है। जागतिक राजनीति की दृष्टि से भी भारत की आजादी एक महान् क्रांतिकारी घटना है। भारत आज संसार के अन्य अग्रगामी राष्ट्रों की बराबरी का स्थान पा चुका है। इस क्रांतिकारी घटना का श्रेय भारतीय कांग्रेस व उसके नेताओं के साथ-ही-साथ पुरोगामी विचार के अंग्रेज राजनीतिज्ञों को भी दिया जाना चाहिए।

यह जाहिर है कि पूरे हिन्दुस्तान का एक लोकतंत्रात्मक राज्य बनाने का मकसद पूरा नहीं हो पाया है। हिन्दूस्तान के हिन्दु-मुसलमानों की पिछड़ी सभ्यता, धर्म, राष्ट्र तथा राज्य के बारे में उनके मध्ययुगीन परंपरागत विचार, लोकतन्त्र तथा राष्ट्रीयता से बेमेल आचार-विचार और

फिरकापस्ती आदि दुर्गुणों को परास्त करने में हमारे नेताओं को पूरी सफलता नहीं मिली, यह कबूल करना चाहिए। उन्हें दो मोर्चों पर एक ही साथ लड़ना था। एक तरफ निःशस्त्र जनता को साथ में लेकर प्रबल अंग्रेजी शासन से मुकाबला करना था, तो दूसरी तरफ परंपरागत प्रतिगामी विचारों का सामना करना था। ये दोनों शक्तियां एक-दूसरे की सहायता करनेवाली थीं। शासन की बागडोर हाथ में लेकर देश में एकता पैदा करना एक तरह से आसान है; लेकिन हाथ में किसी प्रकार की सत्ता न होने पर और शासक जब एकता की भावना को मिटाने की ताक में हर पल तैयार थे तब, अज्ञानी व दरिद्री जनता में एकराष्ट्रीयत्व की भावना जगाकर, जातीयता तथा धर्म-भेद के भाव मिटाकर अपने अधिकारों के खातिर विदेशी सल्तनत से लड़ने के लिए लोगों को तैयार करना बड़ा मुश्किल था। भारतीय नेताओं की दीर्घ तपस्या का फल है कि कम-से-कम हम सब अंग्रेजों के पंजों से तो छूट सके हैं।

१९३७ में जब प्रान्तीय स्वायत्तता मिली तब पाकिस्तान का सवाल इतने विकराल रूप में सामने नहीं था। लेकिन उसके बाद दो ही चार सालों में इस कल्पना ने इतना ज़ोर पकड़ा कि आखिर हारकर हमारे नेताओं को अपनी स्वतन्त्रता के साथ-ही-साथ पाकिस्तान को भी कबूल करना पड़ा। इसके कारणों की छानबीन करना लाभदायक होगा। पाकिस्तान की कल्पना पहले-पहल १९३० में लोगों के सामने आई। उस साल डॉ० मुहम्मद इकबाल की सदारत में मुस्लिम लीग का सालाना जलसा इलाहाबाद में हो रहा था। अपनी तकरीर में पंजाब, सूबा सरहद, सिन्ध तथा बिलोचिस्तान को मिलाकर एक स्वतन्त्र राज्य बनाने की मांग उन्होंने की। हिन्दुस्तान के उत्तर-पश्चिम में मुसलमानों का एक राज्य, हिन्दी संघ-राज्य से मिला-जुला, बनाने की वह मांग है, ऐसा तब माना गया। आज के पूर्व पाकिस्तान के प्रदेश का इस भाषण में बिल्कुल जिक्र नहीं है। १९३३ में तीसरी गोल-मेज-परिषद के अवसर पर केम्ब्रिज विद्यापीठ के कुछ विद्यार्थियों ने पाकिस्तान की कल्पना लोगों के सामने फिर रखी। पंजाब, सरहदी सूबा, काश्मीर, सिन्धु तथा बिलोचिस्तान को मिलाकर पाकिस्तान नाम का स्वतंत्र राष्ट्र बनाने की कल्पना उसमें थी। लेकिन उस वक्त दिमागी ऐयाशी मान-

कर उसको किसीने ज्यादा महत्व नहीं दिया। १९३३ के अगस्त में मुस्लिम लीग का एक प्रतिनिधि-मण्डल, पार्लमिंट की ज्वाइंट सिलेक्ट कमेटी के सामने बयान देने के लिए इंग्लेंड गया हुआ था। इस मण्डल को उकसाने के लिए शायद, उसके नेता से पूछा गया, "कुछ प्रान्तों को मिलाकर पाकिस्तान के नाम से उनका एक स्वतन्त्र राज्य बनाने की क्या कोई योजना बनाई गई है?" इसपर लीगी नुमाइन्दों ने कहा, "जहांतक हम जानते हैं वह केवल कुछ ही विद्यार्थियों को सूझ है। वह ख्याली पुलाव पकाना है, ऐसा हम मानते हैं।" इससे पता चलता है कि तीन करोड़ मुसलमानों के प्रतिनिधि भी उस वक्त पाकिस्तान के भारे में कैसे विचार रखते थे। लेकिन इसके पांच ही साल बाद देखा गया कि मुस्लिम लीग की सियासत बड़ी तेजी के साथ पाकिस्तान की कल्पना से प्रभावित हो गई। जिन्नासाहब जैसे लोग, जो पहले कांग्रेस के नेता माने जाते थे, पाकिस्तान के नारे बुलन्द करने लगे।

जातिधर्म-भेदातीत राष्ट्रीय भावना तथा लोकतंत्र—ये दो ध्येय भारतीय जनता के सामने अंग्रेजों की सल्तनत यहां कायम होने के पहले थे ही नहीं। ये विचार वहां की जनता में फैलाने का काम, उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में, राजा राममोहन राय जैसे धर्म व समाज के सुधारकों ने शुरू किया। अंग्रेजी लिखे-पढ़े लोगों में इस आन्दोलन ने जड़ें पकड़ लीं और इसीके फलस्वरूप १८८५ में कांग्रेस की स्थापना हुई। इस संस्था में हिन्दुस्तान के विभिन्न धर्म तथा जातियों के लोग शामिल हो जायं और आधुनिक राष्ट्रीयता के ध्येय के अनुरूप जाति-धर्म-भेदातीत लोकतन्त्रात्मक राजनीति को अपने देश में चलायें, यही कांग्रेस के संस्थापकों का ध्येय था। देश में उस वक्त जो उदारमतवादी अंग्रेज थे और इने-गिने अंग्रेजी पढ़े-लिखे थे, उन्होंने इस नये आन्दोलन को बढ़ावा दिया। अंग्रेजी पढ़ाई से पहले मुसलमान कुछ हिचकिचाते थे, जिससे अंग्रेजी शिक्षा में वे पिछड़ गये और नये विचारों के सम्पर्क से अछूते रह गये। फिर भी धीरे-धीरे शिक्षित मुसलमान कांग्रेस के आन्दोलन की ओर आकर्षित हो रहे थे और उनकी संख्या भी बढ़ रही। कांग्रेस का तीसरा अधिवेशन एक मुसलमान नेता न्या० बद्रुद्दीन तय्यबजी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ था। आगे चलकर कांग्रेस आम जनता की संस्था बनने लगी। इसके फलस्वरूप १८९२ में पार्लमिंट

ने एक कानून बनाकर धारासभाओं में अप्रत्यक्ष चुनावों से कुछ लोक-प्रतिनिधि चुने जाने का प्रबन्ध किया।

हिन्दुस्तान में बढ़ती राष्ट्रीय भावना तथा लोकतन्त्रात्मक राजनीति अंग्रेज-शासकों को बहुत ही अखरती थी। उसको रोकने के लिए सर सय्यद अहमद जैसे मुसलमान नेताओं को फुसलाना उन्होंने शुरू कर दिया। राष्ट्रीय आन्दोलन केवल हिन्दुओं का है और अगर वह सफल हुआ तो देश में हिंदुओं का राज होगा और मुसलमानों की तहजीब मटियामेट हो जायगी, ऐसी दलीलें मुसलमानों के सामने रखी जाने लगीं। उनका असर मुसलमान नेताओं पर होने लगा। इसके थोड़े समय बाद बम्बई, पूना जैसे स्थानों में हिन्दू-मुसलमानों में दंगे हुए। आगे तो यह एक सिलसिला ही बन गया कि जब कभी देश में अंग्रेजों के खिलाफ जोरों का आन्दोलन फूट निकलता तब फौरन ही ऐसे दंगे जगह-जगह छिड़ जाते। १९०५ में जब बंग-भंग के खिलाफ स्वदेशी तथा बहिष्कार का आन्दोलन शुरू हुआ तब बंगाल में ऐसी वारदातें हुईं। मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग करने के लिए यहां के प्रतिगामी अंग्रेज अफसर इस तरह की तरकीबें खोज निकालते थे।

लेकिन इतने से मुसलमानों की पृथक् राष्ट्रीयत्व की भावना ठोस न बन सकी। १९०९ में मोर्ले-मिण्टो सुधारों का एलान किया गया। उसके अनुसार मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन-अधिकार दिये गए। इससे पृथक् राष्ट्रीयता की भावना को कानून का सहारा मिल गया और वह ज़ोर पकड़ने लगी। १९१६ में लखनऊ में कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के नेताओं के बीच एक समझौता हुआ और पहले महायुद्ध के बाद स्वराज्य के जिन अधिकारों की मांग कांग्रेस कर रही थी, उनको मुसलमानों की अनुमति भी प्राप्त हुई। ऐसा समझौता कराने में लोकमान्य तिलक तथा जिन्नासाहब ये दो कांग्रेसी नेता प्रमुख थे। इस समझौते में मुसलमानों का पृथक् निर्वाचन का अधिकार मंज़ूर कर लिया गया। पहले युद्ध के बाद मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों का एलान किया गया, जिसमें साफ तौर से बताया गया था कि पृथक् निर्वाचन का तत्व एकराष्ट्रीयत्व तथा लोकतन्त्र के विकास में बाधा पहुंचानेवाला है। फिर भी मुस्लिम लीग तथा कांग्रेस के समझौते का हवाला देकर उसको नये सुधारों में जोड़ दिया गया; लेकिन समझौते में जिस राजनीतिक सत्ता

की मांग दोनों ने मिलकर की थी, उसको मंजूर नहीं किया गया। मुसलमानों को दिये गए पृथक् निर्वाचन-अधिकार से होनेवाले परिणामों का अन्दाजा १९३७ में प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना होने तक कोई न लगा सका। पृथक् निर्वाचन का अधिकार अगर मुसलमानों को न दिया जाता तो फिरकापरस्त राजनीति की आग इतनी भभक न उठती।

१९३७ में जिन आठ प्रान्तों में कांग्रेस ने शासनाधिकार हाथ में लिये, उनमें से सात प्रान्तों में मन्त्रिमंडलों में मुसलमान मंत्री लिये गये थे; लेकिन वे सब कांग्रेसी थे। मन्त्रिमंडल के सदस्य सामुदायिक रूप में धारासभा से उत्तरदायी होते हैं, अतः उनकी सफलता की दृष्टि से एकपक्षीय मन्त्रिमंडल सुविधाजनक साबित होता है। जब धारासभा में किसी भी एक दल को निर्विवाद बहुमत प्राप्त नहीं होता, तभी दो या अधिक दलों को मिलकर मन्त्रिमंडल बनाना पड़ता है। लेकिन ऐसे संयुक्त मन्त्रिमंडल अपना कारोबार एक ही ध्येय से चलाने में सफल नहीं हो पाते। कांग्रेस ने शासन की बागडोर सम्हाली तब उसको बहुत बड़ा बहुमत प्राप्त था, अतः दूसरे पक्षों से समझौता करने की कोई जरूरत नहीं थी। उसने अपने ही बल पर मन्त्रिमंडल बनाये थे। उस वक्त राज्य में गवर्नर तथा उसके मातहत काम करनेवाले अधिकारी कांग्रेस-मन्त्रिमंडलों के कारोबार में रोड़े अटकाने की फिक्र में सदा रहते थे। उससे एक तरफ मन्त्रिमंडलों को लड़ना था तो दूसरी तरफ केन्द्रीय शासनाधिकार पाने के लिए आन्दोलन की तैयारी करनी थी। ऐसी अवस्था में, जिन दलों की आनेवाले आन्दोलनों में साथ देने की संभावना नहीं थी, ऐसे दलों के लोगों को अपने मन्त्रिमण्डलों में लेकर उनकी दलगत राजनीति को अवसर देने के लिए कांग्रेस के क्रान्तिकारी नेता कभी तैयार नहीं हो सकते थे। लेकिन अल्पसंख्यक मुसलमान जमात पर वे अन्याय भी नहीं करना चाहते थे, इसीलिए मन्त्रिमंडलों में एक-एक मुसलमान मंत्री भी ले लिया गया था। मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों से ही मुसलमान मंत्री ले लिया जाय, ऐसा मुस्लिम लीग का आग्रह था, जिससे कांग्रेस सहमत न थी। मुसलमानों के लिए सुरक्षित बहुसंख्यक सीटों पर मुस्लिम लीगी प्रतिनिधियों ने अनेक प्रांतों में कब्जा कर लिया था, फिर भी उनको मंत्रिमंडलों में स्थान न मिला, जिससे लीगी नेता कांग्रेस से चिढ़ गये और उसके

खिलाफ बेबुनियाद इल्जाम लगाने लगे। कांग्रेस मुसलमानों को व इस्लाम धर्म तथा संस्कृति को दबाकर हिन्दू-राज्य की प्रस्थापना करना चाहती है, ऐसा प्रचार उन्होंने शुरू किया। अंग्रेज गवर्नर चाहते थे कि सत्ता हथियाकर जिस क्रांतिकारी आंदोलन की कांग्रेस तैयारी करना चाहती है, उसमें मुसलमान न मिलें और उस वक्त अंग्रेजों का साथ दें। कांग्रेस मुस्लिम लीग के मंत्रियों को लेकर अपने हाथ कमजोर बनाती तो वे खुश हो जाते। कांग्रेस मुस्लिम लीगियों को मत्रिमंडल में न लेना उनको अखरा तो जरूर; लेकिन वैधानिक दृष्टि से बेचारे लाचार थे, कुछ नहीं कर सकते थे। अल्पसंख्यकों के हितरक्षा की जिम्मेदारी गवर्नरों पर थी और उसके लिए अपने खास अधिकारों का वे उपयोग भी कर सकते थे; लेकिन लीगी प्रतिनिधियों को मंत्रिमण्डल में लेने के लिए वे कांग्रेस को मजबूर नहीं कर सकते थे।

मुस्लिम लीगियों को मंत्रिमंडल में न लेना अल्पसंख्यकों पर जुल्म ढाना है, ऐसी बकवास कोई नहीं कर सकता था, क्योंकि अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधि के रूप में कांग्रेसी मुसलमान मंत्रिमण्डलों में थे ही। कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने अल्पसंख्यक जमातों पर कोई जुल्म किया होता तो गवर्नर अपने खास अधिकारों का जरूर प्रयोग करते, चुप न बैठे रहते। कांग्रेसी नेताओं ने यह मंजूर किया था कि अल्पसंख्यकों पर किसी तरह का जुल्म होने पर अगर मंत्रिमण्डलों के काम में गवर्नर दखल देगा तो कांग्रेस उसका प्रतिवाद नहीं करेगी। इसलिए जबतक वास्तव में अल्पसंख्यकों के साथ कोई अन्याय न होता तबतक, लीगियों के नारों के बावजूद भी गवर्नर मंत्रिमण्डलों के काम में दखल नहीं दे सकते थे। कांग्रेस ने धर्मभेदातीत राष्ट्रीय वृत्ति से व लोकतंत्रात्मक ढंग से शासन-यंत्र चलाया। इसका यह सबूत था कि लीगियों के नारों के बावजूद हिन्दुस्तान में कहीं भी गवर्नर ने कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों के कारोबार में ज़रा भी दखल न दिया। महायुद्ध शुरू होने पर अपने तत्व की रक्षा के लिए जब कांग्रेस के मंत्रिमण्डलों ने इस्तीफे दे दिये, तब मुस्लिम लीग ने मुक्ति-दिन मनाया और कांग्रेस के खिलाफ आंदोलन शुरू किया। उस वक्त कांग्रेस ने चुनौती दी कि अगर कांग्रेस के शासन के खिलाफ किसीको शिकायत हो तो ब्रिटिश गवर्नरों को चाहिए कि वह सबूत देकर उसकी ताईद करें। कांग्रेस की इस चुनौती को किसीने स्वीकार

नहीं किया। हिन्दू-राज्य की स्थापना करके इस्लामी तहज़ीब को दबाने की कोशिश करने के जो इल्जाम कांग्रेस पर लगाये गए थे वह कभी भी सिद्ध नहीं हुए।

पृथक् निर्वाचन-अधिकार मुसलमानों को मिल जाने के कारण उनको चुनाव जीतने के लिए अन्य जाति के मतदाताओं के मतों का सहानुभूति की कोई आवश्यकता ही न रही। इससे हिन्दू-मुसलमान आदि भेदों को न माननेवाले राष्ट्रीय मुसलमानों के लिए मुस्लिम निर्वाचन-क्षेत्र से चुनाव जीतना दुश्वार हो गया। साथ-ही-साथ ब्रिटिश हाकिम और सरकारी बर्ताव हमेशा राष्ट्रीय मुसलमानों के खिलाफ ही रहा। आधुनिक शिक्षा के सम्पर्क से मुसलमान अछूते रहे और धर्मनिष्ठा तथा राजनीति को एक रूप समझने की मध्ययुगीन प्रवृत्ति उनमें वैसी ही कायम रही। हिन्दू समाज में अलग-अलग जमातें होने से उसकी धर्मनिष्ठा राष्ट्रीयता के विकास में काम देने की क्षमता नहीं रखती थी। साथ-ही-साथ हिन्दू राष्ट्रीय नेताओं ने जातिधर्म-भेदातीत आधुनिक राष्ट्रीय वृत्ति अपने समाज में फैलाने की जानबूझकर काफी कोशिश की, वैसी कोशिश मुसलमान नेताओं ने नहीं की। हिन्दू समाज में जिस तरह के सुधार-आंदोलन हुए वैसे मुसलमानों में नहीं हुए। मुसलमानों में जागृति लाने का काम आमतौर पर ऐसे नेताओं ने किया, जो अपनेको अल्पसंख्यक जमात मानते थे और डरते थे कि हिन्दुओं के आक्रमण से शायद इस्लाम को हानि पहुंचे! कुछ लोग ऐसे थे जो पुरानी मुसलमानी बादशाहत की डींग हांकते थे। इसके फलस्वरूप मुसलमानों में धर्म-भेदातीत राष्ट्रीय वृत्ति न फैल सकी। पृथक्-निर्वाचन-अधिकार मिलने से यह फूट का पौधा दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ने लगा। जिन प्रांतों में मुसलमान अल्पसंख्यक थे वहां की धारासभाओं में यद्यपि मुस्लिमों के लिए सुरक्षित करीब सभी जगहों पर लीग के प्रतिनिधि चुन आते थे, फिर भी मुस्लिम लीगियों की संख्या धारासभाओं में हमेशा अल्प ही रही। सिर्फ सिन्ध और सरहद प्रांत ये ही ऐसे दो सूबे थे कि जहां मुसलमानों की संख्या अन्य जमातों से ज्यादा थी और जहां की धारासभाओं में मुसलमान प्रतिनिधि बहुमत में थे। लेकिन सरहद प्रांत के चुनावों में कांग्रेसी मुसलमान बहुसंख्या में चुनाव जीत सके थे और वहां कांग्रेस का मंत्रिमंडल

बन गया था। सिन्ध प्रांत में अल्लाबक्ष के नेतृत्व में अपने अनुकूल मंत्रि-मण्डल बनाने में कांग्रेस सफल हो गई थी। पंजाब तथा बंगाल में हिन्दू-मुसलमान प्रतिनिधियों की संख्या करीब-करीब समान थी और वहां मुसल-मान पक्षों के हाथों में सत्ता होने पर भी मुस्लिम लीग को सत्ता नहीं मिल सकी थी। इस तरह सारे देश के एक प्रांत में भी मुस्लिम लीग मंत्रिमंडल नहीं बन सका था। पृथक् निर्वाचन-अधिकार और मुसलमानों की पृथक् राष्ट्र-भावना पर ही मुस्लिम लीग का आधार था और ऐसे फिरकापरस्त राजनैतिक दल को लोकतंत्रात्मक तरीकों से किसी सूबे में अपने दल का मंत्रिमण्डल बनाना असम्भव था।

प्रांतीय स्वायत्तता के आधार पर बने मंत्रिमंडल कायम होते ही, मुसल-मान नेताओं को चाहिए था कि वे अपने फिरकापरस्त दल को तोड़कर तत्त्वनिष्ठ राजनैतिक दल को कायम करते। इसके बगैर किसी भी प्रांत में अपनी खुद की ताकत पर मंत्रिमंडल कायम करना उनके लिए असम्भव था। लेकिन यह सबक सीखने के बजाय अपनी फिरकापरस्त राजनीति को जारी रखने के लिए अंग्रेजों की सहायता से हिन्दुस्तान को दो टुकड़ों में बांटकर एक टुकड़ा मुसलमानों के लिए अलग से प्राप्त करने का मक़सद उन्होंने अपने सामने रखा।

भारत में हिन्दू तथा मुसलमान धर्मों को माननेवालों की तादाद यद्यपि ज्यादा है, फिर भी अल्पधर्मावलम्बी काफी लोग यहां बसे हुए हैं। हिन्दु-स्तान का कोई हिस्सा ऐसा नहीं है जहां केवल हिन्दुओं या केवल मुसल-मानों की बस्ती हो। इसलिए इस देश के दो विभाग किसी भी तरह से क्यों न किये जायं, दोनों विभागों में कमोबेश मात्रा में दोनों धर्म के लोग रहेंगे ही। ऐसी हालत में दोनों राज्यों के सामने अल्पसंख्यकों की सुरक्षा तथा वह (राज्य) उनको अपना मालूम हो, ऐसी परिस्थिति पैदा करने का सवाल खड़ा होने ही वाला था। इस दृष्टि से देखने पर यह बात साफ हो जाती है कि हिन्दू और मुसलमानों के अलग-अलग राष्ट्र मानने से देश की कोई भी समस्या हल नहीं हो सकती थी।

विवेकपूर्वक स्वीकृत की हुई अपनी धर्म-भेदातीत राष्ट्रीयता की भावना को आखिर तक कांग्रेस ने प्रज्वलित रखा और अंग्रेजी प्रभुत्व के स्थान पर

भारतीय जनता के प्रभुत्व को स्थापित किया। अपने इस अखिल भारतीय धर्म-भेदातीत संगठन के आधार पर भारत की विधान-परिषद को सफल बनाकर इस दल ने देश में लोकतंत्रात्मक गणराज्य की स्थापना की। मुस्लिम लीग से समझौता करने के मोह से कांग्रेस ने अपने को बचाया और भविष्य की इन गौरवशाली घटनाओं को जन्म देने की क्षमता उसने पाली। मुस्लिम लीग के अविवेकी प्रचार से अभिभूत होकर हिन्दू-राष्ट्रवाद को स्वीकार करने के मोह से भी वह अपने को बचा सकी; क्योंकि हिन्दू और मुसलमानों का अलग-अलग राष्ट्र माननेवाला सिद्धांत उसको झूठा लगता था। हिन्दू-मुसलमानादि सब धर्मों का एक राष्ट्र स्थापित करने से ही भारत का भविष्य उज्ज्वल होगा और आधुनिक सुसंस्कृत राष्ट्र के नाते वह प्रतिष्ठित हो सकेगा, यह निष्ठा आधुनिक भारत के भावी की ठोस नींव है। आज भले ही भारत और पाकिस्तान ये दो राष्ट्र इस देश में बन गये हों; लेकिन अपनी राष्ट्रीयता का यह अधिष्ठान भारत ने क़ायम रखा है। अपनी धर्म-विशिष्ट राष्ट्रीयता को आज या कल पाकिस्तान को त्यागना पड़ेगा; क्योंकि उसके बग़ैर आधुनिक संसार में सुसंस्कृत तथा पुरोगामी राष्ट्रों में उसकी गणना नहीं हो सकेगी, न वहां की मुसलमान जनता का भला होगा।

हिन्दुस्तान में अलग-अलग धर्मानुयायी व अलग-अलग भाषा-भाषी लोग सदियों से एक साथ बसे हुए हैं, जिससे धर्म-भेदातीत राजनीति भी पुराने काल से यहां चली आई है। ध्यान में रखना चाहिए कि ऐसी अनेकानेक भाषाएं बोलनेवाले तथा विभिन्न धर्म के लोगों का सैकड़ों-हजारों सालों का इतिहास घनघोर लड़ाइयों का इतिहास नहीं है, न अलग-अलग राजाओं ने एक-दूसरे के खिलाफ जो षड्यंत्र किये, उनका इतिहास है। इतिहास का इस तरह संकुचित अर्थ नहीं लेना चाहिए। सदियों से हिन्दू-मुसलमान परिवार यहां के देहातों में पड़ौसियों की तरह रहे हैं। यहां का इतिहास देहातों में फैले इन हजारों-लाखों परिवारों के दैनंदिन आपसी व्यवहारों से बना है। जब हम इस व्यापक दृष्टि से इतिहास का आकलन करेंगे तब पता चलेगा कि इस प्रचंड राष्ट्र में जो धर्म-भावना फैली है, उसको सर्व-संग्राहक तथा सर्व-सहिष्णु प्रेम-भावना का रूप मिल चुका है। इस देश में जो संत-महात्मा पैदा हुए, उन सबने धर्म की विविधता में एकत्व देखने का

संदेश अपने के चारित्र्य उज्ज्वल उदाहरण से जनता के हृदय पर अंकित कर रखा है। यहां जो धार्मिक तथा आध्यात्मिक दर्शन-निर्माण हुआ, वह सब तरह के विचार-स्वातंत्र्य को अवकाश देता है। साथ-ही-साथ शुद्ध तत्वनिष्ठा से सत्यसंशोधन करनेवालों ने जो भी तत्त्वज्ञान खोज निकाले, उनके हरेक के बारे में समुचित आदर रखकर, उसमें जो सत्यांश हो, उस को अपनाने का उपदेश वह देता है। जीवन का सत्य किसी एक वैचारिक सिद्धांत या संप्रदाय में समाया हुआ नहीं होता, यह वृत्ति यहां के निवासियों में दीर्घकालीन इतिहास से जड़ें जमा चुकी है। यही वजह है कि आधुनिक भारत में जो राष्ट्रीयत्व पैदा हुआ, वह किसी संकुचित धर्माभिमान, भाषा-भिमान या इतिहास की कल्पना पर अपना आधार नहीं रखता। विशिष्ट धर्म या विशिष्ट भाषा सबसे श्रेष्ठ और परमेश्वर को अधिक प्रिय है, या उसका स्वीकार किये बग़ैर मानव अपने जीवन को कभी सफल बना नहीं सकेगा या मुक्ति या आत्मिक शान्ति के लिए किसी विशिष्ट धर्म या भाषा का स्वीकार करना अनिवार्य है, ऐसे संकुचित धर्म-विचारों का विरोध करनेवाले अनेक संत-महात्मा इस देश में हो चुके हैं। उनके हृदय में जो विश्वात्मक प्रेम-भावना का धर्म था, उसीके आधार पर हमारे नेताओं ने आधुनिक भारत का निर्माण किया है।

सहिष्णु तथा सर्वव्यापक मानव-धर्म के या सर्व धर्म समभाव के आधार पर राज चाहनेवाले राज्यकर्ता यहां हो चुके हैं। अशोक, अकबर और शिवाजी-जैसों की राजनीति भारत की आनेवाली पीढ़ियों के लिए सदा पथ-प्रदर्शन का काम करेगी। औरंगजेब-जैसे तंगदिल धर्मनिष्ठ की राज-नीति को भारत के इतिहास की अनुकरणीय बात नहीं माना जायगा। इतिहास में भली-बुरी बातें भरी रहती हैं; लेकिन उनमें से भली बातें चुन-कर उनका अभिमान रखना और बुरी बातों को भूल जाना चाहिए। अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से अपने कर्तव्य के बारे में निर्णय करके अपनी परिस्थिति के अनुकूल और आनेवाली पीढ़ियों को प्रेरणा देनेवाला इतिहास बनाना, यही इतिहास के अध्ययन का सही उपयोग है। प्रत्येक पीढ़ी को नये इतिहास का निर्णय करना पड़ता है और बीते ज़माने के श्रेष्ठ पुरुषों के चरित्रों में से स्फूर्ति लेनी पड़ती है। जो गलतियां उनसे हुई, उनको टालकर उनके

अच्छे कामों का अनुकरण करना होता है। उनके जो ध्येय अधूरे रहे हों और उस वक्त जो ध्येय उनके दृष्टि-पथ में न आये हों, ऐसे ध्येयों को अपनाकर उन्हें साकार करने की कोशिश करनी पड़ती है। इसी दृष्टि से पुराने इतिहास की घटनाओं से सबक सीखकर आधुनिक भारत के निर्माताओं ने अपनी राष्ट्रीयता का विकास किया है।

कुछ लोग ऐसे हैं, जो एकराष्ट्रीयत्व की दृष्टि रखनेवालों के विचारों मे सहमत नहीं हैं। हिन्दू व मुसलमान ये दो अलग-अलग राष्ट्र हैं, ऐसा वे मानते हैं। इनमें से कोई एक जबतक पूरी तरह से हार नहीं जाता तबतक वह झगड़ा मिटना उनको असम्भव-सा लगता है। उन्हें अगर एक ही देश में रहना है तो एक की प्रभुता को दूसरा या तो स्वयं मान ले या उसके लिए वह मजबूर किया जाय, उसके सिवा इन दो धर्मों के लोग यहां एक-दूसरे के साथ नहीं रह सकेंगे, ऐसी द्विराष्ट्रवादियों की दृष्टि है। भेद-दृष्टि से सोचते रहने के कारण हिन्दू तथा मुसलमान धर्म की ओर समान दृष्टि से देखने की वृत्ति उनकी समझ में नहीं आती।

मुस्लिम लीग ने जब इस भेद-दृष्टि का पल्ला पकड़ा और द्विराष्ट्रवाद को स्वीकार करके कांग्रेस की नीति पर टीका करने लगी तब उसको कांग्रेस के हरेक कार्यक्रम के पीछे हिन्दुओं का वर्चस्व प्रस्थापित करने का हेतु नज़र आने लगा। ऐसी ही भेद-दृष्टि से जब हिंदू-राष्ट्रवादी कांग्रेस के राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों की ओर देखते तब कांग्रेस के हरेक कार्यक्रम में उन्हें मुसलमानों का पक्षपात दिखाई देता। राजनैतिक सत्ता के बंटवारे के लिए द्विराष्ट्रवादियों ने जो झगड़ा उठाया वह धर्म, भाषा, इतिहास, संस्कृति आदि जीवन के सभी अंगों तक फैल गया। ब्रिटिश शासन को मुस्लिम-राष्ट्रवाद के लिए जितना पक्षपात था उतना हिंदू-राष्ट्रवादियों के लिए नहीं था, जिससे हिंदू-राष्ट्रवाद ज्यादा पनपने नहीं पाया। मुस्लिम-राष्ट्रवाद अज्ञानी मुसलमान जनता में बेरोकटोक फैलता रहा। पूरे देश में अगर एक ही राज्य प्रस्थापित होता है तो उसका विधान कैसा ही क्यों न बने और प्रान्तीय राज्यों को तथा अल्पसंख्यक मुसलमानों को कितनी ही सहूलियतें और संरक्षित अधिकार क्यों न दिये जायं, फिर भी केन्द्रीय सरकार का बहुसंख्यक हिंदू समाज के प्रति उत्तरदायी होना अनि-

वार्य था, और वैसा होना मुसलमानों के लिए हानिकर है, ऐसी भावना उनमें पैदा करना और बढ़ाना आसान था। साथ ही उस समाज के धार्मिक और ऐतिहासिक अहंकार को जगाकर बढ़ावा देना और पाकिस्तान की प्रस्थापना के बगैर आराम न करने का जोश उनमें भड़काना कठिन नहीं था। भेदमूलक वृत्ति को रोकने के प्रयत्न शासकों ने कदापि नहीं किये, उलटे उसको प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन ही दिया।

१९३९ के सितम्बर मास में दूसरा महायुद्ध शुरू हुआ। लार्ड लिनलिथगो उस समय वाइसराय का पद सम्हाल रहे थे। उन्होंने किसी भारतीय नेता से या ग्यारह प्रान्तों में शासनसूत्र सम्हालनेवाले किसी मंत्रिमंडल से पूछे बग़ैर ही एलान कर दिया कि अंग्रेजों की तरफ से हिन्दुस्तान महायुद्ध में शरीक हो गया है। यह बात हिन्दुस्तान के स्वातन्त्र्य तथा स्वयंनिर्णय के अधिकारों को क्षति पहुंचानेवाली थी। कांग्रेस ने मांग की कि अंग्रेज अपने युद्ध-उद्देश्य जाहिर कर दें और अगर लोकतन्त्र तथा राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य की रक्षा करना ही उनका ध्येय हो तो हिन्दुस्तान की स्वतन्त्रता को फौरन क़बूल कर लें। अगर जंग के जारी होने के कारण नया विधान अमल में लाना असम्भव मालूम होता हो तो कम-से-कम केन्द्र में फौरन भारतीय नेताओं का मंत्रिमंडल स्थापित करके उसकी सलाह मानकर यहां का कारोबार चलाया जाय। लेकिन ब्रिटिश राजनीतिज्ञ उस समय इन मांगों को कबूल करके हिन्दुस्तान को स्वातन्त्र्य और स्वयंनिर्णय का हक देने के लिए राज़ी नहीं थे। इसलिए आठ प्रान्तों के शासनसूत्र सम्हालनेवाले कांग्रेस-मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिये। जिस युद्ध के हेतु साफ न हों ऐसे युद्ध में कांग्रेस योग नहीं देगी और जनता को चाहिए कि वह भी योग न दे, ऐसा प्रचार कांग्रेस ने शुरू किया।

कांग्रेस के बल को तोड़ने के लिए मुस्लिम लीग पर अंग्रेज अपना साया डालने लगे। मुसलमान-समाज की अनुमति के बिना कोई भी विधान हिन्दुस्तान में नहीं बनने दिया जायेगा, ऐसा उन्होंने ऐलान कर दिया और देशी नरेशों को अपने साथ रखने के लिए पुचकारने की नीति ज़ाहिरा तौर पर अख्तियार की। इससे मुस्लिम नेताओं को विश्वास हो गया कि अगर हम आपस में मिलकर लीग की तरफ से अंग्रेजों से कोई मांग करेंगे तो वह

ज़रूर मिल जायगी। इसी वजह से पंजाब के सर सिकन्दर हयातखां, बंगाल के फजलुल हक तथा आसाम के मुहम्मद सादुल्ला के नेतृत्व में वे दल, जो शासन की बागडोर सम्हाले थे, मुस्लिम लीग में शामिल हो गए। १९३० के फरवरी मास में जिन्नासाहब ने खुल्लमखुल्ला पाकिस्तान का ध्येय मंजूर कर लिया और अगले महीने में कराची में मुस्लिम लीग का जो अधिवेशन हुआ, उसने भी उसपर मुहर लगा दी। पहले पंजाब तथा बंगाल में मुस्लिम लीग पक्ष की कोई हस्ती नहीं थी; लेकिन अब वहां के मुसलमान नेता पाकिस्तान के प्रचारक बन गए। फिर भी इन दो प्रान्तों में हिन्दू तथा मुसलमानों की तादाद क़रीब-क़रीब बराबर होने के कारण वहां की धारासभाओं के सिर पाकिस्तान का ध्येय मढ़ना असम्भव हो गया।

पाकिस्तान में देश के कौन-से हिस्सों का समावेश होगा, उसकी सीमाएं कैसे तय की जायंगी, उन सीमाओं के बाहर जो हिन्दुस्तान बचेगा, वहां कितने मुसलमान रहेंगे और उनका भवितव्य क्या होगा, इसके बारे में साफ-साफ बात करने के लिए मुस्लिम लीग के नेता तैयार नहीं थे। अगर इसके बारे में वे तभी खुलासा करते तो उनको यह क़बूल करना पड़ता कि पाकिस्तान में बहुत थोड़ा भूभाग चला जायगा और उसमें जितने मुसलमान बसेंगे, करीब उतने ही मुसलमानों को बाकी हिस्से में रहना होगा। मुस्लिम जनता को यह भी मालूम होता कि पूरा पंजाब तथा पूरा बंगाल पाकिस्तान में हर्गिज़ शामिल न हो सकेगा। साथ ही पाकिस्तान एक अखंड मुल्क न बनकर उत्तर-पश्चिम कोने में और हजारों मील की दूरी पर पूरब में बँटा रहेगा। अगर इस तरह का एक पूरा चित्र लोगों के सामने रखा जाता और उसके बारे में मुसलमानों की सही राय ली जाती तो मुसलमान जनता और उसके अगुआ इसे ज़रूर ठुकरा देते। जिन्नासाहब इस बात को जानते थे और इसीलिए पाकिस्तान का पूरा ढांचा उन्होंने लोगों के सामने कभी नहीं रखा। जून, १९४७ में आज के पाकिस्तान की कल्पना को जिन्नासाहब ने मंजूर कर लिया; लेकिन उसके कुछ ही दिन पहले तक वे पूरा पंजाब, पूरा बंगाल तथा आसाम पाकिस्तान में मिलाने एवं पूर्वी पाकिस्तान को जोड़नेवाले मुल्क की भी मांग करते थे। देशी नरेशों को स्वातन्त्र्य तथा स्वयंनिर्णय के जो अधिकार अंग्रेजों ने दिये थे, उससे मुसलमान नेताओं को

अन्त तक लग रहा था कि दक्षिण का निजाम-राज्य हमेशा मुसलमानों का राज ही बना रहेगा। इस तरह अगर हिन्दुस्तान के तीन विभागों में तीन बड़े इस्लामी राज कायम हो सके और उनमें एकता कायम की जा सकी तो हिन्दुस्तान को इस्लामी सभ्यता का एक बड़ा राष्ट्र बनाया जा सकेगा, ऐसे ख्वाब मुसलमान देखा करते थे और पाकिस्तान की हिमायत करने में उन्हें गौरव मालूम होता। ये सब निरी अवास्तव कल्पनाएं हैं, इन्हें व्यवहार में उतारना बिलकुल असम्भव है, ऐसा अंग्रेज चाहते तो अधिकृत रीति से मुसलमानों को बता सकते थे। लेकिन न अंग्रेज और न मुस्लिम लीग के नेता ही ऐसा करना चाहते थे। पाकिस्तान की प्रत्यक्ष प्रस्थापना होने तक उसका पूरा ढांचा मुसलमान जनता या संसार के सामने कभी अधिकृत रूप में न रखा गया। पूरा-पूरा स्वरूप मालूम न होने के कारण पाकिस्तान के नारों के जाल में मुसलमान जनता धीरे-धीरे फंसती गई। १६४० में लार्ड लिनलिथगो ने ऐलान कर दिया कि जिससे अल्पसंख्यक सहमत न हों और जिसमें देशी नरेशों के साथ अंग्रेजों के लिए समझौतों को और उनसे प्राप्त अधिकारों को क़बूल न किया गया हो, ऐसे किसी विधान को ब्रिटेन अपनी अनुमति कभी नहीं देगा। १६४५ के प्रारम्भ में क्रिप्स-साहब स्वातन्त्र्य तथा स्वयंनिर्णय के तत्व हिन्दुस्तान में युद्ध के बाद लागू करने का वादा करनेवाली योजना लेकर भारत में आये, तबतक किसीको पता नहीं था कि पाकिस्तान के ध्येय को अंग्रेज किस बूते पर और कितनी हद तक मंजूर करेंगे।

१६४० से १६४१ के अन्त तक युद्ध-विरोधी प्रचार करने के लिए कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह का आन्दोलन चलाया, जिसमें सारे भारत से करीब पच्चीस हजार सत्याग्रही जेल में गये। इससे ब्रिटेन के दोस्तों—खासकर चीन तथा अमरीका को—पता चला कि ब्रिटिश हुकूमत को युद्ध-काल में सहयोग देने के लिए भारतीय जनता तैयार नहीं है। इधर जर्मनी की तरफ से जापान भी युद्ध में कूद पड़ा और देखते-देखते ब्रह्म देश की ओर लपका। ऐसे अवसर पर हिन्दुस्तान की वाजिब मांगों को पूरा करके जनता से सहयोग प्राप्त कर लेने की सलाह चीन तथा अमरीका ने अंग्रेजों को दी। इसी दबाव के कारण अंग्रेजों ने क्रिप्स साहब को भेजा। हिन्दुस्तान

में स्वातंत्र्य और स्वयंनिर्णय के तत्त्व किस ढंग से अंग्रेज लागू करना चाहते हैं, इसका क्रिप्स साहब के साथ भेजी योजना में स्पष्टीकरण किया गया था।

इस योजना के अनुसार भारत के हर एक प्रान्त और रियासत में स्वातंत्र्य और आत्मनिर्णय के तत्त्व लागू करने की चेष्टा की गई थी। इससे हिन्दुस्तान में अनेक संयुक्त राज्य स्थापित हो सकते थे। ब्रिटिश साम्राज्य से मिल-जुलकर रहने की आजादी भी प्रान्तों को दी गई थी। स्वयंनिर्णय के अधिकार जिस ढंग से दिये थे, इससे सम्भव था कि भारत अनेक टुकड़ों में बंट जाता। रियासतों की प्रजा को नहीं, बल्कि नरेशों को आत्मनिर्णय के हक दिये गए थे। सच कहा जाय तो यह लोकशाही एवं स्वयंनिर्णय की विडंबना-मात्र थी। ये अधिकार भी युद्ध के खत्म होने पर मिलनेवाले थे। भविष्य के इस आश्वासन पर भरोसा रखकर भारतीय जनता तथा भारत के सभी पक्ष और देशी नरेश महायुद्ध में अंग्रेजों के हाथ बटाने के लिए वाइसराय के कार्यकारी मण्डल में शामिल हों, ऐसी आशा रखी गई थी। वाइसराय के कार्यकारी मण्डल के सदस्य बननेवाले नेताओं को मंत्रिमण्डल के अधिकार और दर्जा देने के लिए भी ब्रिटिश राजनेता तैयार न थे। कांग्रेस की मांग थी कि भविष्य के आश्वासनों के साथ वाइसराय के कार्यकारी मण्डल को मंत्रिमण्डल का दर्जा फौरन दे दिया जाय। इस मांग को कबूल कर लिया होता तो शासनसूत्र अपने हाथ में लेकर युद्ध का संचालन करने की जिम्मेदारी उठाने को कांग्रेस तैयार हो जाती। अगर कांग्रेस के हाथों में सत्ता देने के लिए किसी को उज्र होता तो चाहे जिसके हाथ में सरकार सत्ता सौंप देती, उसके लिए कांग्रेस तैयार थी। उसका कहना इतना ही था कि जो मंत्रिमण्डल बनेगा, उसको जनता की प्रतिनिधि-सभा के सामने उत्तरदायी रहना होगा। यह मांग मंजूर न हुई, अतः कांग्रेस ने इस योजना को ठुकराया। अन्य पक्षों ने भी अपनी-अपनी दलीलें देकर इस योजना को अस्वीकृत किया और क्रिप्स साहब का मिशन असफल रहा।

क्रिप्स-मिशन से यह साफ हो गया कि पूर्ण स्वातन्त्र्य, स्वयं-निर्णय तथा विधान-परिषद की मांग अव्यवहार्य या अवास्तविक न थी और ब्रिटिश सरकार उसको मंजूर कर सकती थी। तब अन्य पक्षों ने भी अपनी राजनीति में इन तीनों तत्वों को सम्मिलित किया। ब्रिटेन जब अपना शासन

यहां से हटायेगा तब यहां एक ही राज्य बनाने का उसका आग्रह होगा और देश का विभाजन करनेवाली किसी भी योजना को मंजूर नहीं किया जायगा, ऐसा जिनका विश्वास था उनको क्रिप्स साहब के दौत्य से बड़ी ठेस पहुंची; क्योंकि देश के दो ही नहीं, अनेकानेक टुकड़े करने के बीज इस योजना में छिपे पड़े थे। ब्रिटिश लोग लोकतन्त्र के हामी हैं अतः उन्होंने स्वयंनिर्णय का तत्त्व स्वीकार किया; लेकिन देशी रियासतों में स्वयंनिर्णय का तत्त्व लागू करते समय यह अधिकार रियासतों की प्रजा को न देकर नरेशों को दिया गया, इससे सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। प्रान्तों को स्वयंनिर्णय का अधिकार देने का बहाना करके मुसलमानों को खुश करने की उनकी नीति थी; लेकिन कम-से-कम उसमें लोकतन्त्र का आधार मिल सकता था। देशी नरेशों के बारे में उन्होंने जो रुख रखा उसको किसी भी तरह का नैतिक बल मिलना कठिन था। क्रिप्स-मिशन से यह भी साफ हो गया कि युद्धकाल में किसी तरह का परिवर्तन करने के लिए ब्रिटेन तैयार नहीं है। वाइसराय के कार्यकारी मण्डल में सब हिन्दी सदस्य रखने के लिए वे तैयार थे, लेकिन भारतीय जनता के प्रति उत्तरदायी मंत्रिमण्डल बनाने की उनकी तैयारी नहीं थी। इसके लिए उनकी दलील यह थी कि उनकी इच्छा के बावजूद वे ऐसा नहीं कर सकते; क्योंकि मुस्लिम लीग इस बात को मंजूर नहीं करती। ब्रिटिश सरकार के रुख को देखकर अपने पक्ष को मज़बूत बनाने के लिए कांग्रेस को भी यह ज़ाहिर करना पड़ा कि यद्यपि हिन्दुस्तान को अखण्ड रखना उसका ध्येय है, फिर भी अगर देश के किसी हिस्से के लोगों ने उसमें न रहने का बहुमत से अधिकृत रूप में फैसला कर लिया तो उसको देश के साथ जुड़े रहने पर मज़बूर नहीं किया जायगा। लेकिन इसका भी कोई असर न हुआ।

क्रिप्ससाहब के साथ की समझौते की बातचीत विफल होते देख कांग्रेस ने लड़ाई छेड़ने की ठान ली। ८ अगस्त, १९४२ के दिन गांधीजी के नेतृत्व में पूर्ण स्वातन्त्र्य की प्राप्ति के लिए सत्याग्रह-संग्राम करने का प्रस्ताव कांग्रेस ने पास किया। उसी रात को सरकार ने म० गांधी प्रभृति कांग्रेस-नेताओं तथा उनके हजारों अनुयायियों को एक साथ गिरफ्तार कर लिया और आजादी के आंदोलन को कुचलने के लिए सब तरह के साधनों

से काम लेना शुरू किया। ब्रिटिशों के इस बर्बरतापूर्ण बर्ताव से सारे देश में आंदोलन की प्रचंड आग भभक उठी। चारों ओर 'अंग्रेजो, सल्तनत छोड़-कर चले जाओ' के नारे गूंजने लगे। १९४४ में बीमारी के कारण गांधीजी को रिहा किया गया। तबतक आंदोलन किसी-न-किसी रूप में चलता रहा।

गांधीजी ने कुछ तन्दुरुस्त होने के बाद स्वातन्त्र्य की गुत्थी सुलझाने के लिए ब्रिटिश सरकार तथा मुस्लिम लीग से बातचीत शुरू की। सितम्बर १९४४ में वह जिन्नासाहब से बम्बई में मिले। पन्द्रह रोज तक उनमें बात-चीत चली। जिन्नासाहब द्विराष्ट्रवाद के उसूल को गांधीजी से कबूल करवाना चाहते थे। पाकिस्तान मंजूर किये बग़ैर बातचीत चलाना जिन्ना-साहब बेकार समझते थे। गांधीजी कहते थे कि इस सिद्धान्त को क़बूल करना असम्भव है। उनका कहना था कि हिन्दुस्तान में भले ही दो राज्य बन जायं; लेकिन उनमें से हरेक राज्य में हिन्दू तथा मुसलमान दोनों जमातों के लोग रहेंगे और इसीलिए धर्मविशिष्ट राष्ट्रीयता का आग्रह रखना ग़लत है। वह यह भी कहते थे कि हिन्दुस्तान में दो राज्य क़ायम होने पर भी विदेशनीति, प्रतिरक्षा तथा यातायात के बारे में दोनों को संयुक्त नीति अख्तियार करनी होगी और दोनों राज्यों को अपने-अपने अल्पसंख्यकों के अधिकार सुरक्षित रखने के लिए उचित प्रबन्ध करना होगा। जिन्नासाहब छः प्रांतों को उनके उसी रूप में पाकिस्तान में शामिल करना चाहते थे; लेकिन गांधीजी का कहना था कि पंजाब, बंगाल तथा आसाम के सभी हिस्से पाकिस्तान में हर्गिज नहीं जायंगे। जिन विभागों को अलग करना हो, उनके सब धर्मावलम्बी निवासियों की राय लेना वह जरूरी सम-झते थे। मगर जिन्नासाहब का कहना था कि एक तो इन प्रांतों में मत-गणना का कोई कारण ही नहीं है; और अगर मतगणना करनी ही हो तो सिर्फ मुसलमानों की ही राय ली जाय। जिन्नासाहब की ये मांगें इतनी बेजा थीं कि कोई भी उन्हें मंजूर नहीं कर सकता था। गांधीजी तथा जिन्ना की भूमिका में इतना अन्तर रहते हुए किसी प्रकार के समझौते की आशा करना बेकार था। इस बातचीत से इतना फायदा जरूर हुआ कि दोनों को अपने विचार लेखबद्ध करने पड़े और पाकिस्तान की कल्पना की रूपरेखा

जिन्नासाहब के मुख से पहले-पहल लोगों को जानने को मिली।

मुस्लिम लीग पंजाब, बंगाल तथा आसाम प्रांत को पूर्ण रूप में पाकिस्तान में शामिल करना चाहती थी, उसकी इस वाहियात मांग का इस बातचीत से सबको पता चल गया। आगे चलकर जब यहां से अपना शासन हटाने का अंग्रेजों ने फैसला किया तब मुस्लिम लीग की इस अयुक्त मांग को उन्होंने नामंजूर किया और लीग को अपनी मांग छोड़नी पड़ी। अतः आधा बंगाल, आधा पंजाब तथा एक जिले को छोड़ पूरे आसाम को भारत में रखने पर उसे सहमत होना पड़ा। लेकिन ये हिस्से चले जाने से पाकिस्तान बिलकुल दुबला-पतला बन गया, ऐसा उनको मानना पड़ा और पाकिस्तान के नारों से पागल बने मुसलमानों की आंखें, देरी से क्यों न सही, खुल गई। पाकिस्तान की कल्पना के जन्म के समय अगर अंग्रेज राजनेता सीमाओं की यह नीति जाहिर कर देते तो शायद मुसलमान लोग इस ध्येय को स्वीकार न करते। न पाकिस्तान का जन्म ही हो पाता और न लाखों हिन्दू-मुसलमान अपनी धन-दौलत तथा इज़्ज़त-आबरू की लूट अपनी आंखों देखते।

१९४५ में लार्ड वेवल वाइसराय नियुक्त हुए। उन्होंने आते ही कांग्रेस-कार्यकारिणी के सदस्यों को रिहा कर दिया और कांग्रेस तथा लीग के सहयोग से अस्थायी सरकार बनाने की कोशिश की। अस्थायी सरकार को यद्यपि वाइसराय की कार्यकारिणी का पुराना नाम ही दिया जानेवाला था, फिर भी उसकी सलाह को नामंजूर करने के लिए वीटो (विशेषाधिकार) का उपयोग न करने का आश्वासन दिया गया था। तात्कालिक योजना के रूप में कांग्रेस ने इस योजना को नामंजूर कर दिया। अस्थायी सरकार में कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के सदस्य समान संख्या में लिये जानेवाले थे। कांग्रेस देश की सभी जमातों का प्रतिनिधित्व करने का दावा करती थी, इसलिए वह हिन्दू तथा मुसलमान दोनों धर्मों के मन्त्रियों को अपनी तरफ से नियुक्त करने का अधिकार चाहती थी। मुस्लिम लीग का दावा था कि वह सब मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करती है, अतः कांग्रेस की सूची में एक भी मुसलमान न हो। जिन्नासाहब के इस सुझाव को दुराग्रह कहने की हिम्मत सरकार ने न दिखाई। कांग्रेस अपनी सूची में मुलसमान प्रति-

निधि का नाम रखने का अपना अधिकार छोड़ना नही चाहती थी। इस रस्साकशी में वेवलसाहब की यह योजना असफल रही।

इसी समय केन्द्रीय धारासभा के चुनाव १९१९ के पुराने कानून के अनुसार हुए। मुसलमानों के लिए सुरक्षित सीटों में मे तीस सीटें लीगी उम्मीदवारों ने जीतीं तो बाकी सत्तावन सीटों पर कांग्रेस के उम्मीदवारों ने कब्जा कर लिया। १९४६ के आरम्भ में प्रान्तीय धारासभाओं के चुनाव हुए। सरहदी सूबे में मुसलमानों के लिए सुरक्षित सीटों में से बहुसंख्यक सीटें कांग्रेस ने जीतीं। और प्रान्तों में मुसलमानों के लिए सुरक्षित सीटों पर मुस्लिम लीग के उम्मीदवार ही आम तौर पर चुने गये; लेकिन पंजाब में मन्त्रिमंडल बनाने के लिए आवश्यक बहुमत लीग को न मिला। बंगाल तथा सिन्ध में यूरोपीय सदस्यों की मेहरबानी से मुस्लिम लीग अपने मंत्रि-मंडल बना सकी, वहां भी लीगियों का निर्विवाद बहुमत नहीं था।

चुनावों में जनता के रुख का अन्दाज़ लग गया। सिन्ध, पंजाब तथा बंगाल को छोड़कर अन्य प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत था। तब अंग्रेजों ने फिर से समझौते की बात चलानी चाही। १९४६ के मार्च में ब्रिटिश मंत्रि-मंडल के तीन सदस्य सर स्टैफर्ड क्रिप्स, लार्ड पेथिक लॉरेन्स तथा अले-क्ज़ांडर भारत आये। युद्ध के बाद इंग्लैंड में आम चुनाव हुए थे, उनमें चर्चिलसाहब के दल की करारी हार हुई और एटलीसाहब के मज़दूर-दल को बहुमत प्राप्त हो गया। वहां के समाजवादी दल को २-३ सीटें मिलने से अपनी इच्छा के अनुसार भारत की समस्या को सुलझाने की कोशिश करना आसान हो गया। तीनों मन्त्रियों ने कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग से बातचीत की और दोनों में मेल कराने की कोशिश की; लेकिन जब ऐसा मेल कराना उनको असम्भव लगा तब उन्होंने अपनी ओर से एक योजना दोनों के सामने रखी। इस योजना के मुख्य तीन भाग थे। पहले में उन्होंने पाकिस्तान की मांग को अव्यवहार्य बतलाया और कहा कि भारत का विधान ऐसा होगा कि उसमें भारत के सूबों का एक संघ होगा, जिसमें देशी रियासतें भी शरीक हो सकेंगी। इस केन्द्रीय संघ के अधिकार में तीन विषय होंगे—फौज और बचाव, विदेशों के साथ सम्बन्ध, रेल-तार-डाक इत्यादि। दूसरे भाग में विधान-परिषद की योजना थी। तीसरे में तत्काल

केन्द्रीय सरकार बनाने की बात थी। विधान-निर्माण के लिए सूबों को तीन विभागों में विभक्त किया गया था। पहले विभाग में मद्रास, बंबई, संयुक्त-प्रान्त, बिहार, मध्यप्रान्त और उड़ीसा का समावेश था। दूसरे में पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, सिन्ध तथा बिलोचिस्तान थे तथा तीसरे विभाग में बंगाल और आसाम थे। केन्द्रीय विधान-परिषद में कार्य-प्रणाली को निश्चत करने के बाद तीनों विभागों के सदस्य अलग-अलग बैठकर अपने विभागों में सम्मिलित सूबों के लिए विधान तैयार करनेवाले थे। कुछ अर्से तक कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग इस योजना से सहमत हुई-सी दिखाई दी; लेकिन इस योजना के अनुसार जो विधान-परिषद बनी, उससे मुस्लिम लीग ने असहयोग किया।

इसी बीच वेवलसाहब ने अस्थायी सरकार के लिए नाम सुझाने को पंडित नेहरू तथा जिन्नासाहब से कहा और जताया कि जो नाम एक की ओर से सुझाये जायंगे उसकी मुखालिफत दूसरा न करे। एक तरह से जिन्नासाहव को यह करारी चोट थी; क्योंकि इसका साफ अर्थ यह था कि कांग्रेस अपनी ओर से हिन्दू तथा मुसलमानों में से चाहे जो नाम अपनी तरफ से पेश कर सकती थी और उसका विरोध करने का लीग को अधिकार न था। जिन्नासाहब अपनी बात पर अड़े रहे और अस्थायी राष्ट्रीय सरकार में शामिल होना उन्होंने नामंजूर किया। लेकिन अब शाही हुकूमत का रुख बदला था। लार्ड वेवल ने लीग की परवाह न की और पंडित नेहरू द्वारा सुझाये नामों को स्वीकृति देकर अस्थायी सरकार की स्थापना की। सरकार के इस रुख से मुस्लिम लीग में क्रोध और मत्सर के भाव जागे। फिरकापरस्तों को पुचकारने की पक्षपाती नीति का वाइसराय ने त्याग किया था। अपनी नाराजगी तथा ताकत जताने के लिए, जिस दिन कांग्रेस ने केन्द्र में मन्त्रिमंडल बनाया, उसी दिन सीधी कार्रवाई के नाम पर लीग ने दंगे-फसाद करना शुरू किया। बंगाल में लीग का मन्त्रिमंडल था। उसकी निगरानी में मुसलमान गुंडे हिन्दुओं को कतल करने लगे। चारों ओर होहल्ला मच गया। गांधीजी खुद बंगाल में चले गये और वहां शान्ति स्थापित करने की कोशिश करने लगे। बंगाल के दंगे की खबरें और स्थानों पर पहुंचीं तो वहां भी यह आग भभक उठी। बदले की भावना से लोग

पागल-से होते दिखाई देने लगे।

पंडित नेहरू के नेतृत्व में जो अस्थायी सरकार काम कर रही थी वह सेना की सहायता से ये दंगे मिटाने की बात सोच रही थी; लेकिन मन्त्रि-मंडल के काम में अड़ंगा लगाने के लिए इसी समय अपना आग्रह छोड़कर लीग ने अपनी ओर से मन्त्रिमंडल के लिए पांच नाम दे दिए। सेना वेवल-साहब के मातहत थी, जिससे अस्थायी सरकार अपनी इच्छा के अनुसार सेना का उपयोग नहीं कर पाती थी। मुस्लिम लीग द्वारा किये गये इस बलवे में कुछ यूरोपीय अधिकारी तथा कुछ नरेश भी शामिल हो गये थे। बलवे का बहुत ही भयंकर परिणाम हो रहा था। इस तरह बदला लेने की प्रवृत्ति से सारा देश द्वेषाग्नि में जलकर भस्म होगा, ऐसी आशंका लोगों को हो रही थी। इसको टालने के उपायों की छानबीन होने लगी। विभा-जन को मंजूर करने से पूरी सत्ता हाथ में आने की सम्भावना थी और तभी दंगे रोके जा सकते थे। जहां मुसलमान बहुसंख्या में हों वे हिस्से भले ही अलग हो जायं लेकिन जहां उनका बहुमत न हो उन हिस्सों को बचाने की बात सोची गई। विभाजन होने पर भी पूर्वी पंजाब, पश्चिमी बंगाल तथा आसाम पाकिस्तान में न चले जायं, इसके लिए सतर्क रहने का फैसला नेताओं ने किया। साथ ही विभाजन से सहमत होने के पहले ब्रिटिश सर-कार पूरे देश से अपना शासन उठाने की तिथि बता दे, ऐसी मांग कांग्रेस ने की।

ब्रिटिश सरकार ने जून १६४२ के पहले देश से अपना शासन उठाने का निर्णय कर दिया। अपने साम्राज्य को समेटने के लिए वेवल के बदले माउंटबेटेन को हिन्दुस्तान भेजा गया। देश के विभाजन के साथ अब पंजाब तथा बंगाल के विभाजन पर भी ज़ोर दिया जाने लगा। इसपर जिन्ना-साहब ने एक वक्तव्य दिया जिसमें कहा गया था कि किसी भी हालत में मुस्लिम लीग पंजाब तथा बंगाल के विभाजन को मंजूर नहीं करेगी, क्योंकि सभ्यता की दृष्टि से पंजाब तथा बंगाल को एक ही रखना चाहिए। लेकिन उनको अपना आग्रह छोड़ना पड़ा, क्योंकि उनकी यह मांग बिलकुल ग़ैर-वाजिब थी और अंग्रेज अब उनकी ग़ैरवाजिब मांगों का पृष्ठपोषण करने के लिए पहले की तरह तैयार न थे।

माउंटबेटन ने नेताओं को सूचित कर दिया कि देश की हालत को देखते हुए १६४६ तक यहां रहना ठीक नहीं होगा, ऐसा ब्रिटिश सरकार को लगता है और अगस्त १६४७ में ही नेताओं के हवाले शासन करने के लिए ब्रिटिश सरकार राजी है। तब ३ जून १६४७ के दिन देश में भारत तथा पाकिस्तान नाम के दो राज्य प्रस्थापित करना नेताओं ने क़बूल कर लिया। आधा पंजाब, आधा बंगाल तथा आसाम को भारत में रखने पर मुस्लिम लीग को सहमत होना पड़ा। इसके बाद १५ अगस्त १६४७ के दिन हिन्दुस्तान में भारत और पाकिस्तान नाम के दो स्वतंत्र राज्य प्रस्थापित हो गये।

: १२ :

अन्तिम स्वातन्त्र्य-युद्ध

१६३७ के जुलाई मास में कांग्रेस ने प्रांतों में मन्त्रिमण्डल बनाकर वैध-मार्गी राजनीति का फिर से आरम्भ किया। १६३५ के सुधारों को ठुकराकर हिन्दुस्तान के लिए पूर्ण स्वाधीनता तथा स्वयंनिर्णय के अधिकार प्राप्त करने की उनकी प्रतिज्ञा थी। प्रांतों में मंत्रिमंडल बनाकर भविष्य में होनेवाले आंदोलन के लिए तैयारी करने का फैसला कांग्रेस ने किया तबसे देश के विविध दलों में ही नहीं, बल्कि कांग्रेस के अन्दर भी यह बहस होने लगी थी कि क्या आगे और एकाध आंदोलन करना लाज़िमी होगा, और अगर ऐसा आंदोलन करना ही पड़े तो उसका स्वरूप क्या होगा? १६२० में लोकमान्य तिलक की मृत्यु के बाद गांधीजी कांग्रेस के नेता बने। उस वक्त शांतिमय असहयोग का जो आंदोलन देश में शुरू हुआ था, वह १६२४ में स्थगित किया गया। तबसे १६३० का स्वातंत्र्य-संग्राम शुरू होने तक कांग्रेस की राजनीति की बागडोर गांधीजी ने स्वराज्य-पक्ष के पं० मोतीलाल नेहरू प्रभृति नेताओं के हवाले कर दी थी। १६३० के आंदोलन के समय फिर से उन्होंने नेतृत्व सम्हाला। १६३० का आंदोलन, उसके बाद १६३१ में गोल-मेज-परिषद के समय कांग्रेस की तरफ से ब्रिटेन से हुई बातचीत और उसके असफल होने पर १६३२-३३ में फिर से छिड़ा सत्याग्रह, ये सब बातें

गांधीजी के प्रत्यक्ष नेतृत्व में हुई थीं। १९३२ में सत्याग्रह की जो दूसरी मुहिम निकली, वह सामुदायिक रूप में चली और बाद में व्यक्तिगत सत्याग्रह के रूप में १९३४ तक ज्यों-त्यों करके चलती रही। उसके बाद गांधीजी ने यह सत्याग्रह भी मुल्तवी रखा और कांग्रेस के सूत्र सरदार पटेल, मौ० आज़ाद, बाबू राजेन्द्रप्रसाद, च० राजगोपालाचार्य जैसे पुराने तथा पं० जवाहरलाल नेहरू, बाबू सुभाषचन्द्र बोस और जयप्रकाश नारायण जैसे नये नेताओं के हवाले कर दिये और वे खुद कांग्रेस से अलग हो गये। लेकिन जब आगे स्वाधीनता-संग्राम करने की बारी आयगी तब वह उनके नेतृत्व में किया जाय ऐसी गांधीजी की हिदायत थी और उसको कांग्रेस-नेताओं ने मंजूर कर लिया था। प्रांतों में कांग्रेस के मंत्रिमंडल बनाना जब तय हुआ उन पर निगरानी रखकर उनमें मेल रखने के लिए एक पार्लमेंटरी बोर्ड नियुक्त किया गया, जिसके सरदार पटेल, बाबू राजेन्द्रप्रसाद तथा मौलाना आज़ाद सदस्य थे। कांग्रेसी मंत्रिमण्डलों का कारोबार इन तीनों की निगरानी में तथा गांधीजी की सलाह से जुलाई १९३७ से नवम्बर १९३९ तक चलता रहा। गांधीजी आज़ादी के लिए फिर से लड़ाई छेड़ेंगे या नहीं, अगर छेड़ेंगे तो उसका स्वरूप क्या होगा, इसके बारे में कांग्रेस के नेताओं में भी काफी मतभेद थे।

१९३८ में बाबू सुभाषचन्द्र बोस कांग्रेस के अध्यक्ष बने। उस समय कांग्रेस में एक पुराना और एक नया ऐसे दो दल थे। जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्रदेव तथा अच्युत पटवर्धन आदि युवक नेता कांग्रेस के अन्तर्गत समाजवादी दल की स्थापना कर चुके थे। पं० जवाहरलाल नेहरू तथा बाबू सुभाषचन्द्र बोस दोनों इस दल के सदस्य नहीं थे। उसी समय मानवेन्द्रनाथ राय रिहा हो गये थे और कांग्रेस में दाखिल हो गये थे। ये सब नेता नई पीढ़ी के, समाजवादी नीति को माननेवाले तथा क्रांतिकारी माने जाते थे। राजेन्द्रप्रसाद, मालाना आज़ाद, सरदार पटेल तथा राजाजी पुरानी पीढ़ी के नेता माने जाते थे। ये पुराने नेता गांधीजी के नेतृत्व में पूरा भरोसा रखते थे। नई पीढ़ी में से एक जवाहरलाल ही ऐसे थे जो गांधीजी के नेतृत्व में विश्वास ज़रूर रखते थे। फिर भी उनके विचार गांधीजी के कट्टर अनुयायियों को पसन्द न थे और पुरानी पीढ़ी के गांधी-

वादी कहे जानेवाले नेता उनको समाजवादी नेता के तौर पर ही पहचानते थे। समाजवादी पक्ष की नीति उस वक्त स्थिर नहीं हो पाई थी, फिर भी अगर गांधीजी आगे देश में स्वातंत्र्य के लिए लड़ाई छेड़ दें तो उसमें वे शामिल होना चाहते थे और गांधीजी ऐसी लड़ाई जल्दी ही छेड़ दें इसलिए कांग्रेस पर दबाव डालने की उनकी नीति रही। गांधीजी के नेतृत्व से उन्हें कोई विरोध नहीं था। इतना ही नहीं, बल्कि गांधीजी के सहयोग के बिना दूसरा कोई निकट भविष्य में ऐसा आंदोलन नहीं छेड़ सकेगा, ऐसी सामान्यतः उनकी निष्ठा थी। इसलिए गांधीजी के अन्तिम नेतृत्व के खिलाफ वह नहीं थे, हालांकि उनके विचारों से वह सहमत नहीं थे। अहिंसा का क्रांतिकारी स्वरूप उस वक्त उनकी समझ में नहीं आता था। फिर भी उस हालत में कांग्रेस के लिए गांधीजी का नेतृत्व वह ज़रूरी और उपयुक्त मानते थे। उनका रुख ऐसा होने पर भी कांग्रेस में जो पुराने गांधीवादी नेता थे उनकी नीति के वह खिलाफ थे और उनको आशा नहीं थी कि ये पुराने गांधीवादी नेता स्वातंत्र्य के लिए कोई लड़ाई छेड़ेंगे! धीरे-धीरे कांग्रेस की राजनीति क्रांति-पराङ्मुख होती जा रही है और उसमें सत्तावादी नीति का प्रवेश होने से वह शुद्ध वैधमार्गी काम करनेवाली एक संस्था बन गई है, ऐसा उनका कहना था।

अलग-अलग प्रान्तों में जो मन्त्रिमण्डल थे उनके कारोबार की नुक्ताचीनी करना और जनता के अनुभव संगठित करना ये समाजवादी नेता वाजिब समझते थे। कांग्रेस के पुराने नेता, नई पीढ़ी के समाजवादी विचारों को तथा प्रतिकारवादी नीति को ग़लत समझते थे, जिससे नये-पुराने का एक अन्दरूनी झगड़ा इस वक्त कांग्रेस में चल रहा था। दोनों गांधीजी के अन्तिम नेतृत्व के बारे में एकमत थे और गांधीजी भी दोनों को अपनी राजनीति के लिए उपयुक्त समझते थे। नई पीढ़ी के दबाव के कारण अपनी इच्छा के खिलाफ जल्दी में अधिकारों को त्यागकर प्रत्यक्ष प्रतिकार का आन्दोलन उठाने की इच्छा नहीं थी। पुराने नेताओं को नई पीढ़ी के नेता अपने मार्ग के रोड़े मालूम होते थे; लेकिन गांधीजी को वैसा नहीं लगता था। समाजवादी युवक नेताओं को, अपने उद्देश्यों के प्रचार करने के लिए उन्होंने कभी रोका नहीं, न अनुशासन के नाम पर उन्हें कांग्रेस से अलग

करने की प्रतिगामी नीति अख्तियार की। कांग्रेस का कार्य और उसकी शक्ति बढ़ाने के लिए इन नये नेताओं की आवश्यकता है, ऐसा वह हमेशा महसूस करते थे। यही उनकी क्रान्तिकारी प्रवृत्ति की विशेषता और श्रेष्ठता थी। देश की परिस्थिति को देखकर कभी वह वैधमार्गी नरम वृत्ति को स्वीकार करते तो कभी क्रान्तिकारी परिस्थिति के पैदा होने पर उग्र क्रान्तिवादी नीति को स्वीकार करते। दोनों नीतियों को तथा दोनों पीढ़ी के नेताओं को वह समान रूप से देश के लिए उपयोगी मानते थे; क्योंकि उनको लगता था कि आज प्रान्तों में शासन-सूत्र सम्हालनेवाली कांग्रेस को कल सम्पूर्ण स्वाधीनता की सत्याग्रही क्रान्ति के लिए समर्थ बनना पड़ेगा। अपनी इस दूरदर्शी, सावधानीपूर्ण, लेकिन क्रान्तिकारी वृत्ति के कारण अपने जीते-जी उन्होंने नई तथा पुरानी दोनों पीढ़ियों के किसी नेता को कांग्रेस से अलग होने नहीं दिया और दोनों के सहयोग से स्वातन्त्र्य प्राप्त कर लिया।

कांग्रेस के अन्तर्गत अलग से कोई दल संगठित करने के विरुद्ध आरम्भ में भाई मानवेन्द्रनाथ राय के अनुयायी थे; लेकिन कुछ ही दिनों में उनको गांधीजी की नीति में और उनकी अपनी नीति में सैद्धान्तिक मतभेद नज़र आने लगा। कांग्रेस के नेतृत्व को बदलकर गांधीवादियों के हाथ से वह छीन लेना चाहिए, ऐसा रायसाहब के अनुयायी मानते थे। दूसरा महायुद्ध शुरू होने पर उन्होंने देखा कि कांग्रेस की नीति से उनकी नीति मेल नहीं खाती और तब कांग्रेस से अलग होने का फैसला उन्होंने किया। युद्ध के ज़माने में अंग्रेजों को पूरा सहयोग देने के वे पक्षपाती थे।

बाबू सुभाषचन्द्र बोस की नीति इससे अलग थी। जब युद्ध छिड़ने की सम्भावना उन्होंने देखी तब उन्हें लगा कि कांग्रेस की तरफ से अंग्रेजों से मांग की जाय कि छः महीने या एक साल में वे भारत को स्वाधीन करें। अगर इस अर्से के खतम होने के पहले अंग्रेजों ने मांग पूरी न की तो असहयोग तथा प्रत्यक्ष प्रतिकार का आन्दोलन कांग्रेस छेड़ दे और देश में प्रतिस्पर्धी राज्य-तन्त्र कायम करके हम आजाद बन जायं। इस तरह की लड़ाई की, यद्यपि गांधीजी आवश्यकता मानते थे फिर भी उनका ख्याल था कि उसके लिए अनुकूल समय अभी नहीं आया है और अगर बेवक्त आन्दोलन शुरू हो गया तो उसको शान्ति से चलाना मुश्किल होगा। कांग्रेस के बहुतेरे नेता

गांधीजी के नेतृत्व को मानते थे और प्रत्यक्ष प्रतिकार का आन्दोलन उन्हीं के नेतृत्व में चले, ऐसा चाहते थे। सुभाषबाबू की नीति से वे सहमत न थे। अपनी अध्यक्ष-पद की मुद्दत पूरी होने के बाद १६३६ में सुभाषबाबू अन्य नेताओं की सलाह को ठुकराकर फिर से अध्यक्षीय पद के चुनाव के लिए खड़े हो गये। उसके खिलाफ पुराने नेताओं की तरफ से डॉ० पट्टाभी खड़े रहे। डॉ० पट्टाभी की उम्मीदवारी का गांधीजी ने समर्थन किया और सुभाष-बाबू का विरोध। फिर भी सुभाषबाबू ही चुने गये। कांग्रेस में एक तरह की उलझन पैदा हो गई। सुभाषबाबू यद्यपि कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये थे, फिर भी अ० भा० कांग्रेस-समिति में उनका बहुमत नहीं था, जिससे पुराने पक्ष के सहयोग के बिना वह कारोबार नहीं चला सकते थे। पुराने नेता चाहते थे कि कार्यकारिणी में उनका बहुमत हो तभी वे उसमें शामिल होंगे। सुभाषबाबू को आज़ादी थी कि वह बिलकुल नई कार्यकारिणी बनाते। लेकिन उनके लिए इस असहयोग के कारण कार्यकारिणी बनाना असम्भव हुआ और उन्होंने अध्यक्ष-पद से इस्तीफा दे दिया। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद तब कांग्रेस के अध्यक्ष बने। सुभाषबाबू ने कांग्रेस के अन्दर फारवर्ड ब्लाक की स्थापना की; लेकिन उस समय समाजवादी दल ने उनके नेतृत्व को स्वीकार नहीं किया। इस तरह कांग्रेस के अन्दर दो गिरोह क़ायम हुए। महा-युद्ध के बाद थोड़े ही दिनों में सुभाषबाबू देश से बाहर निकल गये और जब जापान ने युद्ध में प्रवेश किया तब पूर्वी एशिया में उन्होंने आज़ाद हिन्द की एक अस्थायी सरकार बनाई। उसके मातहत लाखों की आज़ाद हिन्द फौज खड़ी की और अंग्रेजों से युद्ध छेड़ दिया।

भाई मानवेन्द्रनाथ की बिला शर्त सहयोग की नीति से या सुभाषबाबू की सशस्त्र युद्ध-नीति से देश को स्वतन्त्रता प्राप्त होगी, इसमें जनता तथा राष्ट्रीय नेताओं को शंका थी। पहले युद्ध में बिला शर्त सहयोग देने पर भी अंग्रेजों से कुछ लाभ नहीं हुआ था जिससे ऐसा सहयोग देना लोगों को पसन्द न था। फिर भी अगर ऐसे ऐन मौके पर सम्पूर्ण स्वाधीनता की शर्त पर कांग्रेस सहयोग देना चाहे तो सम्भव था कि ब्रिटिश सरकार से समझौता हो जाता। कुछ कांग्रेस-नेताओं को लगता था कि महायुद्ध शुरू होने पर ब्रिटिश हुकूमत से असहयोग करके आठ प्रान्तों के शासन-सूत्र छोड़कर जेल

का रास्ता पकड़ना एक तरह का साहस ही है और उसकी सफलता के बारे में सत्तावादी गिरोह को बड़ी शंका थी। युद्धकाल में अपने हाथ से सत्ता छोड़कर असहयोग का आन्दोलन उठाने में धोखा जरूर था; लेकिन साथ ही अगर उस वक्त कांग्रेस अंग्रेजों को बिला शर्त सहयोग देती और स्वातन्त्र्य का किसी तरह का आश्वासन मिले बग़ैर उनकी ओर से लड़ने के लिए लोगों को आवाहन करती तो उसमें नाकामयाबी होने की सम्भावना थी। देश के बाहर तथा अन्दर जो क्रान्तिकारी शक्तियां देश की आज़ादी के लिए प्रयत्नशील थीं, ऐसे मौके का लाभ उठाकर वे जरूर सशस्त्र विद्रोह करतीं। कांग्रेस के बिलाशर्त सहयोग करने का अर्थ होता अपनी आज़ादी का दावा छोड़ देना। लेकिन ऐसे सहयोग से क्रान्तिकारियों को कुचलने में उसको अंग्रेजों का हाथ बंटाना पड़ता। ऐसी परिस्थिति में कांग्रेस के लिए अपनी नीति निश्चित करना बड़ा कठिन था।

३ सितम्बर १९३९ के दिन बग़ैर किसीसे सलाह-मशविरा किये वाइसराय ने अपने अख्तियार से, हिन्दुस्तान अंग्रेजों की तरफ से युद्ध में शामिल हो गया है, ऐसा ऐलान कर दिया। जनता बड़ी उत्कंठा से देख रही थी कि कांग्रेस के नेता अब क्या मार्ग-दर्शन करते हैं? कांग्रेस के सब नेताओं ने मिलकर गांधीजी के साथ विचार-विमर्श किया और महायुद्ध तथा स्वातन्त्र्य के बारे में अपना रुख एक घोषणापत्र के द्वारा १४ सितम्बर १९३९ के दिन जाहिर कर दिया।

महायुद्ध एक क्रांतिकारी घटना थी। उसकी ओर केवल अपने देश के स्वार्थ की दृष्टि से देखना उचित न होता। ब्रिटिशों ने इस युद्ध के बारे में अपने विचार संसार के सामने रखे थे। उनका कहना था कि जर्मनी के खिलाफ वे इसलिए लड़ रहे थे कि लोकशाही जीवित रह सके और सब देश बच जायं। इस काम में संसार के अन्य देशों से वे सहायता भी चाहते थे। उस समय कांग्रेस चाहती तो कह सकती थी कि हमें पहले स्वातन्त्र्य दे दो, तब हम जर्मनी के खिलाफ लड़ने के लिए तैयार हो जायंगे। लेकिन इस तरह अपनी स्वाधीनता का सौदा करना महात्मा गांधी तथा पंडित जवाहरलाल को उचित नहीं मालूम हुआ। देश की स्वाधीनता का ख्याल करके अगर हम किसी भी देश की मदद करने को तैयार होते तो शायद हमारे

राष्ट्र का स्वार्थ सिद्ध हो जाता। लेकिन मानव-संस्कृति की दृष्टि से वह अनुचित होता और हमारी संस्कृति से भी उसका मेल न बैठता। ब्रिटेन या जर्मनी हमें स्वाधीनता देता है, इसलिए उसकी ओर से युद्ध में शामिल होना हमारे देश के लिए शोभा न देता। महायुद्ध में ब्रिटिशों को सहायता देने-न-देने के बारे में फैसला करने के पहले कांग्रेस ने यह उचित माना कि युद्ध में ब्रिटेन किस हेतु भाग ले रहा है यह स्पष्ट कर दिया जाय। इस दृष्टि से घोषणापत्र के आरम्भ में यह मांग की गई थी कि अंग्रेज अधिकृत और निःसंदिग्ध रूप में अपने युद्ध-हेतु ज़ाहिर कर दें। लोकशाही तथा स्वाधीनता की रक्षा करना ही इस युद्ध का प्रधान हेतु हो तो नात्सीवाद व फासिज़्म इन तत्वों के लिए जितना खतरनाक है उतना ही साम्राज्यवाद भी खतरनाक है और उसको मिटाना भी युद्ध का हेतु बनाना चाहिए; क्योंकि आखिर फासिज़्म का जन्म भी साम्राज्यवाद के पेट से ही होता है। अगर साम्राज्यशाही का नाश करना मंजूर न हो तो इसका अर्थ होता है, युद्ध फासिज़्म से लोकतन्त्र या स्वाधीनता की रक्षा के लिए नहीं, बल्कि साम्राज्य की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा है, और ऐसे युद्ध से किसी भी गुलाम देश को कोई वास्ता नहीं हो सकता। इस घोषणापत्र में आगे यह भी बताया गया था कि अगर फासिज़्म और साम्राज्यवाद दोनों का अन्त करना इस युद्ध का उद्देश्य हो तो ब्रिटेन को चाहिए कि वह हिन्दुस्तान का स्वातन्त्र्य तथा स्वयंनिर्णय का हक मंजूर करले और वैसा ऐलान कर दे। साथ ही लोकशाही तथा साम्राज्यशाही के बारे में ब्रिटेन अपनी नीति ज़ाहिर कर दे और लोकशाही के तत्व हिन्दुस्तान में किस तरह लागू करने का उसका इरादा है, यह साफ बता दे।

घोषणापत्र में तीसरी बात यह कही गई थी कि भविष्य में लोकशाही की संस्थापना तथा साम्राज्यशाही का अन्त करने की हामी भरने से काम पूरा नहीं होगा। इन तत्वों को असली रूप देने के लिए युद्धकाल में ही यहां की हुकूमत में सरकार कौन-से परिवर्तन करनेवाली है वह भी ज़ाहिर करने की कांग्रेस की मांग थी। इसका साफ अर्थ यही था कि हिन्दुस्तान को स्वाधीन देशों का दर्जा फौरन ही दे दिया जाय। जिससे जनता को मालूम होगा कि युद्ध में जो वह सहायता दे रही है, दूसरे को नहीं, बल्कि अपने देश

की सरकार को ही दे रही है ।

कांग्रेस का यह घोषणापत्र भारत के नहीं, सारे संसार के इतिहास मे एक खास स्थान रखता है। पहले युद्ध के वक्त रूस में जो बाल्शेविक क्रांति हुई उससे संसार की राजनीति को एक नई दिशा मिल गई थी, उसी तरह दूसरे महायुद्ध के वक्त कांग्रेस ने इस घोषणा-पत्र के द्वारा साम्राज्यशाही के विरोध का जो नया रुख ज़ाहिर किया, इससे संसार की राजनीति को फिर से एक नया रुझान मिल गया। यद्यपि इस घोषणापत्र से गांधीजी पूरी तरह सहमत नहीं थे, फिर भी उसमें जितनी अहिंसक भूमिका स्वीकृत हुई है, उससे आगे बढ़ने की ताक़त देश में नहीं है, ऐसा मानकर गांधीजी ने उससे अपनी सहमति प्रकट की। उनकी निजी भूमिका इससे अधिक ऊंचे स्तर की व उसकी अहिंसा-निष्ठा से अधिक मेल खानेवाली थी। गांधीजी मानते थे कि किसी भी युद्ध से संसार का कोई हित नहीं हो सकता। अतः अपने देश की हिफाजत के लिए भी शस्त्र-बल का उपयोग न करके केवल सत्याग्रह के बल पर अपने देश को बचानेवालों का एक संगठन बनाया जाय। वे चाहते थे कि हो सके तो कांग्रेस भी युद्ध-संन्यास की यही नीति अख्तियार करे। इस नीति को मानने पर भी संसार में जो दो गिरोह एक-दूसरे से लड़ें, उनमें से जिस गिरोह की तरफ न्याय हो, उसकी हिमायत में अपना नैतिक बल लगाये।

कांग्रेस के घोषणापत्र की एक भी बात को ब्रिटेन ने क़बूल नहीं किया। तब कांग्रेस ने आठ प्रान्तों के अपने मन्त्रिमण्डलों के इस्तीफे पेश कर दिये। आठों प्रान्तों की धारासभाएं कांग्रेस के घोषणापत्र से सहमत थीं। जबतक इस घोषणापत्र की बातों को सरकार नहीं मान लेती तबतक शासन चलाने में कांग्रेस सहयोग नहीं देगी, ऐसा उसने तय कर लिया; क्योंकि कांग्रेस के घोषणापत्र को न मानने का साफ अर्थ यही था कि युद्ध साम्राज्य की रक्षा के लिए किया जा रहा है न कि लोकशाही की रक्षा के लिए। कांग्रेस के बाद यहां के अन्य राजनीतिज्ञ मन्त्री बनने के लिए लालायित थे; लेकिन जनता की हिमायत न होने के कारण कारोबार चलाना इनके लिए मुश्किल होगा, यह देखकर आठों प्रान्तों का कारोबार गवर्नरों ने खुद सम्हाल लिया। कांग्रेस-मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र से महायुद्ध का असली रूप प्रकट हो गया।

कांग्रेसी नेताओं ने देश को यह सन्देश दिया कि अपनी स्वाधीनता के लिए अनत्याचारी मार्ग से झगड़ते रहना गुलाम देशों का पहला कर्तव्य है। इस कर्तव्य की पूर्ति करने से ही लोकशाही तथा स्वयंनिर्णय के तत्वों को पृष्ठ-पोषण मिल सकेगा और मानव-संस्कृति को परिपुष्ट बनाने का कर्तव्य पूरा हो सकेगा।

इसके बाद कांग्रेस के झण्डे के नीचे इकट्ठे होकर स्वातन्त्र्य-सैनिक अपने नेताओं से पूछने लगे कि सविनय कानून-भंग आन्दोलन कब शुरू होगा ? गांधीजी ने देश को संयम तथा अनुशासन से बर्ताव करने एवं जल्द-बाज़ी न करने का आदेश दिया। अपने हाथ की सत्ता छोड़कर युद्ध से असहयोग करके ब्रिटिश सत्ता को चुनौती देनेवाली और खुल्लमखुल्ला बग़ावत करनेवाली यह संस्था अगर जल्दबाज़ी में अत्याचार का सहारा लेती या उसे गांधीजी-जैसी जगत्प्रसिद्ध विभूति का नेतृत्व न मिलता तो अंग्रेजों को उसे कुचलने में देरी न लगती।

हिन्द की जनता युद्ध में अंग्रेजों से सहयोग करना नहीं चाहती, यह बात आठ प्रान्तों के मन्त्रिमण्डलों के त्यागपत्र से सारे संसार पर प्रकट हो चुकी थी। लेकिन कानून-भंग का आन्दोलन शुरू करने के पहले रचनात्मक लोकसेवा के जरिये देश में शान्ति कायम करने की गांधीजी की इच्छा थी। वह चाहते थे कि कांग्रेस के सेवक गांव-गांव जाकर लोगों को अहिंसक लड़ाई का तरीका सिखा दें और लड़ाई के छिड़ने के पहले-पहले उसे शान्ति से चलाने की ताकत लोगों में पैदा हो और आवश्यक संगठन भी बन जाय। वह अच्छी तरह से जानते थे कि युद्ध में अंग्रेजों से असहयोग करने की नीति से आज या कल सत्याग्रह-आन्दोलन को छेड़ने की नौबत आने ही वाली है।

उस हालत में जनता की तरफ से होनेवाला सत्याग्रह-संग्राम गांधीजी द्वारा चलाया जाना इष्ट तथा अपरिहार्य था और जयप्रकाश-प्रभृति नेताओं ने अपने दल को यह बात समझा दी थी। १६४० में गांधीजी के नेतृत्व के बारे में अपना रुख जाहिर करनेवाला एक बयान अपने पक्ष की ओर से उन्होंने प्रकाशित किया था। इसमें वे लिखते हैं—"आज के अपने नेताओं के खिलाफ झगड़ा उठाना गलत ही नहीं बल्कि खतरनाक भी है। अगर सारे देश में आन्दोलन करना है तो उसको शुरू करने की क्षमता गांधीजी

के अलावा और किसी में नहीं है। ऐसी स्थिति में उनके नेतृत्व का विरोध करने का अर्थ होगा अपने पांव पर आप कुल्हाड़ी मारना। आन्दोलन की पूर्व तैयारी में हमें गांधीजी को पूरा सहयोग तो देना ही चाहिए; लेकिन साथ-ही उनमें पूरी निष्ठा रखना भी ज़रूरी है। अगर गांधीजी आन्दोलन न छेड़ें तो हम उनसे अलग हटेंगे और हमें अपने में वैसी सामर्थ्य प्रतीत हो तो खुद आन्दोलन की जिम्मदारी अपने ऊपर ले लेंगे।"[1]

रामगढ़ में कांग्रेस का अगला अधिवेशन होनेवाला था, लेकिन उसके पहले ही युद्ध-विरोधी भाषण करने के अभियोग में जयप्रकाशजी को गिरफ्तार कर लिया गया। अधिवेशन में रखने के लिए उन्होंने जेल से एक प्रस्ताव गांधीजी के पास भेजा। वह प्रस्ताव यद्यपि स्वीकृत नहीं हुआ तो भी गांधीजी ने अपनी टिप्पणी के साथ उसको 'हरिजन' में प्रकाशित कर दिया और उसके साथ अपनी सहमति प्रकट कर दी। कांग्रेस के अन्तर्गत, जो समाजवादी दल काम करता था, उसको तथा उसके उचित कार्यक्रम को इस तरह हमेशा ही गांधीजी का पृष्ठपोषण मिलता था।

कांग्रेस की ओर से जो स्वातन्त्र्य-संग्राम छिड़नेवाला था, उसके लिए समाजवादी दल की शक्ति का गांधीजी पूरा उपयोग करना चाहते थे। आज़ाद होने पर समाजवाद की प्रस्थापना का सवाल हिन्दुस्तान के सामने अपरिहार्य रूप में आनेवाला था। इसके लिए आगे जो आन्दोलन चलेंगे, वे भी अनत्याचारी रहें, इस कारण दूरदर्शिता से गांधीजी देश के समाजवादी दल की निष्ठा अपनी अहिंसा की तरफ खींचने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन गांधीजी की यह सूझ कि अहिंसा के जरिये समाजवाद की प्रस्थापना हो सकेगी, और हम उसे करके दिखायंगे, ऐसा विश्वास कांग्रेस में गांधी-वादी कहलानेवाले लोगों में नहीं था। रामगढ़-कांग्रेस में स्वातन्त्र्य-संग्राम शुरू करने का जो प्रस्ताव पास हुआ, उसके साथ जयप्रकाशजी के प्रस्ताव का मिलान करने से पता चलता है कि कांग्रेस में जो राष्ट्रवादी दल था, उसके और समाजवादी दल के नेताओं के विचारों में क्या और कितना भेद था। राष्ट्रवादी विचार के पुराने नेता स्वाधीनता के बाद समाजवाद की स्थापना को न तो आवश्यक मानते थे न वैसा आश्वासन जनता

[1] Towards Struggle by J. P., page 141.

को देने के लिए तैयार ही थे। इसके विपरीत समाजवादी युवक नेता चाहते थे कि लोगों को यह साफ बता दिया जाय कि कांग्रेस की स्वाधीनता की कल्पना पूंजीवादी लोकतन्त्र की न होकर समाजवादी लोकतन्त्र की है। समाजवादी दल के नेताओं की राय थी कि ऐसे आश्वासन से स्वाधीनता-संग्राम के लिए लोगों को प्रोत्साहन मिलेगा। महात्मा गांधी इन दोनों गिरोहों को एकसाथ रखनेवाली कड़ी थे। उनकी राय थी कि पहले राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य का आन्दोलन सफल हो, फिर उसको समाजवादी लोकशाही में परिवर्तित करने की कोशिश की जाय। रामगढ़-कांग्रेस में जयप्रकाशजी के प्रस्ताव को अस्वीकृत करने के लिए यद्यपि उन्होंने पुराने नेताओं को दोष नहीं दिया तो भी इस प्रस्ताव से अपनी सहमति ज़ाहिर करते हुए उन्होंने लिखा : "स्वातन्त्र्य-प्राप्ति के बाद निकटवर्ती ध्येय के रूप में समाजवादी लोकशाही को ही स्वीकार करना चाहिए। मैं खुद समाजवादी हूं; लेकिन मेरा समाजवाद मेरी अहिंसा से पैदा हुआ है।" गांधीजी की इस वृत्ति से समाजवादी दल ने भी उचित बोध लेकर स्वातंत्र्य के आन्दोलन को वर्ग-विग्रह का रूप न देने का फैसला कर लिया और उनके आश्वासन पर भरोसा रखकर राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के संग्राम में जनता का भरसक पथप्रदर्शन किया।

युद्धकार्य से असहयोग करके कानून-भंग के आन्दोलन की नीति को यद्यपि रामगढ़-कांग्रेस में मंजूर किया गया, फिर भी गांधीजी उतावली से कोई कदम उठाना नहीं चाहते थे। इस अधिवेशन के बाद कांग्रेस में जो सत्तावादी तथा वैधमार्गी राजनीति का समर्थक दल था, उसके नेताओं ने फिर से ब्रिटिशों के साथ समझौता करने की कोशिश करनी चाही। पूना में अखिल भारतीय कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। जिसमें सरकार को बताया गया कि अगर वह स्वातन्त्र्य तथा स्वयंनिर्णय के अधिकारों को तत्काल कबूल करले और अस्थायी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना कर दे तो युद्ध-कार्य में कांग्रेस सहयोग देगी। इस अधिवेशन में महात्मा गांधी उपस्थित न रहे, क्योंकि इस नीति से वह सहमत नहीं थे। थोड़े ही दिनों में सरकार ने ऐलान कर दिया कि कांग्रेस के प्रस्तावों को स्वीकार करने में वह असमर्थ है। मुस्लिम लीग को खुश करने के लिए उसीके साथ सरकार ने ज़ाहिर

कर दिया कि वह ऐसा कोई विधान मंजूर नहीं करेगी, जिससे अल्पसंख्यक असहमत हों। इसके बाद अधिकारवादी नेताओं के सामने दूसरा कोई रास्ता ही न रहा। तब अखिल भारतीय कांग्रेस-अधिवेशन करके गांधीजी को व्यक्तिगत सत्याग्रह का आन्दोलन शुरू करने का अधिकार दिया गया जो नवम्बर १९४० में शुरू हुआ।

इस सत्याग्रह-आन्दोलन का स्वरूप प्रातिनिधिक रखने का गांधीजी का विचार था। अर्थात् आम जनता को सत्याग्रह के लिए प्रवृत्त न करके ऐसे प्रतिनिधिभूत लोकनायकों को ही जनता की तरफ से सत्याग्रह करने की इजाजत दी जाय जो उससे सहमत हों। लोकमत को प्रकट करके उसकी सिद्धि के लिए जो आपदाएं झेलने के लिए लोकनेता तैयार हैं, सरकार को तथा जनता को यह बताने की दृष्टि से प्रातिनिधिक सत्याग्रह का रास्ता गांधीजी ने निकाला। वह इस सत्याग्रह के लिए व्यक्ति तथा स्थान स्वय चुनते थे। उन्होंने जाहिर कर दिया था कि इस आन्दोलन में वह खुद जेल में नहीं जाना चाहते। पहले दो सत्याग्रहियों के रूप में आचार्य विनोबा भावे और पण्डित जवाहरलाल नेहरू को नियुक्त किया गया। विनोबाजी को इस नाते चुना गया था कि वे गांधीजी की निरपेक्ष अहिंसा को जीवन-निष्ठा के रूप में स्वीकार करते थे। जिसको किसी भी हालत में युद्ध करना अमान्य है वे ऐसे सत्याग्रही-वर्ग के प्रतिनिधि थे। पण्डित जवाहरलाल इस तरह के निरपेक्ष अहिंसावादी सत्याग्रही नहीं थे। किसी भी हालत में युद्ध न करने के पक्ष में वह नहीं थे। उनका कहना इतना ही था कि युद्ध साम्राज्यशाही के लिए किया जा रहा है अतः उससे सहयोग नहीं किया जा सकता, और देश को चाहिए कि वह ऐसे युद्ध में सहयोग न दे। उनका सत्याग्रह अपने देश की स्वाधीनता और स्वयंनिर्णय के अधिकार के लिए था। कांग्रेस में बहुतेरे लोग इसी मत के थे और उनके प्रतिनिधि के रूप में पण्डित जवाहरलाल नेहरू को चुना गया था। यह व्यक्तिगत सत्याग्रह-आन्दोलन करीब एक साल चला। पच्चीस हजार सत्याग्रही जेल में चले गये और उन्होंने सारे संसार पर प्रकट कर दिया कि हिन्दुस्तान इस युद्ध में सहयोग नहीं दे रहा है।

७ दिसम्बर १९४१ के दिन जापान ने पर्लहार्बर पर धावा बोल दिया

और इंग्लैंड और अमरीका के खिलाफ युद्ध घोषित करके एशिया में ब्रिटेन, फ्रांस तथा डचों के अधिकृत मुल्कों पर चढ़ाई की। हिन्दचीन तथा स्याम को जीतकर वह सिंगापुर की तरफ बढ़ा। यह सब देखकर चीन के उस समय के राष्ट्राध्यक्ष च्यांग काई शेक को लगा कि हिन्दुस्तान का मसला हल करने में बीचबिचाव करना चाहिए। १९४२ की फरवरी में अचानक वह हिन्दुस्तान में आये। हिन्दुस्तान की स्वाधीनता का प्रश्न अंग्रेजों का घरेलू सवाल नहीं, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्व का और आक्रामक राष्ट्रों को परास्त करने के लिए अत्यन्त आवश्यक प्रश्न बन गया था, यह बात इससे स्पष्ट हो जाती है। चर्चिल साहब कहा करते थे कि हिन्दुस्तान हमारी बपौती है और हम अपनी खुशी से चाहे जैसा उसका उपयोग करेंगे। लेकिन च्यांग काई शेक के देश में आने से यह बात साफ हो गई कि संसार भारत की स्वाधीनता के सवाल को ब्रिटेन का घरेलू मामला नहीं मानता। तभी ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने हिन्दुस्तान से समझौता करने के लिए स्टेफर्ड क्रिप्स को एक योजनासहित भारत भेजा। क्रिप्ससाहब की असफलता के बाद कांग्रेसी नेताओं के सामने सवाल था कि अब क्या किया जाय? इस वक्त ब्रिटिश साम्राज्य पर पूरब तथा पश्चिम से हमले होने की सम्भावना थी। ऐसी हालत में विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा करने की क्षमता ब्रिटिश हुकूमत में नहीं दिखाई दे रही थी। चीन की इच्छा थी कि ब्रह्म देश जीतने पर अगर जापान चीन की तरफ मुड़ जाय तो भारत उसे रोक दे और इसीलिए च्यांग काई शेक ने अंग्रेजों को भारत के स्वतन्त्र करने की सलाह दी थी। लेकिन क्रिप्ससाहब की असफलता से यह प्रकट हो गया कि हिन्दुस्तान की समस्या ठीक ढंग से हल करने के लिए इंग्लैंड तैयार नहीं है। इतना ही नहीं, बल्कि क्रिप्ससाहब के लौटने पर ब्रिटिश हुकूमत ने कांग्रेस के खिलाफ एक प्रचार-आंदोलन करने की कोशिश की। उन्होंने यह कहना शुरू किया कि कांग्रेस देश में अपनी तानाशाही स्थापित करना चाहती है, अल्पसंख्यकों को सन्तुष्ट करने के लिए राजी नहीं है और इसीसे हिन्दुस्तान की समस्या हल नहीं हो पाती।

ऐसी हालत में गांधीजी ने देश में प्रचंड सत्याग्रह-आंदोलन शुरू करने की बात सोची। कांग्रेस के अन्य नेताओं से सलाह-मशविरा करके १९४२

के जुलाई मास में वर्धा में कांग्रेस-कार्यकारिणी की जो बैठक हुई उसमें गांधीजी ने सत्याग्रह शुरू करने का प्रस्ताव रखा, जो मंजूर हो गया। ८ अगस्त १९४२ के दिन अखिल भारतीय कांग्रेस महासमिति के बम्बई-अधिवेशन में अंग्रेजों के खिलाफ सत्याग्रह करने का यह क्रांतिकारी प्रस्ताव रखा गया। इस प्रस्ताव के पास हो जाने पर, ब्रिटिश सरकार आंदोलन उठाये बग़ैर स्वाधीनता की मांग पूरी करने के लिए राज़ी है या नहीं, यह आज़माने के लिए गांधीजी खुद वाइसराय के पास जानेवाले थे। प्रस्ताव में आंदोलन शुरू करने के लिए लोगों से नहीं कहा गया था, बल्कि यह अधिकार गांधीजी को दिया गया था। गांधीजी ने साफ कहा था कि अगर आंदोलन के बगैर स्वाधीनता की मांग कबूल करने के लिए ब्रिटेन राज़ी न हो तो आंदोलन के लिए लोगों को आदेश दिया जायगा। पत्रकारों के समक्ष इस आशय का एक वक्तव्य भी उन्होंने दिया था।

लेकिन प्रस्ताव पास होते ही उसी रात को सरकार ने महात्मा गांधी तथा अन्य प्रमुख नेता और स्थान-स्थान के करीब बीस हजार कांग्रेसी-कार्यकर्ताओं को एकसाथ गिरफ्तार करके बिना मुकद्दमे के जेलों में ठूंस दिया। सरकार मानती थी कि इससे जनता उलझन में पड़ जायगी और पथ-प्रदर्शन के लिए किसीके बाहर न रहने से चार-छः दिनों में जनता क्षुब्ध होगी और दमनचक्र से आंदोलन के दबाव में कामयाबी मिल जायगी। लेकिन यह अन्दाज़ ग़लत निकला। गांधीजी के नेतृत्व में लोगों को अन्याय के प्रतिकार की तालीम मिल चुकी थी। देश के कोने-कोने में कांग्रेस के सगठन का जाल फैला हुआ था। लोगों में यह भावना घर कर गई थी कि स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए सदियों में एकाध बार मिलनेवाला स्वर्ण-अवसर आज मिल रहा है। ऐसी अवस्था में सरकार ठीक तरह से न आंक सकी कि जनता में कितना क्षोभ पैदा होगा।

युद्ध के विरोध में जो व्यक्तिगत सत्याग्रह-आन्दोलन छिड़ा था, उसमें केवल चार-ही-पांच महीनों में बीस-पच्चीस हजार चुने हुए सत्याग्रहियों को सरकार ने गिरफ्तार कर लिया था। उस समय जनता पूरी तरह शांत रही। न तब बलवे हुए, न आतंक फैला। शायद इसीसे अपनी दमन-शक्ति पर शासकों को ज़रूरत से ज्यादा भरोसा रहा हो; लेकिन व्यक्गिगत

सत्याग्रह के समय गांधीजी के नेतृत्व के कारण शान्ति रही। तब वे स्वयं बाहर थे; परन्तु अब दमन का पहला हमला ही गांधीजी पर हुआ और कांग्रेस के सब प्रमुख नेता भी धर लिये गए। ऐसी स्थिति में जनता के प्रक्षोभ को दमनचक्र के बल पर रोकने की कल्पना करना शासकों में सत्ता का उन्माद नहीं तो क्या था ? लोगों के सामने आन्दोलन का कोई कार्य-क्रम नहीं रखा गया था; न कोई ऐसा कार्यक्रम बनाया ही गया था। अपने रिवाज के अनुसार गांधीजी एक बार वाइसराय से मिलनेवाले थे; किन्तु सरकार ने अचानक दमनचक्र चला दिया और लोगों को भड़काया। अपने नेताओं की गिरफ्तारी के विरोध में लोगों ने स्थान-स्थान पर जो शान्ति से जलूस निकाले, उनपर लाठी और गोलियां चलाई गईं। जनता का यह आन्दोलन करीब तीन साल तक विभिन्न रूपों में चलता रहा। अन्त में, जब कांग्रेस के नेता रिहा किये गये, देश की स्वाधीनता की दृष्टि से जब ब्रिटिश हुकूमत ने बातचीत शुरू की, और नेताओं ने आन्दोलन स्थगित करने की आज्ञा दी, तब यह आन्दोलन बन्द हुआ।

९ अगस्त १९४२ के दिन नेताओं की गिरफ्तारी के बाद अ० भा० कांग्रेस के जो सदस्य पकड़े नहीं गये थे, उनमें से कुछ सदस्यों ने एक गुप्त बैठक की और शान्तिमय क्रान्ति का एक कार्यक्रम जनता के सामने रखा और उसे देश में सर्वत्र पहुंचाने का प्रबन्ध किया। जब यह कार्यक्रम लोगों के पास पहुंचा तब स्थान-स्थान पर बड़े-बड़े जुलूस निकले; पुलिस-थानों, कचहरियों और सरकारी कोषों पर हमले होने लगे। कुछ स्थानों पर सर-कारी दफ्तरों में आग लगा दी गई, रेल की पटरियां उखाड़ी गईं और यातायात के साधनों को नष्ट करने की कोशिशें होने लगीं। २३ अगस्त के 'हरिजन' में श्री किशोरलाल मश्रूवाला का एक लेख प्रकाशित हुआ, जिसमें यातायात के साधनों की तोड़-फोड़ करना अनत्याचारा क्रान्ति का अंग हो सकने की बात थी। इस तरह यह क्रान्ति का आन्दोलन पूरे जाश के साथ सारे देश में करीब तीन मास तक चलता रहा। इसके बाद वह धीरे-धीरे मन्द पड़ने लगा। फिर भी पहली छमाही में वह काफी तीव्र रहा। किशोर-लाल भाई ने आगे चलकर अपना अभिप्राय भ्रमपूर्ण बताया और सरकार को भी वैसे ही सूचित किया।

कांग्रेसी नेताओं को जेल में ठूंसकर सरकार ने उनके खिलाफ सब जगह मिथ्या प्रचार करना आरम्भ कर दिया और उसके बारे में अपनी सफाई देने का मौका भी उन्हें नहीं दिया। इसपर अपना केस संसार के सामने रखने के लिए गांधीजी ने अनशन शुरू किया। गांधीजी की दलील थी कि सरकार ने कांग्रेस के नेताओं को आन्दोलन शुरू करने के पहले ही एकाएक गिरफ्तार कर लिया। जिससे पथ-प्रदर्शन करनेवाला कोई बाहर न रहा और जनता क्षुब्ध हो उठी। इससे जो-जो दुर्घटनाएँ हुईं, उनकी पूरी जिम्मेदारी सरकार पर ही आ जाती है। इसपर उन्होंने सरकार से माँग की कि या तो वह इस दलील का जवाब दे या कांग्रेस पर लगाये झूठे इल्ज़ाम वापस ले। उन्होंने यह भी लिख दिया कि अगर सरकार इस बात के लिए तैयार न हो तो अपनी शिकायत भगवान् के सामने रखने के लिए २१ दिन का अनशन करना आवश्यक होगा। १० फरवरी १९४३ से ३ मार्च १९४३ तक यह अनशन चला। गांधीजी पर लगाये गए कुछ बन्धन ढीले पड़ गये। नजदीकी रिश्तेदारों और मित्रों को उनसे मिलने की इजाजत मिल गई। सारे देश में गांधीजी की रिहाई की मांग की गई। वाइसराय के कार्यकारी मण्डल के तीन सदस्यों ने अपने पदों से त्यागपत्र दे दिये। तेजबहादुर सप्रू की अध्यक्षता में एक सर्वदलीय सम्मेलन हुआ, जिसमें गांधीजी को रिहा करके उनके साथ सम्माननीय समझौता करने की मांग की गई।

गांधीजी की गिरफ्तारी से उनके अनशन तक की छः महीने की अवधि को आन्दोलन का प्रथम खंड कहना चाहिए। इसके बाद आन्दोलन में नये विचार के अलग-अलग प्रवाह प्रवेश करने लगे। अनशन की अवधि में कुछ लोग गांधीजी से मिलकर आये थे। आन्दोलन के कार्यक्रम के कुछ हिस्से गांधीजी को पसन्द नहीं हैं, ऐसा कहकर वे लोग या तो आन्दोलन से अलग होने लगे, या पहले-जैसा सहयोग देना उन्होंने बन्द किया। कुछ लोगों की यह कोशिश रही कि आन्दोलन शुद्ध सत्याग्रह के रूप में चलाया जाय। अन्य लोगों का मत था कि पूरा आन्दोलन एकदम रोक लिया जाय और कांग्रेस ८ अगस्त का प्रस्ताव वापस ले ले। उन्होंने ब्रिटिश सरकार और मुस्लिम लीग से समझौता करने की कोशिश शुरू की। समझौता चाहनेवाले गिरोह के नेता राजाजी तथा भूलाभाई देसाई थे। इसके विपरीत बहुतेरे लोगों की

राय थी कि ऐसे समझौते के प्रयत्न देश के लिए खतरनाक साबित होंगे। जो भी हो, ६ अगस्त को जो क्रान्तिकार्य शुरू हो गया है उसे उसी रूप में गांधीजी तथा कांग्रेस के अन्य नेताओं के छूटने तक जारी रखना चाहिए। लेकिन उभार का पहला दौर खत्म हो गया था और विद्रोह मन्द पड़ गया था।

१६४२ के अक्तूबर मास में जयप्रकाश नारायण हजारीबाग जेल से फरार हो गये। १६४३ के आरम्भ में देश की हालत का निरीक्षण करके आन्दोलन के बारे में उन्होंने एक गुप्त पत्रक प्रसारित किया। आरम्भ में जनता ने जो प्रचंड आन्दोलन किया, उसके लिए जनता को बधाई देते हुए जयप्रकाश नारायण ने लिखा, "हमारे कुचले हुए और लम्बे अर्से तक दमन सहने वाले इस देश में ऐसी घटना पहले कभी नहीं हुई थी। ऐसी कोई बात देश में होगी, इसकी भी किसीको कल्पना न थी। गांधीजी ने खुले विद्रोह की कल्पना की थी, वह कुछ इसी तरह की थी। इसमें सन्देह नहीं कि आज विद्रोह की आग बुझती-सी दिखाई दे रही है। लेकिन मैं मानता हूं कि ये चिनगारियां फिर से धधक उठनेवाली हैं; आन्दोलन कुछ अर्से तक ही रुका रहेगा, ऐसा मैं मानता हूं और मुझे आशा है कि मेरी इस राय से आप सहमत होंगे। अगर पहला ही धावा सफल होता और उसके कारण साम्राज्य-सत्ता मिट जाती तो वह सचमुच एक आश्चर्यजनक बात होती। हमारे दुश्मन ने भी इस बात को कबूल कर लिया है कि इस विद्रोह से उनका शासन करीब-करीब तबाह हो गया था। इससे पता चलेगा कि हमारी राष्ट्रीय क्रान्ति की पहली लहर कितनी कारगर निकली। क्या यह लहर दुश्मनों के दमन-चक्र, सैन्यशक्ति, लूटपाट, सख्तियां, गुंडापन और खूनखराबी से हमेशा के लिए दब गई? नहीं! दुनिया के और देशों की क्रान्तियों का इतिहास देखिए तो पता चलेगा कि क्रान्ति का एक ही दौर नहीं होता है। वह एक सामाजिक आन्दोलन होता है और उसे अनेक अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। जब क्रान्ति आगे बढ़ती है तब उसमें ज्वार-भाटा आना स्वाभाविक ही है। हमारी क्रान्ति में अब जो भाटा आया है, वह साम्राज्यशाही आक्रामकों की वजह से नहीं आया। उसके अन्य कारण हैं: एक यह कि इसके पीछे कोई प्रभावशाली संगठन नहीं था। इस विद्रोह का पहला दौर खत्म होने पर क्या

करना है, इसके बारे में कोई कार्यक्रम लोगों के सामने नहीं रखा गया था। अपने-अपने प्रदेश से ब्रिटिश शासन को मिटाकर लोगों ने मान लिया कि काम पूरा हो गया और वे घर जा बैठे। इसमें दोष उनका नहीं, हमारा है। पहले दौर के खत्म होते ही हमें चाहिए था कि हम आगे का कार्यक्रम सामने रख देते। हमने वैसे नहीं किया, जिससे विद्रोह स्थगित-सा हो गया और आन्दोलन में भाटा आने लगा। पहले दौर के बाद लोगों को क्या कार्यक्रम देना चाहिए था, इसका जवाब क्रान्ति के स्वरूप से मिल सकता है। क्रान्ति केवल ध्वंसात्मक कार्य नहीं है वह एक बहुत बड़ी रचनात्मक घटना है। क्रान्तिकार्य को अगर कायम रहना है तो उससे जो राज्ययन्त्र तबाह हो गया उसकी स्थान-पूर्ति करनेवाली दूसरी राज्य-संस्था हमें प्रस्थापित करनी चाहिए थी। प्रचलित राज्य के टूटने पर क्रान्ति के लिए भी अगला कदम उठाने की आवश्यकता तो थी ही। विदेशी सत्ता के मिटने के बाद हमें चाहिए था कि हम अपनी सेना और पुलिस तैयार करते। अगर ऐसा हुआ होता तो क्रान्ति की लपटें और जोर से उछलतीं और रही-सही साम्राज्य-सत्ता तबाह हो जाती। देशभर में लोगों का प्रभुत्व प्रस्थापित हो जाता। इससे यह दिखाई देगा कि संगठन की कमी और राष्ट्रीय क्रान्ति के नये राज्य की प्रस्थापना के कार्यक्रम का अभाव, ये दो कारण आन्दोलन के मन्द पड़ जाने के मूल में हैं।

समझौते की कोशिश करना क्यों गलत है? इसका भी विवरण उन्होंने दिया था। जो लोग आनेवाले पांच-छः सालों में क्रान्ति उमड़ आना असम्भव मानते थे, उनकी ओर मुखातिब होकर जयप्रकाशजी ने लिखा था : "आज सारा संसार एक तूफान में फंस गया है। उसमें जिस क्रम से घटनाएं हो रही हैं, उनको देखते हुए क्रान्ति होने की सम्भावना न मानना मुझे सरासर गलत लगता है। लोगों में बड़ा भारी असन्तोष है, क्षोभ है और बदला लेने की वृत्ति है। उसको संगठित करके अनुशासनपूर्ण ढंग से क्रांति के लिए काम में लाने की जरूरत है। परिस्थिति भी हमारे लिए अनुकूल हो जाने की पूरी संभावना है। गांधीजी के अनशन करने की सम्भावना है इसलिए हमें सदा सचेत रहना चाहिए। अपने प्रण पर डटे रहना चाहिए।

सुस्ताना नहीं चाहिए और अपने प्रयत्नों में हमें ढीलापन नहीं आने देना चाहिए।"

इसी सिलसिले में अहिंसा के बारे में गांधीजी और कांग्रेस के रुख में जो अन्तर था उसको स्पष्ट करते हुए जयप्रकाशजी ने लिखा, "गांधीजी तथा अखिल भारतीय कांग्रेस-समिति और कांग्रेस-कार्यसमिति के अहिंसा के बारे में जो विचार हैं, उनमें बहुत अन्तर है। गांधीजी किसी भी हालत में अहिंसा को छोड़नेवाले नहीं हैं। यह उनकी जीवननिष्ठा का और सिद्धान्त का सवाल है। लेकिन कांग्रेस की स्थिति वैसी नहीं है। अगर यहां राष्ट्रीय सरकार स्थापित होती तो कांग्रेस हथियार उठाकर लड़ने के लिए तैयार थी, वैसा उसने कई मर्तबा जाहिर किया है। अगर जर्मनी और जापान से मुक़ाबला करते वक्त हम हथियारों से लड़ सकते हैं तो क्या वजह है कि अंग्रेजों से हम वैसे न लड़ें? मैं मानता हूं कि जिसे गाधीजी शूरवीरों की अहिंसा कहते हैं वह बड़े पैमाने पर अमल में लाई जा सकती तो हिंसा की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। लेकिन जहां ऐसी अहिंसा न हो वहां हिंसा-अहिंसा के बारे मे बाल की खाल निकालते हुए अपना डरपोकपन छिपाकर क्रान्ति को रोकने की या असफल बनाने की किसी साजिश में मैं भागी नहीं बनूंगा। हमें क्रान्ति की अन्तिम स्थिति का पूरा चित्र अपने सामने रखकर संगठन करना है, अपने लिए सेना जुटानी है, उसको तालीम देकर तैयार करना है। हम गुप्त षड्यन्त्र से आतंकवाद फैलाना नहीं चाहते, यह पूरी तरह ध्यान में रखना चाहिए। आज जनता का सार्वत्रिक बलवा हम चाहते हैं। इसलिए संगठन का तांत्रिक काम करते हुए भी हमें देहातों के किसानों में, कल-कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों में, खानों—रेल तथा अन्य स्थानों में काम करनेवाले श्रमिकों— में जागृति फैलानी है। इसके अलावा सरकारी कर्मचारी और सेना दोनों में हमें प्रचार करना चाहिए। लोगों की ताकत पर पूरा भरोसा और अपने अफसर पर पूरी निष्ठा रखकर हमें आगे बढ़ना चाहिए।"

१९४२ के अन्त में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने पूर्वी एशिया में आज़ाद हिन्द की जो अस्थायी सरकार बनाई, उसकी खबरें हिन्दुस्तान के लोगों के पास पहुंचने लगीं। इस अस्थायी सरकार की तरफ से वह रेडियो पर से हिन्द

की जनता को आज़ादी की लड़ाई के लिए उभारते रहे। जब नेताजी की अस्थायी सरकार और आजाद हिन्द सेना की खबरें देश में पहुंचीं तब देश में क्रान्ति के विचार फिर से जोर पकड़ने लगे। उधर नेताजी द्वारा प्रस्थापित आज़ाद हिन्द सरकार देश के बाहर सशस्त्र क्रान्ति के नारों से अक्तूबर १९४३ को गांधीजी की पचहत्तरवीं वर्षी मना रही थी तो इधर देश में भी निःशस्त्र क्रान्तिकारी लोगों ने सत्याग्रह के रूप में इस दिन को मनाया। उस समय नेताजी ने गांधीजी के सम्बन्ध में एक भाषण में कहा, "महात्मा गांधी ने हिन्दुस्तान की जो सेवा की है और स्वतन्त्रता के आन्दोलनों में जो महान् कार्य किया है, वह इतना महत्वपूर्ण तथा अतुलनीय है कि उनका नाम हमें राष्ट्रीय इतिहास में सुनहले अक्षरों में लिखना होगा। पहले महायुद्ध में हिन्द की जनता ने त्याग और बलिदान किये, उसके बदले में हमें रोलट कानून और जलियांवाला बाग का कत्ले-आम मिला। १९१९ की इन घटनाओं से देशवासी अवाक्-से रह गये, उनकी हलचल ही रुक गई, स्वातन्त्र्य के लिए की गई सब कोशिशें ब्रिटिशों ने अपनी सेना की सहायता से कुचल डालीं। वैधमार्गी राजनीति, ब्रिटिश वस्तुओं का बहिष्कार, सशस्त्र क्रान्ति आदि सब तरह के प्रयत्न उस समय बेकार सिद्ध हुए थे, आशा की एक भी चिनगारी नजर नहीं आ रही थी। जनता किसी नये तरीके को खोज रही थी। ऐसी हालत में गांधीजी आये और उन्होंने असहयोग सत्याग्रह या सविनय कानून-भंग का नया रास्ता लोगों के सामने रखा, मानो भगवान् ने उन्हें आज़ादी का नया रास्ता दिखाने के लिए भेजा था। देखते-देखते पूरा देश उनके झंडे के नीचे जमा हो गया। हरेक भारतीय के चेहरे पर आत्मविश्वास तथा आशा की झलक दिखने लगी। बीस साल या उससे भी अधिक समय तक गांधीजी ने लगातार आज़ादी के लिए आंदोलन चलाया है। अगर सन् १९२० में अपना नया हथियार लेकर गांधीजी मैदान में न आते तो शायद आज भी हिन्दुस्तान गुमसुम पड़ा हुआ मिलता। हिन्दी स्वातन्त्र्य के लिए उन्होंने जो काम किया, वह विशेषतापूर्ण और अतुलनीय ही माना जायगा। इससे अधिक काम करना किसी भी एक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं था।

"आजादी के लिए दो अत्यन्त ज़रूरी बातें हिन्द की जनता ने गांधीजी

से पाई हैं। पहली यह कि जनता में अब स्वाभिमान तथा आत्मविश्वास की भावना जग गई है और उसके हृदय में क्रान्ति की ज्योति प्रज्वलित हो गई है। दूसरी बात यह कि देश के कोने-कोने में फैला हुआ राष्ट्रव्यापी संगठन उन्होंने खड़ा किया है। गांधीजी ने हमें आज़ादी के सीधे रास्ते पर ला खड़ा किया है। आज उन्हें जेल के सीखचों के अन्दर ठूंस दिया गया है। गांधीजी ने जिस काम का सूत्रपात किया, उसको पूरा करने की जिम्मेदारी उन भारतीयों के कन्धों पर है जो भारत में हैं या बाहर हैं। मैं एक बात की याद दिलाना चाहता हूं। जब १९२० में नागपुर-कांग्रेस के अधिवेशन में असहयोग का कार्यक्रम उन्होंने देश के सामने रखा, तब कहा था, "अगर आज हिन्दुस्तान के पास तलवार होती तो वह जरूर खींची जाती।" और आगे चलकर उन्होंने कहा था, "आज सशस्त्र क्रान्ति का सवाल ही पैदा नहीं होता। आज सत्याग्रह या असहयोग ही उसका दूसरा पर्याय हो सकता है।" लेकिन आज यह हालत बदली है। आज हिन्द की जनता के लिए हाथ में तलवार लेना सम्भव है। हिन्दुस्तान की स्वातन्त्र्य-सेना आज बन गई है और उसकी तादाद दिन-ब-दिन बढ़ रही है, यह कहते हुए हमें खुशी और अभिमान होता है।"

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस द्वारा प्रस्थापित अस्थायी सरकार और सेना के बारे में हिन्दुस्तान के क्रान्तकारियों के जो विचार थे, उनको हम, १९४३ के अन्त में जयप्रकाशजी ने हिन्दी क्रान्तिकारियों के नाम जो बयान प्रकाशित किया, उससे जान सकते हैं, "आप जानते ही होंगे कि श्री सुभाषचन्द्र बोस ने शोनान में एक अस्थायी सरकार कायम की है। जापान की सरकार ने उसे अपनी स्वीकृति दे दी है। उन्होंने एक राष्ट्रीय सेना भी खड़ी की है और उसमें लगातार वृद्धि हो रही है। हमारी निगाह में यह एक महत्वपूर्ण घटना है। सुभाषबाबू की सरकार ने भूख से तड़पते लोगों के लिए चावल भेजने की पेशकश की थी; लेकिन उसे नामंजूर करके ब्रिटिश हुकूमत हिन्दी जनता को भूखी-प्यासी मरने दे रही है। सुभाषबाबू को 'गद्दार' कहकर पुकारना आसान है, और यह भी वे लोग कह रहे हैं जो अंग्रेजों से मिलकर देश के साथ गद्दारी कर रहे हैं। लेकिन भारत के लोग खूब जानते हैं कि सुभाषबाबू एक लगनशील देशभक्त हैं और आज़ादी की

लड़ाई में वे हरदम सबसे आगे रहते आये हैं। वे अपने देश को किसीके हाथ बेचेंगे, इस बात पर कोई विश्वास नहीं कर सकता। यह सही है कि उनको धन-माल की सहायता फासिस्ट देशों की ओर से मिल रही है; लेकिन उनकी सेना और सरकार के सभी लोग हिन्दी हैं। वे सब ब्रिटिशों की सत्ता से दुश्मनी रखते हैं और अपनी मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए ही उनके दिल तड़प रहे हैं। शोनान में प्रस्थापित अस्थायी सरकार और सेना के महत्व को मानते हुए भी मैं कहना चाहता हूं कि हमारी स्वाधीनता हमारी अपनी ताकत पर और साधनों पर ही बड़े अंश में निर्भर रहेगी। खुद बेआस और निष्क्रिय बनकर बाहर से आनेवाली सहायता के भरोसे रहना आत्मघात करने के बराबर है। बाहरी सहायता से हम आज़ाद नहीं बन सकेंगे। सुभाषबाबू की सेना कितनी ही बड़ी क्यों न हो; लेकिन हिन्दुस्तान में आकर वह हिन्दुस्तान में जमी हुई मित्र-राष्ट्रों की सेना को परास्त करेगी, ऐसा मानना चमत्कारों में विश्वास करने के बराबर होगा। मित्र-सेना को जापानी सेना ही शिकस्त दे सकती है। अगर जापान ने इस सेना को हटाया तो सुभाषबाबू के साथ किये समझौते के बावजूद भी जापानी चुपचाप हमारे हाथों में सत्ता सौंप देंगे, इसकी सम्भावना मैं नहीं देखता। अगर मित्रराष्ट्र और फासिस्ट दुश्मनों के बीच हिन्दुस्तान की भूमि पर लड़ाई छिड़ गई तो हमें सत्ता हथियाने की कोशिश करनी होगी। अगर इसके लिए हम तैयार हों तो सुभाषबाबू की सेना हमारी कुछ सहायता जरूर कर सकेगी और हिन्दुस्तान को अपने साम्राज्य में मिलाने की टोजो की कोशिशें बेकार बनाने में हमें सफलता मिल सकेगी। सुभाषबाबू हिन्दुस्तान के स्वाधीनता-संग्राम के इन दांव-पेचों को कहांतक जानते हैं, पता नहीं। इसीलिए हमें हिन्दुस्तान की भूमि में युद्ध छिड़ने पर क्या करना है, इसके बारे में सोच लेना चाहिए। ब्रिटिशों के रुख से हिन्दी मनुष्य उनसे इतनी दुश्मनी करता है कि यद्यपि वह जापान का स्वागत नहीं करेगा, फिर भी अंग्रेज-जापान के बीच के युद्ध के बारे में वह उदास रहना चाहता है। यह उदासी बड़ी खतरनाक है, उसको मिटाने की कोशिश हमें करनी चाहिए और उसके लिए रचनात्मक आन्दोलन की नीति अख्तियार करनी चाहिए। जहां युद्ध छिड़ेगा या जहां जापानी कब्जा करेंगे वहां का विदेशी नागरिक

शासन टूट जायगा। ऐसे स्थानों में हमें अपनी आज़ाद सरकार को कायम करना होगा। हिन्दी सेना की जो टुकड़ियां भाग खड़ी होंगी, उन्हें राष्ट्रीय सरकार के नाम पर उलाहना देना होगा और लोक-सेना संगठित करनी होगी। पहले हमें पूर्वी हिस्सों में ऐसी सरकार बनानी होगी और बाद में वह सारे देश में फैल जायगी।"

इस वक्त बंगाल में बड़ा भीषण अकाल पड़ा था। बंगाल से अन्य प्रान्तों में अनाज ले जाया गया था और उनकी कीमतें बेहद बढ़ गई थीं। कलकत्ता और उसके आसपास के प्रदेशों में लोग भूख से तड़पकर मर रहे थे। अनाज की इस तंगी की जड़ में सरकारी नीति और व्यापारियों की निरीह नफा-खोरी थी। जैसे-जैसे भूख से मरनेवालों की तादाद बढ़ने लगी वैसे-वैसे देश का वायुमण्डल फिर से क्रान्तिकारक प्रवृत्ति और विचारों से उत्तेजित होने लगा। सरकारी कमीशन के अनुमान से कम-से-कम पन्द्रह लाख लोग अकाल में काल-कवलित हुए होंगे। इसी अरसे में लॉर्ड लिनलिथगो वापस बुलाये गए और उनके स्थान पर लार्ड वेवल की नियुक्ति की गई। उन्होंने सेना की मदद से राहत पहुंचाना शुरू किया, जिससे धीरे-धीरे अकाल की भीषणता घट गई।

लॉर्ड वेवल ने ६ मई, १९४४ के दिन बीमारी के कारण गांधीजी को रिहा कर दिया। उसके बाद धीरे-धीरे देश का वायुमण्डल शान्त होता गया और फिर से समझौते की पालिसी ने ज़ोर पकड़ा। १९४५ के मध्य में कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति के सदस्य भी रिहा हो गये और वेवल साहब के साथ अस्थायी राष्ट्रीय सरकार और स्वाधीनता के बारे में बातचीत शुरू हो गई। जिसके फलस्वरूप २ सितम्बर, १९४६ को अस्थायी सरकार कायम हो गई। इसमें जवाहरलाल प्रभृति कांग्रेसी नेता मन्त्रियों की हैसियत से शामिल हो गये। इस तरह अलग-अलग हालतों से गुजरते हुए ब्रिटिशों से हमारा स्वाधीनता-संग्राम समझौता होकर समाप्त हुआ।

कांग्रेस ने ब्रिटिश हुकूमत से समझौता करने की जो नीति १९४५ से चलाई, वह एक तरह से अटल-सी हो गई थी। १९४२ से १९४३ तक देश की जनता और उसके नेताओं ने तरह-तरह के आन्दोलन उठाये और ब्रिटिश हुकूमत को खत्म करने की कोशिशें कीं; लेकिन एक भी प्रयत्न पूरी

तरह सफल न हो पाया। ऐसी हालत में समझौते की नीति को स्वीकार करके राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य की प्राप्ति के लिए कोशिश करने के सिवा और कोई दूसरा व्यवहार्य मार्ग उनको नहीं दीखता था। समझौते की राह पकड़ने पर लेन-देन में कुछ कमी-बेशी होना स्वाभाविक था। इसी कारण पाकिस्तान की मांग को कबूल करने की बारी आई। इस तरह अन्त में अंग्रेजों से स्वातन्त्र्य और स्वयंनिर्णय के अधिकार प्राप्त करने में गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस के नेताओं को सफलता मिली। लोगों ने, भिन्न-भिन्न दिशाओं में, तरह-तरह के साधनों से भारत की आज़ादी के लिए कोशिशें कीं, काफी लोगों ने इसमें अपनी जान की बाज़ी लगाई, सब कुछ निछावर कर दिया। इन सबकी कोशिशों के फलस्वरूप ही हमें आजादी मिली है।

यों तो किसी एक ही को स्वाधीनता-प्राप्ति का पूरा श्रेय नहीं दिया जा सकता, फिर भी प्रत्यक्षतः महात्मा गांधी तथा उनके नेतृत्व में कांग्रेस के झंडे के नीचे लड़नेवाले उनके अनुयायी तथा अप्रत्यक्ष रूप से नेताजी सुभाष द्वारा प्रस्थापित आज़ाद हिन्द सरकार की सेनाएं इसकी भागीदार बन सकती हैं।

इस क्रांति-कार्य में जब भारतीय जनता अंग्रेजों के खिलाफ बगावत का झण्डा लेकर खड़ी हुई, तब जिन्होंने अपने क्रांतिशास्त्र के सच्चे ज्ञाता होने का दावा जन्म से ही किया था, वे कम्युनिस्ट, ब्रिटिश सरकार के युद्ध-कार्य में रोड़े न अटकाने का उपदेश देते हुए आराम से बैठे रहे। यह आश्चर्य-जनक भले ही मालूम हो; पर यह होकर रहा। दूसरे महायुद्ध के आरम्भ में बोल्शेविक सरकार अपने देश को बचाने के लिए पहले हिटलर से गठ-बन्धन कर बैठी। उस समय हिन्दी कम्युनिस्टों ने कांग्रेस तथा गांधीजी को क्रांति-विरोधी कहकर अपने को सच्चा क्रांतिकारक कहा और तत्काल देश में आंदोलन शुरू करने की मांग की। बाद में जब हिटलर ने रूस पर हमला किया और रूस को ब्रिटेन से मित्रता करनी पड़ी तब ये आजन्म क्रांतिकारी एकाएक ब्रिटेन के मित्र बन गये! उनके इस बर्ताव से भारतीय जनता को यह साफ मालूम हो गया कि उनकी क्रांतिकारिता वस्तुनिष्ठ या शास्त्रीय न होकर संसार में रूस की बौद्धिक गुलामी फैलानेवाली है।

रूस ने जब अंग्रेजों से मित्रता कर ली तभी भारतीय कम्युनिस्टों को

यह नई रोशनी मिली। लेकिन 'रायवादियों' ने युद्ध के आरम्भ में ही एलान कर दिया था कि यह युद्ध साम्राज्यशाही युद्ध नहीं है। अंग्रेजों के युद्ध-प्रयत्नों से सहयोग करने की उनकी आरम्भ से ही नीति रही। इस तरह मार्क्सवाद के आधार पर देश में क्रान्ति करने की इच्छा रखनेवाले ये दो दल क्रांति के इस जमाने में जनता से दूर हट गये और स्वातंत्र्य-प्राप्ति के लिए यहां की जनता ने जो अन्तिम संग्राम किया, उससे अलग रहे।

हिन्दुस्तान में मार्क्सवाद पर आधारित एक तीसरा दल कांग्रेस-समाजवादियों का था। यह पक्ष महात्मा गांधी तथा कांग्रेस का राष्ट्रीय नेतृत्व और उसकी महत्ता को पहचानकर हिन्दुस्तान के नौजवान क्रांतिकारियों को राष्ट्रीय आंदोलन में खींच लाया। कांग्रेस की सच्ची क्रांतिकारी शक्ति उसी वक्त से इस दल में संगठित होने लगी। इस पक्ष के नेताओं की मान्यता थी कि गांधीजी के सत्याग्रही क्रांतियंत्र की महत्ता को जानकर ही भारतीय समाजवाद में सुधार करना आवश्यक है। उसी दृष्टि को लेकर आज वह दल हिन्दुस्तान में प्रजातंत्रीय समाजवाद लाने की कोशिश कर रहा है। मार्क्सवाद के आधार पर भारत में जो तीन दल पैदा हुए, उनके काम का संक्षेप में यही इतिहास है। हमारी राय में समाजवादी दल ने जिस भूमिका को स्वीकार किया है, वह हिन्दुस्तान में सामाजिक-आर्थिक क्रांति करने में उपयुक्त सिद्ध होगी।

श्री पोलक, ब्रेल्सफोर्ड तथा लॉर्ड पेथिक लॉरेन्स ने मिलकर गांधीजी की एक जीवनी लिखी है। गांधीजी की राजनीति तथा भारतीय स्वातंत्र्य के आंदोलन में उनके योग-दान का जिक्र करते हुए लॉर्ड पेथिक लॉरेन्स ने बड़े मार्के के विचार प्रकट किये हैं। वह लिखते हैं, "दो महायुद्धों के बीच के काल में हिन्द के स्वातंत्र्य-आंदोलन का नेतृत्व गांधीजी के हाथ में था। उसकी महत्ता समझने के लिए निम्नलिखित बातों की ओर ध्यान देना चाहिए। उस समय उनके सामने दो ही नहीं, तीन मार्ग थे (ऐसी हालतों में हमेशा ऐसे तीन मार्ग उपलब्ध हो सकते हैं। पहला था—ब्रिटिश जो अधिकार दें उनको कृतज्ञता से कबूल करके उनसे स्वराज्य की शिक्षा मिलने के जो भी अवसर मिलेंगे उनका पूरा-पूरा लाभ उठाना। स्वराज्य के लिए अपनी योग्यता को सिद्ध करने का यह मार्ग था। आम तौर पर अंग्रेज यही

चाहते थे कि हिन्द के लोग इसी रास्ते से चलें। भारत के अनेक लोग भी इस रास्ते को पसन्द करते थे। गांधीजी ने तीन कारणों से इस रास्ते को ठुकराया : १. ब्रिटिशों के उद्देश्य सच्चे होने के बारे में उनके दिल में दिन-ब-दिन सन्देह बढ़ रहा था। अंग्रेज यहां से अपना शासन कभी खुद उठायेंगे, इसके बारे में उन्हें शक था; २. इस रास्ते पर चलने से जिस तरह का स्वराज्य स्थापित होने की सम्भावना थी, वह ठीक नहीं लगता था। इस तरह मिलनेवाला स्वराज्य पश्चिमी ढंग का रहेगा और उसमें भारतीय जनता के विकास के लिए पूरा अवसर नहीं मिला पायेगा। उसमें नरेशों तथा पूंजीपतियों की प्रभुता रहेगी, जो कि यूरोपीय धनिकों के दबैल बने रहेंगे; ३. गांधीजी अपने देशवासियों के चरित्र को ऊपर उठाना चाहते थे। ब्रिटिश लोग उदारता से दान देंगे ऐसा मानकर लाचारी से राह देखते लोग आराम से बैठे रहें, यह अपने देश के लिए शोभा देनेवाली बात नहीं है।

"इसके विपरीत दूसरा मार्ग आतंकवादी क्रान्ति का था और इस मार्ग से चलनेवाले भी हिन्दुस्तान में थे। तोड़-फोड़ और खून-खराबी का विकृत रूप इस मार्ग को मिल गया था। गांधीजी ने आरम्भ में ही इस मार्ग को ठुकरा दिया। नैतिक दृष्टि से वह उनको बुरा मालूम होता था। अगर इस रास्ते से देश को सफलता मिली भी तो (यह भी शंकास्पद ही था) खून-खराबी के इस रास्ते पर चलने से संभव था कि हिन्दुस्तान दुश्मनों से चारों ओर घिरा हुआ रहता। इसलिए इस रास्ते को छोड़कर उन्होंने अहिंसक असहयोग का तीसरा ही रास्ता पकड़ लिया। उसका स्वरूप सरकार से असहयोग करके शासन चलाना असंभव बना देना था। यह मार्ग आयर्लैण्ड के सिनफेन दल के मार्ग से या ब्रिटेन में मताधिकारों के लिए आन्दोलन उठानेवाली स्त्रियों के मार्ग से मिलता-जुलता था। फिर भी उससे वह कुछ अंशों में भिन्न था। नमक-कानून को तोड़ना, सूत-कातना, व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप में सत्याग्रह करना, सविनय कानून-भंग आदि बातों का इसमें समावेश होता है। भारतीय जनता ने इसके बारे में अपना फैसला कर लिया है। स्वाधीनता दिलानेवाली आद्यशक्ति गांधीजी की नीति ही है। निजी रूप में मैं जनता के इस फैसले से सहमत हूं। इस रास्ते पर चलने से भारत की आत्मा जागी है। इसीसे हिन्दुस्तान पर अपनी हुकूमत चलाने की इंग्लैंड

की आसक्ति मंद पड़ गई है और इसी राह से जाने से रक्तरंजित क्रान्ति टल सकी है।"

: १३ :

सत्याग्रही क्रान्तिशास्त्र

सत्याग्रह एक राष्ट्रीय क्रान्तिशास्त्र है। उसी तरह वह एक सर्वांगीण क्रान्तिशास्त्र व समाजसंगठन-शास्त्र अथवा समाज धारणा-शास्त्र भी है। भारतीय संस्कृति का वह एक परिपक्व फल है। हिन्दुस्तान आजतक एक राष्ट्रीय क्रान्ति-कार्य में मग्न था। इस क्रान्ति का तत्कालीन ध्येय राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकशाही प्रजातन्त्र की स्थापना था। हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की लड़ाई गांधीजी के नेतृत्व से पहले ही शुरू हो चुकी थी। गांधीजी के नेतृत्व से पहले हिन्द के राष्ट्रीय नेता यह जान गये थे कि हिंदुस्तान एक गुलाम देश है और जबतक वह आज़ाद नहीं हो जाता तबतक उसके जीवन व संस्कृति का प्रश्न हल नहीं हो सकता, और यह आज़ादी उसे प्रागतिकों के कानूनी साधनों से नहीं मिल सकती। उसके लिए क्रान्ति के साधनों का अवलम्बन करना जरूरी है। १९२० से पहले ऐसी स्थिति पैदा हो चुकी थी कि जबतक स्वयंनिर्णय के सिद्धान्तानुसार पूर्ण स्वराज्य की स्थापना नहीं हो जाती तबतक यह झगड़ा किसी-न-किसी रूप में निरन्तर चलता ही रहेगा। पहले महायुद्ध में हिन्दुस्तान ने ब्रिटिश साम्राज्य को सहयोग दिया। वह सहयोग कांग्रेस की तबतक की नीति का ही फल था। उस सहयोग का फल महायुद्ध के बाद पूर्ण स्वराज्य के रूप में हिन्दुस्तान को मिलना चाहिए, ऐसी लोकमान्य तिलक प्रभृति राष्ट्रीय नेताओं की राय थी। १९१७ में भारत-मन्त्री मांटेगू साहब ने हिन्दुस्तान को किस्तों में स्वराज्य देने की जो घोषणा की उसके साथ ही कांग्रेस ने अपनी यह मांग पेश की कि भले ही हिन्दुस्तान को स्वराज्य किस्तों में मिले; लेकिन पार्लमेंट ऐसा एक ही कानून बना दे जिसके द्वारा सेना और अर्थ-सहित सारी सत्ता लोगों के हवाले कर दी जाय, और उस कानून के द्वारा एक निश्चित अवधि में हिन्दुस्तान को स्वयंनिर्णीत पूर्ण स्वराज्य मिल जाय। महायुद्ध के बाद जब मांटेगू साहब ने

इस मांग को ठुकरा दिया तबसे कांग्रेस ने सहयोग की नीति छोड़ दी।

इस तरह १९२० में कांग्रेस के इतिहास का सहयोग-खंड समाप्त हुआ और असहयोग-खंड का प्रारम्भ हुआ। १९१७ तक उसकी बागडोर प्रागतिक नेताओं के हाथ में थी। तबतक उसकी नीति शुद्ध अथवा बिलाशर्त सहयोग की थी। उसी साल उनकी बागडोर लोकमान्य तिलक के हाथ में आई। तबसे उसकी नीति प्रतियोगी सहकारिता या सशर्त सहकारिता की हो गई। जब १९२० में यह साबित हो गया कि ब्रिटिश साम्राज्य भारतीय राष्ट्रीयता के साथ सहयोग करने को तैयार नहीं है व १९१९ के जलियांवाला बाग के हत्याकाण्ड पर लीपापोती करके 'भूल जाओ और क्षमा करो' की मायावी भाषा ब्रिटिश राजनेताओं ने शुरू की तो प्रतियोगी सहकारिता की सहज परिणति असहकारिता में होना लाजिमी हो गई। इसी समय खिलाफत के मामले में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों द्वारा दिये गए धोखे से हिन्दुस्तान के मुसलमानों को भी ब्रिटिश साम्राज्यवाद की बेईमानी साफ दीखने लगी। इस वक्त हिन्दू-मुसलमानों में क्रान्तिकारी राष्ट्रीय भावना जाग्रत हुई और हिन्दू-मुसलमान मिलकर विदेशी ब्रिटिश साम्राज्यशाही से पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के लिए सत्याग्रही क्रान्तिशास्त्र का अवलम्बन लेकर लड़ने लगे। १९२० से १९२२ तक यही स्थिति रही।

इसके बाद इस क्रान्ति की जो प्रतिक्रिया हुई, उससे हिन्दू-मुसलमानों की एकता मिट गई। फिर भी कांग्रेस ने सत्याग्रह की जो लड़ाइयां लड़ीं उनमें मुसलमान जनता बहुत बड़ी संख्या में शामिल रही। खासकर उत्तर पश्चिम का मुस्लिम प्रान्त और उसके खानबन्धु अबतक कांग्रेस के साथ पूरी लग्न से काम करते रहे।

हिन्दुस्तान में लगभग तीस साल (१९१७ से १९४७) तक के सत्याग्रह-संग्राम के फलस्वरूप एक अभिनव मानव-संस्कृति का उदय हो रहा है। इतना ही नहीं, बल्कि उस संस्कृति की प्रगति का एक अभिनव क्रान्तिशास्त्र भी बन रहा है। आजतक एक खास किस्म की लड़ाई द्वारा इस सत्याग्रही क्रान्तिशास्त्र की वृद्धि हुई और उसका एक विशेष पहलू ही लोगों के सामने आ सका। लेकिन उसीको अन्तिम या स्थायी स्वरूप मानना ठीक न होगा। उसी तरह यह मान लेना भी ठीक न होगा कि उस खास आन्दोलन में सफल

होकर राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य तथा लोकतन्त्र की स्थापना करने से उसका काम पूरा हो गया। विचारशील मनुष्य तो कहेगा कि हिन्दुस्तान में राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य तथा लोकतन्त्र की स्थापना होने के बाद ही उसके मुख्य कार्य की—अर्थात् मानव-संस्कृति में एक अभिनव क्रान्ति लाकर उसको मंगल रूप देने के कार्य की—अब शुरुआत होगी। सत्याग्रह की दीक्षा देने से राष्ट्रीय मानव तथा प्रजातन्त्र का जो रूप बनेगा वह वर्तमान यूरोप से बिलकुल भिन्न होगा। इसीसे हमारे लिए संसार के इतिहास में खास स्थान है और विश्वास है कि हमारे इतिहास से संसार कुछ पाठ जरूर पढ़ सकेगा। भारतीय स्वातन्त्र्य का सत्याग्रह-संग्राम आधुनिक भारत के गत सौ वर्षों के इतिहास का एक परिपक्व फल है या इस अर्से में भारतीय संस्कृति का जो तत्वमंथन हुआ उससे प्राप्त अमृत है। इस अमृत तत्व-ज्ञान का प्राशन करने से मानव-संस्कृति सचमुच अमर बनेगी और इस अमर भूमि का नाम सार्थक होगा। इतना जरूर है कि इस तत्वज्ञान को स्वीकार करने का अधिकार अपने आचरण से सिद्ध करके दिखाने की जिम्मेदारी आज के तरुण भारत पर है। राष्ट्रीय क्रान्तिकार्य सफल हो जाने से अब भरतखण्ड को इस आधार पर एक सर्वांगीण क्रान्ति करना लाजिमी हो गया है। इससे मानव-संस्कृति का एक नया आदर्श संसार के सामने आने लगेगा।

सत्याग्रह-दर्शन को स्वीकार करने से पहले हिन्दुस्तान में दो प्रमुख राष्ट्र-निर्माणकारी सम्प्रदाय मौजूद थे। उनको प्रागतिक और राष्ट्रीय ये नाम मिल गये थे। इनके अलावा एक सशस्त्र क्रान्तिकारक सम्प्रदाय भी था। यद्यपि महात्मा गांधी का सत्याग्रह सम्प्रदाय इन तीनों सम्प्रदायों से सैद्धान्तिक दृष्टि से भिन्न था, फिर भी इनके श्रेष्ठ तत्व उसमें आ गये हैं। हमारी राय में लोकमान्य तिलक प्रभृति राष्ट्रीय नेताओं के बहिष्कार-योग का अथवा निःशस्त्र क्रान्ति का वह वैज्ञानिक और परिणत स्वरूप है। गांधीजी के पूर्व राष्ट्रीय नेता सशस्त्र क्रान्ति को समय के अनुकूल न पाकर निःशस्त्र क्रान्ति का उपदेश देते थे; लेकिन गांधीजी कहते थे कि भले ही वह मार्ग हमारे लिए सम्भव हो जाय, लेकिन अभीष्ट फल मिलने की दृष्टि से वह मार्ग ठीक नहीं है। इसी तरह पहले के बहिष्कार-योग का असहयोग में रूपान्तर करते हुए उन्होंने उसे अहिंसा-तत्व का आध्यत्मिक अधिष्ठान

देकर एक अभिनव क्रान्तिशास्त्र का परिणामकारी रूप दे दिया है।

प्रागतिक संप्रदाय का उद्गम बंगाल में राजा राममोहन राय के सर्वांगीण सुधारवाद से हुआ है। वह खुल्लमखुल्ला मानते थे कि भारतीय संस्कृति आधुनिक ब्रिटिश संस्कृति के लिहाज से बहुत ही पिछड़ी हुई है और जबतक वह आधुनिक यूरोपीय संस्कृतिके बराबर प्रगति नहीं कर लेगी तबतक हमारा राष्ट्र अन्य राष्ट्रों की बराबरी में आजादी भोगने के लायक नहीं बन सकेगा। इसी हेतु ब्रिटिश राज की छत्र-छाया में अपनी संस्कृति के विकास का काम उन्होंने शुरू किया। वह सामाजिक और धार्मिक सुधारों पर ज्यादा ज़ोर देते थे, राजनैतिक और औद्योगिक उन्नति पर कम। वह मानते थे कि अंग्रेजों की हकूमत कायम होने के बाद हमारी संस्कृति का आधुनिक यूरोप के व्यक्तिवादी धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक तत्वों का समर्थन करके भारतीय संस्कृति को पुनर्जीवित करने की कोशिश शुरू की। उन्हें महसूस होने लगा कि ब्रिटिश साम्राज्य हमारी औद्योगिक उन्नति में बाधक हो रहा है। इतना ही नहीं बल्कि हमारे राष्ट्र के आर्थिक शोषण के लिए ही उसका निर्माण हुआ है, जिससे उसकी छत्र-छाया में अपनी संस्कृति का विकास करना असम्भव है। यद्यपि हमारी संस्कृति आज के जमाने में अन्य देशों की संस्कृति से पिछड़ी हुई है, फिर भी जबतक हम अपने देश के शासन की बागडोर अपने हाथ में नहीं लेंगे तबतक उसका विकास तो दूर रहा, उसकी रक्षा भी नहीं की जा सकेगी। जब इस सत्य का ज्ञान आधुनिक भारत को हुआ तब सर्वांगीण सुधार के तत्वज्ञान में से ही प्रागतिक राजनीति का जन्म लगभग १८७५ में दादाभाई नौरोजी तथा जस्टिस रानडे जैसे नेताओं के प्रयत्नों से हुआ। न्याय० रानडे का मत था कि भारतीय अर्थशास्त्र के लिए अंग्रेजों के व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र का आधार नहीं, बल्कि जर्मनी तथा अमरीका-जैसे औद्योगिक प्रगति में पिछड़े देशों के अर्थशास्त्र का आधार लाभदायक होगा। इस तरह आधुनिक भारत के नेताओं की दृष्टि व्यक्तिवाद से हटकर राष्ट्रवाद की ओर झुकने लगी।

न्याय० रानडे ने यद्यपि राष्ट्रवादी अर्थशास्त्र का पृष्ठपोषण किया, फिर भी राजनैतिक दृष्टि से वह इंग्लैंड के व्यक्तिवादी, नरम, प्रागतिक विचारधारा के ही अनुयायी थे। ब्रिटिश शासन में बढ़ती हुई बेकारी तथा दरिद्रता

का भीषण स्वरूप जैसे-जैसे लोगों को अधिकाधिक दिखने लगा, वैसे-वैसे न्या० रानडे के नरम प्रागतिक राजनैतिक विचार लोगों को अपर्याप्त और असमाधानकारक मालूम होने लगे। साथ ही उन्हें लगा कि जर्मनी, अमरीका या जापान-जैसे औद्योगिक प्रगति में पिछड़े हुए, परन्तु राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र राष्ट्रों का राष्ट्रीय अर्थशास्त्र एवं उनकी राजनीति हमारे काम की नहीं। इससे हमारे राष्ट्र-निर्माताओं की दृष्टि स्वतन्त्र देशों की राजनीति और अर्थनीति से हटकर आयर्लैंड या इटली-जैसे गुलामी से आजाद होनेवाले देशों की विचारधाराओं की तरफ खिंचने लगी। इसी दृष्टिकोण के कारण अन्त में उग्र राष्ट्रीय राजनीति तथा सशस्त्र क्रांतिकारी राजनीति का आधुनिक भारत में जन्म हुआ।

उग्र राष्ट्रीय राजनीति से १९०५ के करीब बहिष्कार-योगी निःशस्त्र क्रान्तिवाद पैदा हुआ और उसके बाद एक-दो वर्षों के भीतर उसको इटालियन देशभक्त मैज़िनी के प्रयत्नों के अनुकरण का और गुप्त षड्यन्त्रों का रूप मिल गया। लोकमान्य तिलक प्रभृति राष्ट्रीय नेताओं की निःशस्त्र क्रान्ति या बहिष्कारयोगी राजनीति आयर्लैंड के सिनफेन दल की प्रारम्भिक राजनीति से मिलती-जुलती थी। क्रान्तिकारी राष्ट्रीय राजनीति के सशस्त्र और निःशस्त्र ये दो रूप पहले-पहल १८७५ में और बाद में १९०५ में महाराष्ट्र में नज़र आये। लोकमान्य तिलक जैसे नेताओं को गुप्त षड्यन्त्रों की राजनीति का अनुकरण अपनी परिस्थिति से बेमेल मालूम होता था, जिससे कांग्रेस को निःशस्त्र क्रान्ति के मार्ग पर ले जाने की वे कोशिश करते थे। उनका यह प्रयत्न आयरिश नेताओं का केवल अनुकरण नहीं था, उन्होंने उसे आज़माया था और वह उन्हें अपनी परिस्थिति के अनुरूप तथा फलप्रद मालूम हुआ था। निःशस्त्र क्रान्ति के तरीके को अपने देश मे आज़माने की कल्पना महज आयरिश नेताओं से नहीं मिली थी, बल्कि ब्रिटिश साम्राज्य के एलिफन्स्टन, मन्रो, मेटकाफ-जैसे संस्थापकों ने ब्रिटिश साम्राज्य की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश के बारे में जो विचार प्रकट किये थे, उनके गहरे अध्ययन से भी वे इस नतीजे पर पहुंचे थे। सर जॉन सीली-जैसे राजनीतिक और ऐतिहासिक दार्शनिकों के द्वारा की गई भारत की ब्रिटिश साम्राज्यसत्ता की मीमांसा से भी उन्हें सहारा मिल गया था। ये पुराने तत्वज्ञ तथा

जे० डी० एच० कॉल जैसे आधुनिक तत्वज्ञ इस बात में एकमत थे कि ज्योंही हिन्दुस्तान में एकराष्ट्रीयता की भावना फैलेगी और ब्रिटिशों की भारतीय सेना में उसका प्रवेश होगा, त्योंही हिन्दुस्तान का ब्रिटिश-साम्राज्य टूट जायगा। लोकमान्य तिलक, बाबू विपिनचन्द्रपाल या योगी अरविन्द-जैसे भारत के राष्ट्रनिर्माताओं को निःशस्त्र क्रान्ति की या वहिष्कार-योग की राजनीति ऐसे विचारों से ही सूझी हो तो कोई आश्चर्य नहीं! मन्रो, एल्फिन्स्टन-जैसे तत्कालीन ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के उद्‌गारों से पता चलता है कि सौ साल पहले ही उन्होंने अन्दाज़ लगाया था कि भारत में ऐसी राज-नीति निर्माण होगी और उससे ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त हो जायगा।

आधुनिक विद्या का जो प्रचार हिन्दुस्तान में वे कर रहे थे और आधु-निक सुशिक्षितों में राजनैतिक आकांक्षाओं के जो बीज बो रहे थे, उन्हीं में से राष्ट्रीय एकता तथा स्वराज्य की लगन आज या कल पैदा होगी और उसके देश में फैलने पर हिन्द की सेना के बल पर ही हिन्दुस्तान को काबू में रखने के ब्रिटिशों के प्रयोग का सफल अन्त होगा, ऐसा अन्दाज़ इन लोगों ने लगाया था। इसके बाद १८५७ में हिन्दू-मुसलमान सैनिकों ने मिलकर जो गदर किया, उसको दबाने में अंग्रेजों को जो सफलता मिली इसका विवेचन करते हुए सीलीसाहब ने लिखा है, "हिन्दुस्तान के इस गदर को दबाने में हम सफल हो सके, क्योंकि एक जाति को दूसरी जाति से लड़ाने में हम कामयाब हो गये। जबतक यह सम्भव होगा और अपने पर शासन करनेवाली किसी भी हुकूमत की नुक्ताचीनी करने की या उसके ख़िलाफ बलवा करने की आदत हिन्दी जनता को नहीं लगी है, तभी तक इंग्लैंड में बैठकर हिन्दुस्तान पर हुकूमत करना सम्भव है। अगर यह स्थिति बदली और किसी-न-किसी तरह भारतीय जनता में एकराष्ट्रीयता के भाव जागे तो हमें अपनी हुकूमत की आशा छोड़ देनी चाहिए।" १८५७-५८ के गदर को सिक्ख तथा गोरखा पल्टनों की सहायता से ख़त्म किया गया।

१८९५ से १९०५ तक के काल में क्रान्तिकारी राजनीति देश में चली। उस वक्त के क्रान्तिकारियों को लगता था कि देशी नरेशों में से एकाध की सहायता से या अफगानिस्तान या नेपाल जैसे छोटे राज्य की सहायता से, जिस तरह इटली आस्ट्रिया के साम्राज्य से मुक्त हुआ, उसी तरह ब्रिटिशों

के साम्राज्य से भारत को मुक्त किया जा सकेगा। लेकिन यह खयाल बेबुनियाद साबित हुआ। लोकमान्य तिलक-जैसे लोगों को विश्वास हो गया था कि हिन्दुस्तान में जो क्रान्ति होगी उसका स्वरूप प्रजातन्त्रीय होगा और मध्य श्रेणी के बुद्धिमान व स्वार्थत्यागी नेता तथा गरीब किसानों की संयुक्त ताकत से ही वह क्रान्ति होगी। इसीलिए वे इस बात पर जोर देते रहे कि ब्रिटिश साम्राज्यशाही के पैरों-तले कुचले जानेवाले किसान कांग्रेस में बड़ी तादाद में शामिल हों और उसका कारोबार लोकतन्त्रात्मक ढंग से चलाया जाय। ऊंची श्रेणी के जमींदार तथा नरेश अपनी मिल्कियत के मोह से साम्राज्य के वफादार बने बैठे थे, जिससे उनसे कोई आशा करना बेकार था। इसीलिए सुशिक्षित मध्यवर्ग तथा दरिद्री किसान ही क्रान्तिकारी राजनीति का सच्चा आधार बन सकते हैं ऐसा जानकर इन दो वर्गों को सशस्त्र कान्ति से अछूता रखने के लिए ह्यूम, वेडरबर्न या कॉल-जैसे ब्रिटिश राजनीतिज्ञ कांग्रेस की हलचल कर रहे थे। इन्हीं वर्गों को कांग्रेस में संगठित करके ब्रिटिश राजनीतिज्ञों से आजादी पाने के लिए लोकमान्य तिलक जैसे राष्ट्रीय नेता प्रयत्नशील थे। ह्यूम तथा वेडरबर्न अपने देशवासियों को कांग्रेस की मांगें कबूल करने के लिए जिन्दगी-भर उपदेश देते रहे; क्योंकि वे जानते थे कि बहिष्कार-योग की निःशस्त्र क्रान्ति का प्रयोग सफल होनेवाला है और भारतीय जनता की सहायता से चलनेवाला अंग्रेजों का शासन एक-न-एक दिन टूटनेवाला है। लेकिन ह्यूम या वेडरबर्न की बातें सत्ताधारी ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने अनसुनी कर दीं, जिससे कांग्रेस में निःशस्त्र क्रान्ति की भावना दिन-ब-दिन बढ़ती गई। प्रथम महायुद्ध के बाद अंग्रेजों ने जिस तरह भारत को छकाया उसको देखते हुए गांधीजी ने निःशस्त्र क्रान्ति को प्रभावशाली ढंग से संगठित करना शुरू किया। इस तरह महायुद्ध के बाद प्रागतिक राजनीति राष्ट्रसभा से अलग पड़ गई और कांग्रेस खुल्लमखुल्ला एक निःशस्त्र क्रान्तिवादी संस्था बन गई।

आयर्लैंड में सिनफेन दल के रूप में आर्थर ग्रिफिथ ने निःशस्त्र क्रान्तिवादी राजनीति का आरम्भ किया था। लेकिन महायुद्ध के बाद वह राजनीति सशस्त्र क्रान्ति में बदल गई। आयर्लैंड की तरह हिन्दुस्तान अगर एक छोटा देश होता तो शायद वही बात यहां भी होती; लेकिन हिन्दुस्तान

आयर्लैंड या इटली से कई गुना बड़ा देश है। इसमें हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख जैसे अनेक धर्म-भेद तथा जाति-भेद हैं। एकराष्ट्रीयत्व तथा लोकतन्त्र की दृष्टि से वह पिछड़ा हुआ देश था। ब्रिटिश संस्कृति तथा ब्रिटिशों के काल्पनिक सामर्थ्य के डर से वह सहम गया था। इन बातों का खयाल करके निःशस्त्र क्रान्तिवाद ही इस देश के लिए व्यवहार्य तथा प्रभावशाली मार्ग है, ऐसा महात्मा गांधी के हिन्दुस्तान में आने से पहले ही यहां के विचारशील, बुद्धिमान तथा स्वार्थत्यागी नेताओं का मत हो गया था।

जब १९२० में गांधीजी ने असहयोग के रूप में देश के सामने निःशस्त्र क्रान्ति का अपना कार्यक्रम रखा तब देश के बुद्धिमान् नेताओं तथा क्रान्तिकारी युवक हृदयों ने उसको बड़े पैमाने पर स्वीकार कर लिया। जिन लोगों ने गांधीजी के नेतृत्व को कबूल किया वे सब अहिंसाधर्मी बन गये, ऐसा मानना ठीक नहीं होगा। वे किस दृष्टि से और किस भाव से इस पक्ष के हो गये, इसकी मीमांसा आचार्य कृपलानी के नीचे दिये उद्धरण से भली-भांति हो सकती है। वे लिखते हैं, "विज्ञान और हवाई जहाजों के इस युग में संहारक साधनों से सुसज्जित सरकार के खिलाफ सशस्त्र युद्ध करना शस्त्रधारी लोगों को भी असम्भव-सा लगता है। तब हिन्दुस्तान-जैसे निःशस्त्र देश का पूछना ही क्या? साथ-ही खुले तौर पर सैनिक ढंग का क्रान्तिकारी संगठन करना भी सम्भव नहीं होता। हमें अपना संगठन अहिंसात्मक साधनों से ही करना चाहिए। स्वार्थत्याग, वीरता, ऐक्य, अनुशासन तथा संगठन जैसे नैतिक गुण सशस्त्र क्रान्ति के लिए भी आवश्यक हैं, उनकी सत्याग्रह से अच्छी तरह वृद्धि हो सकती है। आखिरी बार करने का काम हिंसात्मक हो चाहे अहिंसात्मक, दोनों के लिए गांधीजी के नेतृत्व में सद्गुण-सम्पत्ति बढ़ाने का जो काम हो रहा है वह अत्यन्त आवश्यक है। इन सद्गुणों की वृद्धि शान्तिमय साधनों से ही बड़े पैमाने पर हो सकती है। इन गुणों से युक्त, कोई छोटी जमात खड़ी करना जरूर आसान हो सकता है, लेकिन समस्त देश में या उसके बहुत बड़े हिस्से में गुप्त रूप से यह करना असम्भव है। इसलिए आखिरी सशस्त्र लड़ाई की दृष्टि से भी हिन्दुस्तान में सत्याग्रह से जो गुण-सम्पत्ति बढ़ रही है, वह बड़े काम की है। क्योंकि आन्दोलन कैसा क्यों न हो, गुण-सम्पत्ति ही उसकी नींव होती

है। ऐसी हालत में चाहे स्थायी तौर पर न भी हो; लेकिन आनेवाले बहुत वर्षों तक सत्याग्रह या हड़ताल का एक ही साधन हमारे लिए उपलब्ध है।" इस तरह हम देखते है कि धर्म के तौर पर भले ही न हो; लेकिन व्यवहार-नीति के तौर पर गांधीजी के नेतृत्व में चलनेवाले सत्याग्रह-संग्राम में वे सब उमंगभरे दिल से शामिल हो गये, जो गांधीजी के नेतृत्व से पहले क्रान्तिकारी साधनों के उपयोग में लगे थे या लोकमान्य तिलक के दल में भर्ती होकर मानते थे कि उन्हींकी नीति से अन्त में भारतीय क्रान्ति होगी। पहले व्यावहारिक नीति के रूप में जिन लोगों ने इस सत्याग्रह को स्वीकार किया उन्हीं में से कुछ लोग सत्याग्रह का सही और प्रभावशाली रूप बुद्धि के द्वारा जानकर धर्म-दृष्टि से भी उसको स्वीकार कर रहे हैं। गांधीजी ने कांग्रेस या खिलाफत कमेटी से सत्याग्रह-संग्राम के लिए मान्यता प्राप्त करते हुए यह आशा कभी नहीं रखी थी कि वे धर्म-बुद्धि से अहिंसा को कबूल करें।

आम तौर पर धर्म-दृष्टि से अहिंसा का सिद्धान्त मानव का नित्यधर्म है, ऐसा मानने में कम-से-कम हिन्दुस्तान में कोई विचारशील व्यक्ति हिच-किचाता नहीं है; फिर भी सत्य और अहिंसा के नित्यधर्म को व्यवहार में उतारते वक्त, मानव-समाज की अपूर्ण अवस्था में कुछ अपवाद करना जरूरी होता है, ऐसा लोग प्रतिपादन करते हैं। लेकिन जब यह सब मानने लगते हैं कि व्यवहार-नीति के तौर पर भी अहिंसा के सिद्धान्त पर चलना राष्ट्र-निर्माण के कार्य में आवश्यक है, तब, क्रान्ति पर विश्वास रखनेवालों का मानना है कि धर्म-शास्त्र के सूक्ष्म मतभेदों का सहारा ले बाल की खाल निकालकर लोगों में बुद्धि-भेद पैदा करने और देश में चलते हुए निःशस्त्र क्रान्ति के काम में रोड़े खड़े करने में बुद्धिमानी नहीं है। अन्तिम सिद्धान्त के मतभेदों को भूलकर, खास कार्यक्रम पर एकमत होनेवाले राजनैतिक दल एक-दूसरे के कंधे-से-कंधा मिलाकर एक ही विरोधी से लड़ते हुए दिखाई देते हैं। इस तरह की व्यवहार-बुद्धि गांधीजी के पास थी। इसी दृष्टि से फिल-हाल शस्त्र उठाकर सशस्त्र क्रान्ति के लिए उठ खड़े होना जो अशास्त्रीय मानते थे, वे सब क्रान्तिकारी गांधीजी के नेतृत्व में काम के लिए तैयार हो गये। व्यवहार-बुद्धि से गांधीजी के नेतृत्व को मंजूर करनेवाले ऐसे लोगों

को ढोंगी या बुद्धिहीन कहना सरासर गलत है।

पुराने नेताओं के बहिष्कार-योग को यद्यपि गांधीजी ने असहयोगी युद्ध के रूप में लोगों के सामने प्रस्तुत किया, फिर भी अहिंसा के सिद्धान्त का अधिष्ठान उसके साथ जोड़ने से उनमें धर्मनिष्ठा का अलौकिक तेज चमकने लगा। इससे उनका प्रभाव बढ़ने लगा और ब्रिटिश शासकों ने जो सहूलियतें लोकमान्य तिलक या अरविन्द बाबू को कभी नहीं दीं, वे गांधीजी को देने के लिए उन्हें बाध्य होना पड़ा। १९०९ में अपनी एक तकरीर में अरविन्द बाबू ने कहा था कि यदि सरकार नागरिक अधिकारों को न छीनने का अभिवचन देगी तो राष्ट्रीय नेता यह आश्वासन दे सकेंगे कि भारतीय राज्यक्रान्ति निःशस्त्र मार्ग को कभी नहीं छोड़ेगी।

अरविन्द बाबू तथा लोकमान्य तिलक व्यवहार-नीति के अनुसार निःशस्त्र क्रान्तिवादी थे; परन्तु ब्रिटिश शासकों को लगता था कि वे अंतिम दृष्टि से अहिंसा को नहीं मानते। इसीलिए चेम्सफोर्ड, रीडिंग, अर्विन या लिनलिथगो के जमाने में आन्दोलन के प्रारम्भिक दौर में गांधीजी को जो रियायतें मिलीं, वे लोकमान्य तिलक या अरविन्द घोष को नहीं मिल सकीं। फिर भी, अंग्रेज शासक यह नहीं मानते थे कि गांधीजी के आन्दोलन से सशस्त्र क्रांति का उद्गम होगा ही नहीं। हां, व्यक्तिगत रूप से गांधीजी की अहिंसानिष्ठा के बारे में शायद ही किसीको शंका थी, इससे उनपर अभि-योग लगाने की हिम्मत अंग्रेज शासकों को नहीं होती थी। इतना जरूर वे कहते थे कि गांधीजी अपने निःशस्त्र क्रान्तिवादी आन्दोलन को काबू करने में असफल होंगे, जिससे वह सशस्त्र क्रान्ति में बदल जायगा। वे इसी बहाने अपने दमनचक्र का संसार के सामने समर्थन करते थे। लेकिन उनको अनु-भव हो चुका था कि दमनचक्र से गांधीजी द्वारा चलाया सत्याग्रह-आन्दोलन दब नहीं सकता। साथ ही आन्दोलन को अत्याचारी धारा में बहाकर अपनी अमर्याद सेना-शक्ति से उसे कुचलने के उनके विचार भी ग़लत साबित हुए।

ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इस बात से वाक़िफ थे कि उनकी सैनिक शक्ति हिन्दी राष्ट्र के सहयोग पर निर्भर है, अतः असहयोग के आन्दोलन में उसके भरोसे पर रहना दूरदर्शिता नहीं होगी। १९३४ में जी० डी० एच० कॉल ने अपने ग्रन्थ 'आधुनिक राजनीति की चर्चा' (Guide to Modern

Politics) में गांधीजी तथा कांग्रेस की राष्ट्रीय क्रान्ति के बारे में लिखा है, "हिन्दू तथा मुसलमान धर्म की प्रचण्ड मूक जनता की राय की परवा न करते हुए ग्रेट ब्रिटेन ने भारत को अपने आधीन रखा है। देशी नरेश, जमींदार तथा अन्य धनपति इस डर से कि कहीं राष्ट्रीय आन्दोलन समाजवादी रूप धारण करे तो मिल्कियत ज़ब्त हो जाय, अंग्रेजी हुकूमत के वफादार रहे। किसानों में से बहुत ही थोड़े लोग किसी प्रकार के राजनैतिक आन्दोलन में हिस्सा लेते हैं। फिर भी सन्देह नहीं है कि कांग्रेस को सक्रिय सहायता देनेवाले लाखों की तादाद में हैं। राजनैतिक दृष्टि से जाग्रत हिन्दी जनता में से बहुसंख्यक लोग मानो कांग्रेस के पीछे या राष्ट्रीय मुसलमानों की संस्थाओं के पीछे खड़े हैं। प्रागतिक या उनसे नरम राजनीतिवाले जो पक्ष हैं, उनमें कुछ गण्यमान्य व्यक्ति जरूर हैं; लेकिन आम जनता का उन्हें समर्थन नहीं है।...कांग्रेस में सामाजिक तथा आर्थिक नीति के बारे में अनेक रूप रखनेवाले लोग हैं। एक सिरे पर किसी भी किस्म के समाजवाद की मुख़ालफत करनेवाले हिन्दी मिल-मालिक और पूंजीपति हैं तो दूसरे सिरे पर मजदूर नेता और शिक्षित नौजवान हैं, जो आधे समाजवादी या आधे कम्युनिस्ट हैं। पं० जवाहरलाल नेहरू इस मनोवृत्ति के एक उदाहरण हैं। गांधीजी इन दो सिरों के बीच में हैं। राजनीति, धर्म तथा संन्यस्त वृत्ति का ऐसा मिश्रण उनके मतों में है कि आधुनिक पाश्चात्य मानस के लिए उसका समझना मुश्किल है। फिर भी हिन्दुस्तान में उनके ही सबसे अधिक अनुयायी हैं। राजनीति में वह फिर से कहांतक नेतृत्व करेंगे, यह कोई नहीं जानता। शायद वह भी नहीं बता सकेंगे। क्योंकि वह हमेशा अन्तःप्रेरणा के अनुसार चलते हैं।

"आजतक गांधीजी की राजनीति का अन्तरंग अहिंसा ही रही है। न सिर्फ राज्य-क्रान्ति में बल्कि हरेक किस्म की हिंसा का उन्होंने विरोध किया है। अहिंसात्मक असहयोग और सविनय कानून-भंग उनके अन्तिम शस्त्र हैं और यही उनकी नीति की बुनियाद हैं। लेकिन कबतक वह इस मर्यादा में राष्ट्रवाद को रख सकेंगे? उन्होंने कई बार कानून-भंग के आन्दोलनों को इसलिए रोक दिया है कि कहीं पर हिंसा फूट निकली थी। लेकिन क्या वह इस तरह आन्दोलन को हमेशा ही रोक सकेंगे?

"यह न भूलना चाहिए कि सरहदी सूबों की टोलियों के अलावा करीब-करीब पूरा हिन्दुस्तान शस्त्र-रहित है। हां, ब्रिटिशों की अधीनता में काम करनेवाली सेना अपवाद है। हिन्द के लोग शस्त्र चाहते हैं; लेकिन सरकार को इससे राष्ट्रीय आंदोलन के सशस्त्र बन जाने का खतरा महसूस होता है। हिन्दी-सेना की स्वामिभक्ति पर ग्रेट ब्रिटेन का भवितव्य बहुत कुछ निर्भर है। पता नहीं कि सेना में कहांतक राष्ट्रीय विचार फैले हैं? ...अगर साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य के अधिकार हिन्दुस्तान को मिल जायं तो हिन्दी राष्ट्रीय नेता समझौते के लिए तैयार हो जायंगे। उनकी यह मांग मंजूर न हुई तो भी कुछ अर्से तक हिन्दुस्तान पर दमनचक्र से काबू रखा जा सकेगा; लेकिन जब यूरोप की किसी जटिल समस्या में इंग्लैंड फंसा हुआ होगा तब उनका हिन्द साम्राज्य, सम्भव है, नष्ट हो जायगा।"

ऊपर के उदाहरण से पता चलता है कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के अपने साम्राज्य तथा कांग्रेस के निःशस्त्र आन्दोलन के बारे में क्या विचार थे। दूसरे महायुद्ध के समय १६४२–४३ में नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने आज़ाद हिन्द सरकार तथा सेना की प्रस्थापना करके ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ खुली लड़ाई छेड़ी, इससे दीख पड़ेगा कि कॉलसाहब का डर सही निकला और राष्ट्रीयता का प्रचार सेना व नौसेना के सैनिकों तक बहुत बड़ी मात्रा में पहुंच गया। आगे चलकर नौसेना के सैनिकों का एक विद्रोह भी हुआ। इससे ब्रिटिश स्थिति को समझ गये और उन्होंने भारत की आज़ादी को मंजूर करना तय किया।

महात्मा गांधी जिस तरह एक व्यवहार-दक्ष राजनीतिज्ञ और राजनेता थे, उसी तरह वह एक अलौकिक धर्म-सुधारक व तत्वनिष्ठ समाज-सुधारक भी थे। धार्मिक व सामाजिक सुधारक की आध्यात्मिक वृत्ति और प्रखर सत्यनिष्ठा को राजनीति में दाखिल करना और समाज के सर्वांगीण व्यवहार को आध्यात्मिक रूप देना, वे अपना जीवन-कार्य मानते वह। गौतम बुद्ध की अहिंसा तथा श्रीकृष्ण का अन्याय-प्रतिकार का निष्काम कर्मयोग या अनासक्ति-योग इस सबका एक अनुपम मिश्रण उनके सत्याग्रह-दर्शन में हुआ है। अन्याय-रूपी अधर्म का उच्छेद करके न्याय-रूपी धर्म की प्रस्थापना करना ही उनकी मूल प्रेरणा थी। धार्मिक-सामाजिक सुधारकों की तरह

उनकी वृत्ति अन्तर्मुख थी और अपनी गुलामी का कारण दूसरे की बनिस्बत वह खुद को मानते थे। आत्मोन्नति और आत्मशुद्धि को ही वह स्वातंत्र्य-प्राप्ति का मार्ग बताते थे। उनका कहना था कि आधुनिक यूरोपीय सभ्यता को स्वीकार करने से हमारी उन्नति नहीं, अवनति होगी। वह मानते थे कि समाज के राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवहारों पर से धर्म का नियन्त्रण हट जाने से यूरोपीय सभ्यता का नाश हो रहा है। धर्म व मोक्ष के पुरुषार्थों को छोड़कर अर्थ और काम पुरुषार्थ की प्राप्ति की ओर सारा समाज दौड़ता है, ऐसा मानकर उसीके आधार पर समाज की रचना करने की कोशिश आधुनिक यूरोप ने की, जिसके फलस्वरूप वहां पूंजीशाही, साम्राज्यशाही, तानाशाही की आसुरी सम्पत्ति पैदा हो गई और भौतिक विद्या ने मानव-संहार-शास्त्र का रूप ग्रहण कर लिया। उनका आत्मविश्वास था कि आधुनिक यूरोप की आसुरी संस्कृति अन्तर्राष्ट्रीय महायुद्ध तथा राष्ट्रान्तर्गत वर्ग-युद्ध की यादवी में निकट भविष्य में नष्ट हो जायगी और संसार को शांति, न्याय तथा सत्य का मार्ग बतानेवाली एक नई मानवी सभ्यता सत्याग्रह-दर्शन से पैदा होगी। मतलब यह कि गांधीजी का सत्याग्रह-दर्शन जिस तरह एक राष्ट्रीय तथा राजकीय क्रांति का दर्शन है, उसी तरह वह एक सर्वांगीण क्रांति का दर्शन भी है। महात्मा गांधी जिस तरह राजनेता व राजनीतिज्ञ थे, उसी तरह वह धार्मिक व सामाजिक सुधारक भी थे।

वह एक भागवतधर्मी संत थे और मध्ययुगीन क्रान्तिमार्गी साधु-संतों की तरह वैदिक धर्म की परम्परा तथा वर्णाश्रम-धर्म की चौखट का उन्होंने स्वरूपतः त्याग नहीं किया था। फिर भी उनकी वृत्ति थी कि ब्राह्मणों से लेकर अतिशूद्रों तक सबको सामाजिक समता का लाभ मिलना चाहिए, चातुर्वर्ण्य की सामाजिक विषमता पूरी तरह मिट जानी चाहिए, सामाजिक श्रेष्ठता के अहंकार से जनित कृत्रिम बन्धन हटने चाहिए और शूद्र व अति-शूद्र वर्णों को भी मानव-संस्कृति में बराबरी का स्थान मिलने के लिए हमें गुलाम रहते हुए भी जी-जान से कोशिश करनी चाहिए। इस दिशा में अस्पृश्यता-निवारण, हरिजनोद्धार और जातियों के बीच की असमानता को दूर करने के लिए उन्होंने बहुत कुछ किया एवं हिन्दू समाज की ओर से उसके लिए स्वीकृति प्राप्त की। उनका यह काम पिछली सदी के किसी भी

धार्मिक या सामाजिक सुधार के काम से ज़रा भी कम नहीं है। राष्ट्रीय राज्य-क्रान्ति से इस काम का विरोध उन्हें नहीं मालूम होता था, उलटे वह इस कार्य को उसके लिए पूरक मानते थे। गांधीजी का भक्ति-मार्ग पुराने सन्तों की तरह प्रतिकारशून्य नहीं था। वह अहिंसक प्रतिकार का तेजस्वी मार्ग था। भक्ति-मार्ग तथा प्रवृत्तिमय कर्मयोग इन दोनों का समन्वय करके रामराज्य की स्थापना करने का अभिनव सत्याग्रही मार्ग सारे संसार को उन्होंने बताया है।

और अनेक दृष्टियों से महात्मा गांधी का कार्य मध्ययुग से साधु-सन्तों के कार्य से आगे बढ़ा है। उनकी रामराज्य की कल्पना अधिक परिपक्व तथा आधुनिक काल से मेल रखनेवाली थी। राजसत्ताक शासन के लिए वह राम-राज्य शब्द काम में नहीं लाते थे। राज्य चाहे राजसत्तात्मक हो, लोकसत्तात्मक हो या समाजसत्तात्मक, एक तरह से ये केवल उसके बाह्य रूप ही हैं; लेकिन राज्यों का अन्तःस्वरूप हमेशा न्यायपरक होना चाहिए। रामराज्य के माने हैं धर्म का, न्याय का राज्य। राम नाम का वह विशिष्ट व्यक्ति अब इस भूमि पर नहीं आ सकेगा; लेकिन हरेक मनुष्य के हृदय में राम तथा रावण वृत्तियां होती हैं। पहली से धर्म या न्याय की बुद्धि उदित होती है तो दूसरी स्वार्थ-बुद्धिका रूप ले लेती है। मनुष्य के हृदय से स्वार्थ-बुद्धि हटाकर वहां न्याय-बुद्धि का राज्य-स्थापन करना ही अन्तःकरण का रामराज्य है। स्वार्थ-बुद्धि के कारण समाज में जो कई प्रकार के कलह उठते हैं वे नष्ट हों और न्याय की प्रस्थापना हा तो रामराज्य स्थापित होता है। जिस राज्य को समाज की न्यायबुद्धि का आधार है, जहां के कानून समाज की न्यायबुद्धि के अनुसार बने हैं, न्यायबुद्धि से व्यवहार करनेवाले मनुष्य को जिस समाज में किसी भी कानून से प्रतिबन्ध नहीं होता, जिस समाज के सब व्यवहार मनुष्य के अन्तःकरण की न्यायबुद्धि को आसानी से मान्य हो जाते हैं, अन्याय से धन कमाना या सत्ता का दुरुपयोग करना जिस समाज में असम्भव है और जहां की राजसत्ता प्रजा के संगठित आत्मबल के सामने झुक सकती है, वह राज्य रामराज्य है।

आज के समाज-शास्त्र या राज्य-शास्त्र की दृष्टि से तथा समाज-संघटन के लिहाज़ से आधुनिक भारतवर्षीय रामराज्य राजसत्ता न होकर प्रजा-

सत्ताक ही बनेगा और वैसा ही बनाने की गांधीजी की कल्पना थी। आज का राष्ट्र-निर्माण जनतन्त्रीय सिद्धान्तों पर ही होगा और आज के स्वराज्य में समता तथा नागरिक अधिकार सबके लिए सुलभ हों, गांधीजी ने यह अपनी उक्ति तथा वृत्ति से लोगों को ठीक तरह समझा दिया है। यह मत उनका अवश्य था कि यह प्रजातन्त्र यूरोप के प्रजातन्त्र की तरह पूंजीवादियों का गुलाम न बने और लोकतन्त्र के नाम पर यहां धनिक-सत्ता प्रस्थापित न हो। आधुनिक यूरोप में जो सभ्यता पैदा हुई है उसने धर्म के अधिष्ठान का त्याग कर दिया है जिससे वह भ्रष्ट हो गई और उससे पूंजीवाद तथा साम्राज्यवाद की पैदाइश हुई। आज वह विनाश के गड्ढे में जा पहुंची है। इसलिए गांधीजी बड़े आग्रह के साथ भारतीय जनता से अनुरोध करते थे कि आधुनिक यूरोप के अंधानुयायी न बनो और धर्म का अधिष्ठान न छोड़ो। ध्यान में रखना चाहिए कि गांधीजी जिस अर्थ में धर्म तथा रामराज्य का प्रयोग करते थे, वह आजकल के पढ़े-लिखे लोगों की कल्पना से बिलकुल अलग है।

अपनी राष्ट्रीयता के लिए जिस धर्म की स्थापना वह चाहते थे वह केवल हिन्दू धर्म न होकर व्यापक सर्वश्रेष्ठ मानव-धर्म था। मनुष्य के हृदय में असत्य से सत्य की तरफ, अज्ञान से ज्ञान की तरफ तथा अपूर्णता से पूर्णता की तरफ जाने की एक सनातन वृत्ति है, जिसके मातहत सब धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक सुधारक या क्रान्तिकारक लोकनायक, राष्ट्र-निर्माता, साधुसन्त, धर्मसंस्थापक सब व्यवहार करते हैं। इस भावना से मनुष्य की स्वार्थी अहंकार-भावना का लोप होता ही है और वह परार्थी लोकसेवक बनता है। गांधीजी इसी वृत्ति को धर्म-वृत्ति या धर्म कहते हैं। गांधीजी की सीख है कि संसार के सब धर्मों का उद्देश्य एक है और मानव को चाहिए कि उन्नति तथा शुद्धि करनेवाली यह वृत्ति जागृत करके वह अपना पारमार्थिक श्रेष्ठ व सत्य स्वरूप प्रकट करे। यही सब धर्मों का सार है। सर्वधर्म-सहिष्णुता तथा सर्वधर्म समभाव उनके सत्याग्रह का एक आवश्यक व्रत है। सत्य से बढ़कर दूसरा धर्म नहीं है, सत्य ही परब्रह्म है, यह उक्ति उनके अध्यात्म-ज्ञान का रहस्य ठीक तरह प्रकट करती है। अध्यात्म के और सर्वव्यापक मानव-धर्म के इसी आधार पर वह आधुनिक भारत का

निर्माण करना चाहते थे और इसीलिए हिन्दू, मुसलमान, ईसाई-जैसे क्षुद्र भेदाभेद उनके हृदय को छू तक नहीं सकते थे। हिन्दुस्तान के इतिहास की राजनैतिक परम्परा को देखकर उन्होंने समझा था कि आधुनिक भारत के निर्माण में हिन्दू-मुस्लिम-भेद एक प्रमुख रुकावट है। हिन्दू समाज की सामाजिक विषमता को नष्ट करने के प्रतीक के रूप में उन्होंने अस्पृश्यता-निवारण तथा हरिजनोद्धार को अपने रचनात्मक कार्यक्रम में मुख्य स्थान दिया था और जब हिन्दुओं से हरिजनों को फोड़ने की कोशिश अंग्रेजों ने की, तब अपनी जान की बाज़ी लगाकर ब्रिटिशों की इस भेदनीति को उन्होंने शिकस्त दे दी। आधुनिक भारत के इतिहास में. राजनीति, समाजनीति एवं धर्मनीति आदि की दृष्टिकोण से महात्मा गांधी ने जो काम किया वह बड़े महत्व का है और उसके मधुर फलों को आनेवाली पीढ़ियां चख सकेंगी। रचनात्मक काम की दूसरी महत्व की बात है हिन्दू-मुस्लिम-एकता। उसपर गांधीजी ने जितना ध्यान दिया किसी अन्य राष्ट्रीय नेता ने शायद ही दिया हो। अनेक भारतीय नेताओं ने जान लिया था कि, राष्ट्र-निर्माण के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता का होना आवश्यक है। इसमें दादाभाई नौरोजी, न्यायमूर्ति रानडे, माननीय गोखले, लोकमान्य तिलक आदि नेताओं ने राजनैतिक दृष्टि से हिन्दू-मुस्लिम-एकता का पृष्ठपोषण किया था; लेकिन इस सवाल की ओर गांधीजी की दृष्टि राजनीति के अतिरिक्त धर्म की भावना पर आधारित थी। हिन्दू, मुस्लिम तथा ईसाई इन तीन धर्मों का समन्वय करने की दृष्टि से राजा राममोहन राय ने ब्रह्मसमाज की स्थापना की तथा स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने अपने शिष्य स्वामी विवेकानन्द के मुख से सारे संसार को कहलवाया कि आधुनिक संसार को सर्वधर्म-समन्वय या सर्वधर्म-समभाव ही वेदान्त का प्राचीन सन्देश है। गांधीजी की दृष्टि इसी तरह के सर्वधर्म-समभाव पर है। उनकी इस वृत्ति के लिए मध्ययुगीन साधु-सन्तों के भागवत-धर्म का भी ठोस आधार है और इसी आधार पर उन्होंने भारतीय राष्ट्र मंदिर की रचना की है।

आधुनिक यूरोपीय संस्कृति के आधार पर पहले के सर्वांगीण सुधारकों ने जिस एक तत्व का प्रतिपादन किया था, वह कुछ अलग किन्तु शुद्ध स्वरूप में गांधीजी के सत्याग्रह-दर्शन में अंतर्भूत हो गया है। यह तत्व व्यक्ति-

स्वातन्त्र्य का है। एक अर्थ में गांधीजी आत्यन्तिक व्यक्तिवादी थे। लेकिन अपने व्यक्तिवाद को उन्होंने भौतिक सुखाभिलाषा का हीन रूप न देकर लोकसेवा में होनेवाली आध्यात्मिक सुखाभिलाषा का श्रेष्ठ रूप दिया था। उनके सत्याग्रह-विज्ञान का आधारभूत सिद्धान्त था कि ग्रन्थ तथा गुरु की अनुभूतियों से आत्मानुभूति बढ़कर है और हरेक व्यक्ति को चाहिए कि वह अंतरात्मा की आज्ञानुसार चले। वह मानते थे कि 'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः' का सिद्धान्त अपने सामने रखकर धर्म-बन्धन, राज-बन्धन या समाज-बन्धन से परे केवल परमेश्वर का बन्धन मानकर अपने को तथा समाज को युक्त करने का अधिकार हरेक शख्स प्राप्त कर सकता है। सत्याग्रह सर्वांगीण क्रान्ति का एक शस्त्र है और उसको उठाने का अधिकार किसी खास कुल में उत्पन्न लोगों या साधु-सन्तों तक ही सीमित नहीं। वह तो सबके लिए है। साधुत्व की प्राप्ति हरेक का अधिकार ही नहीं बल्कि धर्म है। वह मानते थे कि इस साधुत्व को पाकर समाज के सब विधि-निषेधों से परे जाकर नये विधि-निषेध निर्माण करना और नये काल, नई परिस्थिति से तथा समाज में उठनेवाली नई शुभ आकांक्षाओं के अनुरूप नये धर्म की संस्थापना करना समाज के सर्वश्रेष्ठ साधु-सन्तों का कर्तव्य है। हिन्दुस्तान को हर प्रकार से बर्बाद करनेवाली ब्रिटिश साम्राज्यशाही के खिलाफ उन्होंने जो राष्ट्रीय क्रान्ति का झंडा खड़ा कर दिया, उसीके फलस्वरूप हिन्दुस्तान में लोकतन्त्र निर्माण हुआ है। इस लोकराज्य में हरेक के जीवन तथा धन-संपत्ति की हिफ़ाज़त होगी। हरेक को सुख से जीविका उपार्जन करने की सुविधा उपलब्ध होगी और प्रत्येक की आत्मोन्नति में समाज सहायक बनेगा।

लेकिन लोकराज्य ही गांधीजी के स्वराज्य का अन्तिम रूप नहीं है। उनका स्वराज्य तो आत्मराज्य है, जिसमें किसीको भी बाह्य कृत्रिम बन्धन पालने नहीं होंगे, और जहां दंडधारी राज्य-संस्था की कोई जरूरत महसूस नहीं होगी। यह आत्मराज्य लोकसत्ता और समाजसत्ता से भी परे है और उसकी प्राप्ति सत्याग्रही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के जरिये ही हो सकेगी। हां, वह आधुनिक यूरोप के संस्कृति-विनाशक व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के हीन रूप को नहीं चाहते थे। अमर्याद धन-संचय का व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, सत्ता या सम्पत्ति के

रूप में उन्मत्त हो जाने का व्यक्ति-स्वातन्त्र्य वह हर्गिज नहीं चाहते थे। मार्टिन लूथर ने जब प्रोटेस्टेंट धर्मपन्थ की स्थापना की अथवा उसके बाद के कॉल्विन ने प्युरीटन पन्थ को चलाया तब उनके सामने न तो अमर्याद धनोपभोग का या सत्ताभिलाषा का हीन व्यक्ति-स्वातन्त्र्य था और न धनिक वर्ग के बंधनों में फंसने की उनकी अभिलाषा थी। लेकिन व्यापारी वर्ग ने उनके व्यक्तिवादी तत्वों का अवलम्बन लिया और शीघ्र ही उसे सुखाभिलाषी व्यक्तिवाद का जड़ रूप दे दिया।

समाज की प्राथमिक अवस्था में किसी व्यक्ति को अपने जीवन के लिए आवश्यक धन जुटाने में कोई दिक्कत नहीं थी। उस जमाने में जरूरत से ज्यादा धन का संग्रह करना किसी भी व्यक्ति के लिए असंभव था। ऐसे समय में समाज के हरेक व्यक्ति के कष्टार्जित धन और जीवन की रक्षा करना एक-सा था। ऐसी अवस्था में व्यक्ति की धनसम्पदा की रक्षा का भार राज्य-संस्था की ओर से कर्तव्य के रूप में उठाया जाना अधिक दोषास्पद नहीं माना जा सकता; लेकिल जिस समाज में कुछ इने-गिने व्यक्ति अमर्याद धन-संग्रह करके अन्य लोगों के जीविका के साधनों पर कब्जा कर लेते हैं और निर्बलों की बेबसी का फायदा उठाकर श्रम की कमाई का कानून से बेजा फायदा उठा सकते हैं, ऐसे समाज में व्यक्ति के धनसंचय की रक्षा करना राज्यसंस्था का कर्तव्य मानना सही व्यक्तिवाद नहीं है। इस तरह की आर्थिक विषमता पर आधारित समाज का व्यक्ति-स्वातन्त्र्य ठीक नहीं। ऐसा समाज तो स्तेयवृत्ति पर बनता है। उसमें धर्म या न्याय का राज्य स्थापित नहीं हो सकता। गांधीजी ऐसे व्यक्तिवादी समाज को नहीं चाहते थे। जिस सभ्यता में ऐसी आर्थिक विषमता पैदा होती हो उस सभ्यता को भी वह नहीं चाहते थे। भौतिक सुखाभिलाषा सत्याग्रह-ध्येय हर्गिज नहीं बन सकती। अमर्याद धन-संग्रह करनेवाला सत्याग्रही नहीं बन सकता। सत्याग्रह की दृष्टि में धनसंचय चोरी के बराबर है। ईसा मसीह के कहने के मुताबिक धन और भगवान की उपासना एकसाथ नहीं की जा सकती। सुई की नोंक में से ऊंट चला जाय; लेकिन भगवान के साम्राज्य याने आत्मराज्य में मालदार आदमी नहीं जा सकता। गांधीजी ने भी दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के अपने एक अनुभव का जिक्र करते हुए कहा था कि धनसंचय

का त्याग किये बग़ैर कोई व्यक्ति सत्याग्रही नहीं बन सकेगा और यही वजह है कि सत्याग्रही क्रान्ति में निर्धन, दरिद्री लोग जितने काम में आये है; उतने धनिक नहीं आ सकते अर्थात् सुखाभिलाषी धनिकों का गुलाम बना लोकतन्त्र और अपनी स्वैर वासनाओं से पैदा होनेवाला व्यक्ति-स्वातन्त्र्य सत्याग्रह का ध्येय नहीं बन सकता। धनिकों के स्वैराचार से निर्मित आर्थिक अराजकता उनके समाज की पूर्णावस्था का स्वरूप नहीं था, बल्कि वासनाओं के संयम से प्राप्त होनेवाला आत्मराज्य ही उनके कल्पित समाज की पूर्णावस्था थी। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए यूरोप की जनता की तरह धनिक वर्ग का नेतृत्व कबूल न करके अपरिग्रही सत्याग्रही वर्ग की नेतृत्व कबूल करने की उनकी मान्यता थी।

ग्रामोद्योग का संगठन गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। पहले-पहल गांधीजी ने खादी का आन्दोलन ही हाथ में लिया था; लेकिन आज उसका विकास ग्रामोद्योगों के संगठन में हुआ है। पुराने ज़माने में हरेक देहात उद्योगों में आत्मनिर्भर होता था और उद्योगों की इस नींव पर वहां की परम्परागत सभ्यता टिकी हुई थी। ब्रिटिशों की हुकूमत में ग्रामोद्योग तहस-नहस हो गये। कच्चा माल विदेशों में जाने लगा और विदेशों की बनी-बनाई चीजें देहातों में घुसने लगीं। इससे व्यापारी लोग देहातों में माल खरीदते तथा बेचते समय किसान को लूटने लगे। धीरे-धीरे देहाती उद्योग नष्ट होने लगे और खेती के अलावा वहां कोई दूसरा व्यवसाय न रहा। कृषि पर निर्भर लोगों की तादाद बढ़ने लगी, जिससे खेतों के छोटे-छोटे टुकड़े हुए और सालभर पसीना बहाकर भी किसान को पेट भरना दूभर हो गया। नकदी में लगान वसूल करने का कारगर रास्ता अंग्रेजों ने निकाला जिससे किसान सस्ते में अनाज बेचने के लिए मज़बूर होने लगे, और दूकानदारों को उन्हें लूटने का और ज़्यादा अवसर मिलने लगा। इस तरह कानून से किसानों की लूट हो रही थी। केवल पचास वर्षों में हमारे देहातों का तेज चला गया। देहाती दूकानदार विदेशी पूंजीपति का दलाल बन गया और काश्त पर जीनेवाले किसान का दुगना शोषण होने लगा। वह कर्ज के बोझ से दबने लगा। दूकानदारी और साहूकारी ये दो नये धंधे पनपने लगे और इनके संकीर्ण व्यवहार में कानून के जो

पेचीदे सवाल पैदा होते थे उनको सुलझानेवाला वकीलों का नया वर्ग हरेक इलाके में बढ़ने लगा। दूकानदारों, साहूकारो एवं वकीलों के फन्दों में फंसकर किसान अपनी जमीनें गिरवी रखने लगा। रहननामे कानूनी मार्ग से सस्ती दर के बिक्री-नामे बनने लगे। देहातों की इस प्रकार की बर्बादी को देखकर महात्मा गांधी को लगा कि अंग्रेजी संस्कृति शैतानों की संस्कृति है और उनके द्वारा प्रस्थापित रेल, तार, डाक आदि भी गरीब प्रजा को लूटने के शैतानी साधन हैं।

स्वदेशी-आन्दोलन के फलस्वरूप जिस कारखानेदारी का जन्म हुआ, उससे भी देहात की दरिद्रता एवं बेकारी दूर न हुई, उलटे बढ़ती गई। कारखानेदारी से मुट्ठीभर लोगों को ही रोजगार मिल सकता था। उससे वे आर्थिक दासता में फंस जाते थे और नैतिक स्तर से गिर जाते थे। यह सब देखकर ही गांधीजी ने अपने स्वदेशी-आन्दोलन को ग्रामोद्योगों के संगठन का रूप दे दिया। ब्रिटिश राज्य के कारण देहात में जिनके काश्त से जुड़े हुए धन्धे नष्ट हो गये थे या पूंजीवाद के कारण जो अपने स्वतन्त्र धन्धे खो बैठे थे, उन किसानों तथा स्वतन्त्र व्यावसायिकों की उन्नति करना ग्रामोद्योग का ध्येय है। समाजवादी पक्ष के जन्म के पहले ही गांधीजी ने यह सत्य जनता के हृदय पर अंकित कर दिया था कि देश के मिलमालिकों व पूंजीपतियों की रक्षा करने से भारतीय जनता का उद्धार नहीं हो सकता। उनके सत्याग्रह-दर्शन में इस तरह की पूंजीवादी समाज-रचना को कोई स्थान नहीं है। उन्हें संसार को यह जताना था कि भारत की आज़ादी हिन्दुस्तान की आम जनता की आर्थिक उन्नति का तरीका है और जनता की इस तरह की आर्थिक उन्नति करना ही भारतीय संस्कृति की नींव है। हरेक समाज की संस्कृति की नींव उसकी आर्थिक तथा औद्योगिक रचना पर निर्भर होती है, इस तत्व को गांधीजी खूब अच्छी तरह जानते थे और इसीलिए भारतीय संस्कृति की नींव के तौर पर ग्रामोद्योगों का उल्लेख करते थे। गांधीजी ने स्वदेशी-आन्दोलन को जो स्वरूप दिया, उससे यह सिद्ध होता है कि भारत की राजनीति तथा अर्थनीति को वह पूंजीवादियों के चंगुल से बचाना चाहते थे।

यूरोप में और खास करके इंग्लैंड तथा फ्रांस में पूंजीवाद पहले बहुत

कुछ बढ़ा और उसी के कारण वहां लोकतन्त्र की प्रस्थापना हुई। यह काम वहां के मध्यमवर्ग से निकले व्यापारियों व साहूकारों ने किया। आगे चलकर यही व्यापारी-साहूकार-वर्ग मिलमालिकों के पूंजीपति-वर्ग में बदल गया। यह सही है कि अपने देश में लोकतन्त्र स्थापित होने के बाद किसानों व आम जनता के साथ इन लोगों ने ग़द्दारी की और लोकतन्त्र को पूंजीवादी रूप दे दिया। लेकिन साथ ही संसार के पिछड़े देशों को जीतकर उनको लूटना शुरू कर दिया। इस लूट का कुछ हिस्सा जनता को बख्शकर अन्य देशों की हालत के मुकाबले में अपनी जनता की हालत कुछ अच्छी रखी। जिससे इंग्लैंड तथा फ्रांस की जनता वहां के धनिक-वर्ग की दबैल बनी। विजित राष्ट्रों से आनेवाली इस लूट को जारी रखने में उन्हें अपना भला मालूम होने लगा जिससे धनिकशाही के खिलाफ विद्रोह करने के लिए वे तैयार नहीं थे। वे सोचते थे कि कुछ भी हो, अन्य देशों से अपना जीवन-स्तर ऊंचा है और उसे वैसा रखने में देश की पूंजीशाही मदद कर रही है। लेकिन भारत की पूंजीशाही ने न ऐसा कोई विक्रय किया है, न ऐसा कुछ करने की उसमें क्षमता या सम्भावना ही है। हिन्दुस्तान-जैसे तीस-पैंतीस करोड़ के देश को लूटकर इंग्लैंड के चार-पांच करोड़ लोगों के जीवन-स्तर को कुछ ऊंचा उठाने में उसे सफलता मिली है। लेकिन इसी मार्ग का अनुसरण करके यहां की आम जनता के जीवन-स्तर को उठाना पूंजीवाद के लिए असम्भव है। हिन्दुस्तान की आम जनता की भूख के सवाल को ताक पर रखकर कोई भी वर्ग हिन्दी राष्ट्र का नेतृत्व नहीं कर सकेगा। इस बात में गांधीवाद व समाजवाद दोनों एकमत हैं। भारतीय कांग्रेस ने गांधीजी की सलाह मानकर अपने राष्ट्रीय झण्डे पर चरखे को अंकित किया और इस बात को क़बूल कर लिया कि यूरोपीय पूंजीवाद या साम्राज्यवाद का वह अनुकरण नहीं करेगी; क्योंकि उससे देश के करोड़ों लोगों की भूख का सवाल हल नहीं हो पाता।

आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म परतन्त्र अवस्था में हुआ। अपने राष्ट्र का वैभव बढ़ाने के निमित्त साम्राज्य-विस्तार उसका ध्येय नहीं था, बल्कि विदेशी हुकूमत से आज़ाद होना ही उसका शुरू से आजतक का ध्येय रहा है। इस अर्से में भारत में वेदान्त का पुनरुज्जीवन हुआ, वह भी प्रस्थापित

राज्यसत्ता का समर्थन करने के लिए नहीं, बल्कि प्रस्थापित राज्यसत्ता को उखाड़ फेंकने व स्वराज्य-स्थापना करने के प्रयत्नों में बढ़ावा देने के लिए हुआ। 'राजाज्ञा ही अपने अन्तरात्मा की आज्ञा है और राज्यसत्ता से दी गई सजा के माने हैं अपनी आन्तरिक प्रेरणा या न्यायबुद्धि का उल्लंघन करने से प्राप्त दुःख'—हेगल की यह राजनैतिक उपपत्ति आधुनिक भारत के वेदान्त में पैदा नहीं हुई। इसके विपरीत आधुनिक भारत के वेदान्त में से यह एक क्रान्तिकारी आध्यात्मिक राजनैतिक उपपत्ति जन्मी कि अपनी अन्तरात्मा के आदेश का पालन करने के लिए प्रस्थापित राजसत्ता के अन्यायी बन्धनों को तोड़ना हमारा आध्यात्मिक कर्तव्य है। इसीमें से सत्याग्रह का निःशस्त्र क्रान्तिशास्त्र खड़ा हुआ। इतना ही नहीं, बल्कि आधुनिक भारत में जो सशस्त्र क्रान्तिशास्त्र था, वह भी वेदान्त के आधार पर परिपुष्ट हो सका था, ऐसा सबूत इतिहास दे रहा है। आधुनिक भारत के इस इतिहास को नज़र-अन्दाज़ करके, जर्मनी के हेगल के आध्यात्मवाद से क्रान्ति को रोकने-वाला क्रान्ति-विरोधी तत्वज्ञान जन्मा, इसलिए हिन्दुस्तान में भी वैसा ही होगा ऐसा कहना ऐतिहासिक दृष्टि से सुसंगत या तर्कसम्मत नहीं मालूम होता। भारतीय वेदान्त का आज का स्वरूप क्रान्तिवादी है और हेगल के क्रान्ति-विरोधी अध्यात्मवाद से वह पूर्णतः भिन्न है। इटली में मैजिनी ने जिस राष्ट्रवाद की नींव डाली वह भी आध्यात्मिक और लोकतन्त्रात्मक ढंग का था, लेकिन थोड़े अर्से में इटली के राष्ट्रवाद ने सरंजामशाही राष्ट्र-वाद का रूप ले लिया और हालांकि इसके बाद इटली स्वतन्त्र हुआ, फिर भी मैजिनी जिस तरह का आध्यात्मवाद लाना चाहते थे वह वहां नहीं आ सका। मैजिनी को जो लोकतन्त्रात्मक क्रान्ति अभिप्रेत थी वह इटली में न हुई। मैजिनी की तरह यद्यपि गांधीजी अध्यात्मवादी थे फिर भी वे सशस्त्र क्रान्तिवादी नहीं थे। आम जनता के हाथों में शस्त्र देकर लोकतन्त्रात्मक क्रान्ति होने का गैरिबाल्डी का विश्वास गांधीजी को मान्य नहीं था। गांधीजी का विचार था कि अगर नरेशों या सरमायेदारों के राजदरबारी षड्यन्त्रों से या उनके मातहत राजनीतिज्ञों द्वारा आधुनिक भारत का निर्माण हुआ तो यहां लोकतन्त्र स्थापित होने के बदले सामन्तशाही का आसन जम जायगा। उनके मतानुसार भारतीय लोकशाही का जन्म आम

जनता को हथियार देकर नहीं, बल्कि उसका आत्मबल संगठित करने से और उससे निर्माण होनेवाले सर्वव्यापी असहयोगी युद्ध से या शान्तिमय कानून-भंग से होगा। भारतीय स्वराज्य की रक्षा के लिए वह ब्रिटिशों की मदद जरूरी नहीं मानते थे। उनका कहना था कि हिन्दी जनता में आत्मबल के संगठन से जो लोकतन्त्र बनेगा वह बाहरी हमलों के अलावा भीतरी तानाशाही व साम्राज्यवादी प्रवृत्ति से सफलतापूर्वक अपनी रक्षा कर सकेगा। इसीलिए करीब तीस साल तक सत्याग्रह की दीक्षा लिये हुए क्रांति-कारियों के नेतृत्व में आम जनता का आत्मबल याने शान्तिमय प्रतिकार की शक्ति जुटाने की कोशिश गांधीजी ने की। इस कार्य के आधार पर भारतीय जनता ने अंग्रेजों से अपनी आखिरी लड़ाई को भी चलाया। इससे समस्त संसार की राजनीति में आज इस अहिंसात्मक क्रान्ति को महत्व मिल रहा है।

मानव-संस्कृति तानाशाही व पूंजीवाद से ऊब गई है। यूरोप के इति-हास से यह सिद्ध हो चुका है कि क्षात्रवृत्ति तथा वैश्यवृत्ति के अनियन्त्रित संगठन से सही लोकतन्त्र का निर्माण नहीं हो सकता। जनता के ब्रह्मतेज या आत्मबल को छोड़कर सिर्फ शस्त्र और द्रव्यबल पर खड़ी यूरोपीय संस्कृति आज नष्टप्राय हो रही है। यूरोप में सुख-शान्ति पैदा करने के लिए वहां की जनता का आत्मबल संगठित करना और शान्तिमय प्रत्यक्ष प्रति-कार से सही लोकसत्ता व समाजसत्ता की स्थापना करना ही एक मार्ग है। लेकिन उसके लिए आवश्यक आत्मबल, इस मार्ग से नेतृत्व करने के लिए जरूरी तपोनिष्ठ नेता और उसकी आज्ञा में आम जनता को संगठित करके आत्मबल के सहारे आर्थिक व राजनैतिक अन्यायों का प्रतिकार करने की तालीम जनता को देनेवाला सत्याग्रही वर्ग आज यूरोप में नज़र नहीं आ रहा है, जिससे अपनी संस्कृति की गिरावट को रोकने में उनके सफल होने की कोई आशा नहीं है। यूरोपीय नेतृत्व का ज़माना पहले जंग के बाद ही मिट चुका है। अब भारतीय नेतृत्व का समय आनेवाला है, ऐसा भारत के सत्याग्रही क्रान्तिकारियों को लग रहा है।

भारतीय राष्ट्रवाद शुरू से क्षात्रवृत्ति या वैश्यवृत्ति पर आधारित नहीं रहा। गांधीजी का यह आध्यात्मिक, राजकीय व सामाजिक सिद्धान्त है

कि कोई भी राज्य-संस्था सम्पूर्ण न्याय की प्रस्थापना नहीं कर सकती और इसीलिए दण्डहीन समाज-रचना या राज्यसंस्था का अत्यन्त अभाव ही मानव-समाज की पूर्णावस्था है। आजतक भारत एक तरह की राष्ट्रीय क्रान्ति में संलग्न रहा और इसी अवस्था में सत्याग्रह-तत्वज्ञान का विकास हो रहा था, जिससे आजतक सामन्तशाही व पूंजीवाद के खिलाफ खुला मुकाबला करने के लिए सत्याग्रही शक्ति कभी खड़ी न रही। इसलिए कुछ लोग यह आक्षेप कर सके कि सत्याग्रह-तत्वज्ञान सरमायेदारों व पूंजी-वादियों का दबैल है। लेकिन यह सरासर ग़लत है। यूरोप की तरह अगर भारत आज़ाद होता और पूंजीवाद व लोकशाही के दमनचक्र से आम जनता को रौंदा जाता तो सारे संसार को दिखाई देता कि सत्याग्रही तत्व-ज्ञान इस दमनचक्र के खिलाफ खुला विद्रोह कर रहा है। जिससे सारे संसार को विश्वास हो जाता कि सत्याग्रह-दर्शन सच्ची लोकसत्ता व समाजसत्ता का हामी है।

यह बात कई बार स्पष्ट कर दी गई थी कि हिन्दुस्तान में जिस स्वराज्य की स्थापना होगी, वह प्रजासत्तात्मक होगा व उसमें नरेश व पूंजीपति रहेंगे भी तो वे महज जनता के सेवकों के तौर पर रहेंगे। शुद्ध बौद्धिकवाद की दृष्टि से, समाज में सरमायेदार, जमींदार व कारखानेदार वर्ग होने ही नहीं चाहिए, ऐसा कहनेवाले समाजवादी तत्वज्ञान को गांधीजी स्वीकार नहीं करते थे। उनके मतानुसार धनिक वर्ग का स्वामित्व तो रहता ही नहीं। विश्वस्त रूप में भी वे कबतक रहें अथवा समाज ने जो थाती उन्हें सौंपी है, वह उनसे कब पूरी तरह वापिस ले ली जाय, इसका निर्णय समय-समय पर तत्कालीन लोकमत के अनुसार किया जाय, यह प्रजासत्ता का सिद्धान्त भी सत्याग्रह-दर्शन में सन्निहित है। गांधीजी यह नहीं मानते थे कि देश की सब ज़मीन,खदानों और कल-कारखानों आदि का राष्ट्रीयकरण किया जाय। उसके अनेक कारण हैं और इस प्रश्न की ओर देखने का उनका दृष्टिकोण शुद्ध बुद्धिवादी समाजवादियों से मूलतः ही भिन्न है। फिर भी यह मतभेद अथवा दृष्टि-भेद हमें समाजवाद के बिलकुल प्रतिकूल नहीं मालूम होता जैसाकि आम तौर पर लोग समझते हैं। जिस तरह उनके राजनैतिक तत्व-ज्ञान में राजा अथवा दण्डधारी राजसंथा के लिए अन्तिम दृष्टि से स्थान

नहीं है, उसी तरह उसमें निजी सम्पत्ति को भी अन्तिम दृष्टि से स्थान नहीं है। सत्याग्रही नीतिशास्त्र के अनुसार निजी सम्पत्ति चोरी के सिवा कुछ नहीं है। फिर धनिक, राजे-रजवाड़े या जमींदार, सरदार-वर्ग को समाज का ट्रस्टी या सेवक बनाया जाय, इस विचार में भी यह समाजवादी तत्व समाया हुआ है कि महज स्वामित्व के अधिकार के बल पर सामाजिक सम्पत्ति का उपभोग भी समाज की सेवा के बिना नहीं किया जा सकता। आज सत्याग्रही व समाजवादी पक्ष में जो मतभेद दिखाई देता है वह व्यावहारिक व ऊपरी है, कोई मूलभूत तात्विक स्वरूप का भेद नहीं है।

किसी भी सामाजिक व राजकीय सुधार करने की इच्छा रखनेवाले के मन में दो प्रवृत्तियां पैदा हो सकती हैं। एक यह कि पुरानी सामाजिक व राजनैतिक संस्थाओं के बाह्य रूप को कायम रखकर उन्हींके अन्दर नवीन तत्वों का प्रवेश किया जाय व उनके अन्तरंग में क्रान्ति कर दी जाय। लेकिन शुद्ध बुद्धिवाद की दृष्टि से यह गौण और बहुधा खतरनाक मालूम होती है। फिर भी इस ढंग से सामाजिक, धार्मिक या राजनैतिक संस्थाओं के अन्तरंग में क्रांति कराने या हो जाने के अनेक उदाहरण संसार के इतिहास में पाये जाते हैं। अंग्रेजों ने अपने राजसत्तात्मक राज्य-संगठन का अन्तरंग आमूल बदलकर इसे प्रजासत्तात्मक बना डाला। हमारे वेदान्त ने अपढ़ जातियों में रूढ़ मूर्तिपूजा को, अनेक देवताओं के विविध सम्प्रदायों को, बाह्यतः क्षति न पहुंचाते हुए सामान्य जनता में 'अहं ब्रह्माऽस्मि' के सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त के प्रचार का प्रयत्न किया। भागवत-धर्मी साधुसन्तों ने वर्णाश्रम-धर्म की पुरानी चौखट को बाहर से कायम रखकर गौतम बुद्ध की भूतदया, सामाजिक समता और अहिंसा का समर्थन किया और इसी क्रम को जारी रखकर महात्मा गांधी वर्णाश्रम-धर्म व रामराज्य—इन पुराने शब्दों के आधार पर बीसवीं सदी के अनुरूप सामाजिक समता व प्रजासत्ता का प्रचार भारतीय जनता में कर रहे थे। मतलब यह कि सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक संस्थाओं का मूल बाह्य-रूप कायम रखकर उनके अन्तरंग में क्रांति करने की एक सुधार-वृत्ति व पद्धति संसार के इतिहास में दिखाई देती है। यह वृत्ति अंग्रेजों व हिन्दू लोगों में अनेक वर्षों की परम्परा से चली आई है। श्रीकृष्ण, शंकराचार्य व भागवत-धर्मी साधु-सन्तों ने इसी वृत्ति का

अवलम्बन लेकर हिन्दू समाज का विस्तार किया। लोकमान्य तिलक व महात्मा गांधी ने सामाजिक, धार्मिक व आर्थिक विषयों में इसी वृत्ति का अवलम्ब लेकर विदेशी सत्ता के खिलाफ चलनेवाला राष्ट्रीय क्रान्ति का कार्य भारत के इतिहास में हद दर्जे तक पहुंचा दिया। हमारी संस्कृति में यद्यपि सर्वांगीण क्रान्ति करना आवश्यक था, फिर भी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के प्राप्त होने तक वह असम्भव था, इसीलिए सिर्फ राजनैतिक विषयों को छोड़कर अन्य सुधार-कार्यों में यह वृत्ति व पद्धति ग्रहण करना उन्हें आवश्यक व इष्ट मालूम हुआ। लोकमान्य तिलक व महात्मा गांधी के क्रान्तिवाद का और सामाजिक, धार्मिक या आर्थिक क्षेत्रों में नरम वृत्ति का यही एक खुलासा हो सकता है और यही उसका समर्थन है।

इस सुधार-वृत्ति से भिन्न एक शुद्ध बुद्धिवादी क्रांतिकारी वृत्ति है। प्राचीन भारत में गौतम बुद्ध ने इसीको अंगीकार किया था। हमें ऐसा लगता है कि आधुनिक भारत की सब समस्याएं इस बुद्धिवादी क्रांतिकारी वृत्ति का अवलम्ब लिये बिना नहीं हल हो सकेंगी। फिर भी यह बुद्धिवादी क्रान्तिकारी वृत्ति सशस्त्र न बनकर सत्याग्रही रह सकेगी और उसके वैसा रहने में भारत का सही हित और माहात्म्य है। आज ऐसी कोशिश समाजवादी नेता कर रहे हैं। पहला प्रयत्न व्यक्तिवादी था तो आज का समाजवादी है, इतना भेद यद्यपि दिखता है फिर भी दोनों प्रयत्नों का अन्तरंग एक ही है। बौद्धिक क्रांतिवादी वृत्ति फैलने से भारतीय संस्कृति की मूल प्रकृति नष्ट होगी, गांधीजी के सत्याग्रही पक्ष को समाजवादी पक्ष के बारे में ऐसा डर मालूम होता है। इसके विपरीत गांधीवादियों के प्रयत्नों से भारत के इतिहास का अंधानुकरण होने का व अपने तथा अपनी संस्कृति के पिछड़ जाने का डर समाजवादी पक्ष को लगता है। लेकिन ऐसे डर का अब कोई कारण नहीं है। हमारा मत है कि प्राचीन भारत की आत्मप्रेरणा का उद्धार करनेवाला पक्ष व बुद्धिवाद के सहारे हमारी व संसार के अन्य राष्ट्रों की संस्कृति की निर्विकार भाव से तुलना व अध्ययन करके आगे बढ़नेवाला पक्ष इनमें द्वैतभाव फैलने का या व्यावहारिक विरोध उत्पन्न होने का समय अब नहीं रहा है।

लोकमान्य तिलक, योगी अरविन्द व महात्मा गांधी के प्रयत्नों से भार-

तीय संस्कृति का उज्ज्वल पक्ष संसार के सामने ग्रा गया है। पश्चिमी संस्कृति के ग्रनिष्ट पक्ष को भी संसार पहचान चुका है। भारतीयों के हृदय में स्वतन्त्र इतिहास निर्माण करने की ग्रात्मप्रेरणा पूरी तरह जागृत हो गई है व उसके राष्ट्रवाद का ग्रनुकरणात्मक स्वरूप महात्मा गांधी का नेतृत्व ग्रहण करने के वाद नष्ट हो गया है। यह डर ग्रब वाकी नहीं रहा कि ग्राधुनिक भारत ग्राज या कल हमारे प्राचीन इतिहास का या संसार के किसी भी राष्ट्र के ग्राधुनिक इतिहास का ग्रन्धानुकरण करेगा। स्वतन्त्र इतिहास निर्माण करके संसार को नवसन्देश देने की ग्रात्मप्रेरणा उसमें जागृत हुई है। उसने ग्राज़ादी के ग्रान्दोलन में सत्याग्रह का जो ग्रपूर्व क्रान्तिशास्त्र निर्माण किया उसकी ग्रोर सारे संसार का ध्यान खिंच गया है तथा स्वतंत्र रूप से निर्माण करने की ग्रात्मप्रेरणा उसे है। समय ग्राया है कि उसकी ग्रात्मप्रेरणा शुद्ध बुद्धिवाद की दीक्षा ले ग्रौर ग्रकेले श्रीकृष्ण की ही नहीं, गौतम बुद्ध की परम्परा को भी वह ग्रपना ले।

भारत के ग्राज़ाद बन जाने पर देश के विचारशील लोगों का व राजनैतिक नेताग्रों का ध्यान इस प्रश्न पर केन्द्रित हुग्रा कि देश की सभ्यता को समाजवादी बनाने का काम ग्रब कौन ग्रौर किस तरह करेगा। भारतीय स्वातन्त्र्य को प्राप्त करने का श्रेय महात्मा गांधी तथा उनके सत्याग्रही तत्वज्ञान को मिल गया। ग्रब समाजवाद के बारे में गांधीजी का क्या रुख है, इसको समझने की ग्रावश्यकता हरेक महसूस करने लगा है। इसमें कोई ग्राश्चर्य नहीं कि लोगों तथा राजनैतिक नेताग्रों को ऐसी ग्राशाएं बंधी थीं कि जिस तत्वज्ञान के सहारे व जिस नेता के नेतृत्व में भारत को राजनैतिक ग्राज़ादी मिली, उसी के सहारे व मार्ग-दर्शन में शेष सामाजिक-ग्रार्थिक क्रान्ति का कार्य पूरा हो सकेगा। जबसे भारत में समाजवादी पक्ष स्थापित हुग्रा ग्रौर भारतीय जनता के सामने वह समाजवादी क्रान्ति के विचार रखने लगा तबसे गांधीजी कहते थे, "मैं भी एक समाजवादी ही हूं। सत्याग्रही क्रान्तिशास्त्र का उपयोग स्वतन्त्र भारत का राज्य समाजवादी बनाने के काम में हो सकता है।" यही विश्वास नौजवान समाजवादी कार्यकर्ताग्रों में वह पैदा कर रहे थे। १९४२ के ग्रान्दोलन के पहले, कांग्रेस के रामगढ़-ग्रधिवेशन में रखने के लिए श्री जयप्रकाश नारायण ने गांधीजी के पास एक

प्रस्ताव भेजा था, जिसमें स्वतन्त्र भारत में जिस समाजवादी राज्य की प्रस्थापना करनी है उसका पूरा ढांचा दिया था। गांधीजी ने उस प्रस्ताव पर अपनी सहमति प्रकट की थी। उसके बाद ८ अगस्त १६४२ के दिन जब सत्याग्रह-संग्राम का प्रस्ताव उन्होंने अखिल भारतीय कांग्रेस-समिति में रखा तब उन्होंने ऐलान कर दिया कि वह फ्रेंच तथा रूसी क्रान्ति से अधिक मूलगामी क्रान्ति की प्रेरणा लोगों को दे रहे हैं। ८ अगस्त के अपने भाषण को समाप्त करते हुए उन्होंने कहा, "मेरा विश्वास है कि विश्व के इतिहास में हमारे स्वातन्त्र्य-संग्राम से अधिक न्यायसंगत लोकतान्त्रिक संघर्ष कहीं नहीं हुआ है। जब मैं जेल में था तो श्री कार्लाइल-रचित फ्रांस की क्रान्ति का इतिहास मैंने पढ़ा और पण्डित जवाहरलालजी से मुझे रूस की क्रान्ति का कुछ हाल मालूम हुआ। मेरा यह विश्वास पक्का हुआ कि ये संघर्ष हिंसात्मक साधनों से किये जाने के कारण जनतन्त्र के आदर्श को प्राप्त करने में असफल रहे। जनतन्त्र की जो मेरी कल्पना है और जिसका आधार अहिंसा है, उसमें सबके लिए समता व स्वतन्त्रता होगी। प्रत्येक अपने भाग्य का स्वयं निर्माता होगा। इसी स्वातन्त्र्य-संग्राम के लिए मैं आज आपका आह्वान कर रहा हूं।"

१६४७ में जब भारत को आजादी मिलने की तिथि निश्चित हो गई, तब उन्होंने देखा कि स्वतन्त्र भारत में समाजवादी राज्य प्रस्थापित होना अटल है। इस समाजवाद की स्थापना अगर अहिंसा के आधार पर हुई तो समाजवादी संस्कृति यहां हमेशा के लिए टिक सकेगी, ऐसे विचार उन्होंने खुल्लमखुल्ला प्रकट किये थे।

एक फ्रेंच दोस्त को जवाब देते हुए गांधीजी ने कहा—"मुझे लगता है कि हिन्दुस्तान में समाजवादी राज कायम होकर रहेगा। मुझे आशा है कि हिन्दुस्तानी समाजवाद आरामकुर्सियों पर बैठकर उसूलों की डींग हांकनेवालों की चीज न रहेगा, बल्कि अमली शक्ल अख्तियार करेगा। इस समाजवाद का मकसद साफ और पूर्ण होना चाहिए, वर्ना हिन्दुस्तान की समाजवादी सरकार किसी अनिश्चित रास्ते चलने से नाकामयाब हो सकती है। मुझे तो खुद यही उम्मीद है कि हिन्दुस्तान का भावी समाज अहिंसा की बुनियाद पर खड़ा होगा। तभी समाजवाद हिन्दुस्तान में हमेशा कायम रह

सकेगा।"[1]

अगर भारत में स्थापित होनेवाला समाजवाद सत्य और अहिंसा के साधनों से लाने का प्रयत्न कांग्रेसियों या भारतीय समाजवादियों ने न किया तो देश की क्या दशा होगी, इसपर कांग्रेसजनों को सचेत करते हुए गांधीजी ने ७ मई १९४७ को लिखा, "तुम्हारा ध्येय सदा साफ और पूर्ण होना चाहिए और उसे प्राप्त करने मे अगर तुम लोगों ने सत्य और अहिंसा को पूर्णरूपेण न अपनाया तो जिस समाजवाद को तुम स्थापित करना चाहते हो, वह छिन्न-भिन्न होगा और जिस प्रकार ऊंचे पहाड़ से घाटी के बीच गिरनेवाले पदार्थ का नामोनिशान मिट जाता है, वैसे ही तुम्हारी दशा हो जायगी। अगर कांग्रेसजन या समाजवादी अपने उन ऊंचे आदर्शों पर कायम न रहें जिनकी ओर उनकी उत्तम परम्पराएं इंगित करती हैं तो देशभर में एक ऐसी क्रान्ति होगी जो साम्यवाद का मार्ग सुगम कर देगी। मैं उस दुखद घटना को देखूंगा नहीं; लेकिन मैं सावधान करता हूं कि अपनी गति-विधि को ध्यान से बढ़ाओ। ऐसा न हो कि आनेवाली सन्तति तुम्हें कोसे।"

ऊपर दिये गए उद्धरणों से पता चलता है कि स्वतन्त्र भारत की राजनीति कौन-सा रूप लेनेवाली है और उसमें अहिंसक समाज का निर्माण करनेवालों ने कौन-सा रुख अख्तियार करना है। राजनैतिक स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद अहिंसक समाज का निर्माण करके राज्य को अधिक-से-अधिक अहिंसक वृत्ति से चलाना, यही भारत की मुख्य समस्या है। इस देश में प्रगति करने की इच्छा रखनेवाले राज्य का निर्माण आर्थिक समता के आधार पर ही होना चाहिए। इसके बारे में गांधीजी को जरा भी सन्देह नहीं था। रचनात्मक लोकसेवा के जरिये नवसमाज का निर्माण करने की कोशिश करनेवाले अपने सत्याग्रही अनुयायियों को उन्होंने यह साफ कह दिया कि जबतक आर्थिक समता के आधार पर समाज नहीं बनता है तबतक 'अहिंसक समाज' तथा 'अहिंसक राज्य' जैसे शब्दों का कोई मतलब ही नहीं है। वह कहा करते कि आज की नई दिल्ली में दिखनेवाले महल और उन्हींके बाजू में बनी ग़रीबों की झोंपड़ियों में जो विषमता है वह स्वतन्त्र भारत में पल-

[1] हरिजन, १८ मई, १९४७

भर भी न टिक सकेगी, न टिकनी चाहिए। उनको यह साफ दिखाई देता था कि अगर देश के धनिकों ने अपनी सम्पत्ति को त्यागकर यह विषमता नष्ट न की तो आज या कल इस देश में अत्याचारी व रक्तरंजित क्रान्ति होगी। स्वतन्त्र भारत की राजनीति का सही रुख ऐसा होना चाहिए कि जिससे रक्तरंजित क्रान्ति टल जाय, देश की आर्थिक विषमता नष्ट हो और समता के आधार पर अहिंसक समाज और अहिंसा की दिशा में आगे बढ़नेवाले राज्य का निर्माण हो जाय। इसीलिए स्वतन्त्र भारत में जो कांग्रेसी-मन्त्रिमंडल बना उसके सूत्र उन्होंने पं० जवाहरलाल नेहरू के हाथ में सौंप दिये। इतना ही नहीं बल्कि वह चाहते थे कि जब पं० नेहरू स्वतन्त्र भारत के प्रधान मन्त्री बनेंगे और कांग्रेस के पुरानी पीढ़ी के सब नेता देश के कारोबार को संभालेंगे तब कांग्रेस का अध्यक्षपद आचार्य नरेन्द्रदेव या जयप्रकाश नारायण-जैसे समाजवादी दल के नेता को दे दिया जाय। लेकिन १६४७ के अन्त में गांधीजी ने जो दूरदर्शितापूर्ण सलाह दी थी, उसको पुरानी पीढ़ी के कांग्रेस-नेताओं ने नामंजूर किया जिससे गांधीजी की मृत्यु के बाद समाजवादी दल कांग्रेस से अलग हो गया। इस तरह कांग्रेस का समाजवाद की दिशा में अग्रसर होना रुक गया और कांग्रेस केवल राजनैतिक लोकतन्त्र व राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य की रक्षा करनेवाला राष्ट्रीय राजनैतिक दल बन गया। सामान्य जनता का हित करने के लिए स्थापित शासन से झगड़नेवाली तथा जनता की क्रान्ति-प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करनेवाली राष्ट्रीय संस्था एक सत्ताधारी राजनैतिक दल में बदल गई। अब लोगों को सामाजिक क्रान्ति के लिए प्रोत्साहित करके उसके बल पर क्रान्तिकारक राजनीति का चलाना उसके द्वारा हो सकने की कोई संभावना ही नहीं रही है।

स्वतन्त्रता मिलने पर यहां की राजनीति समाजवाद की ओर अग्रसर होगी, इसमें किसीको सन्देह नहीं था। दो महायुद्धों के बीच मानव-समाज की लोकशाही निष्ठा पर एक विकराल संकट आ पड़ा था। १६वीं सदी के मध्य में यूरोप में कॉर्ल मार्क्स ने समाजवादी ध्येय को क्रान्तिकारक रूप दिया था। फिर भी १६१७ में रूस में बोल्शेविक क्रान्ति हुई। उस समय तक इस क्रान्तिकारक समाजवाद का जागतिक राजनीति में कोई खास स्थान न था। लेकिन बोल्शेविक क्रान्ति के बाद सभी देशों में क्रान्तिकारी समाज-

बादी शक्तियां दिखाई देने लगीं। यह क्रान्तिकारी समाजवाद मार्क्स-प्रणीत वैज्ञानिक समाजवाद के रूप में सारे संसार में फैलने लगा। हरेक देश के शिक्षित नौजवान इस तत्वज्ञान की ओर खिचने लगे। लेकिन शीघ्र ही लोगों को अनुभव हुआ कि मार्क्स का क्रान्तिशास्त्र लोकतन्त्र के लिए विघातक तथा तानाशाही के लिए उपकारक है। मार्क्सवाद जिस समाजवादी क्रान्ति को चाहता था, उसको दबाने के लिए यूरोप में फासिज्म तथा नात्सीवाद के नाम पर एकदलीय तानाशाही के नये नमूने तैयार होने लगे। यह तानाशाही राष्ट्रीय वृत्ति, धर्मभावना व आध्यात्मिक संस्कृति का बहाना बनाकर समाज में अपनी जड़ें जमा रही थी। वास्तव में यह फासिस्ट तानाशाही समाजवाद तथा लोकतन्त्र-जैसे प्रगतिशील तत्वों को मिटाने की इच्छा रखने-वाली एक प्रतिगामी शक्ति थी: १६३० के बाद पूरे यूरोप में उसका नारा बुलन्द था। यूरोपीय साम्राज्यशाही के पंजे से अपने को मुक्त करने की कोशिश करनेवाले एशियाई देशों में भी यह प्रतिगामी राष्ट्रीय तानाशाही प्रिय होने लगी थी। १६३० से १६३६ के बीच एक सिरे पर कम्यूनिस्ट तानाशाही थी तो दूसरे पर फासिस्ट तानाशाही, और इन दोनों के बीच में लोकशाही संस्कृति से लोगों की निष्ठा डांवाडोल हो रही थी।

१६२० से १६४० तक की अवधि में भारत में कम्यूनिस्ट-तत्वज्ञान की चर्चा ज़ोरों पर थी। १६३३-३४ के बाद मुस्लिम लीगियों की फिरकापरस्ती और उसके विरोध में संगठन करनेवाली हिन्दू राष्ट्रवादी निष्ठा फैलने लगी थी। ये दो फिरकापरस्त गिरोह धर्म-भावना व राष्ट्र-भावना को विकृत बनाने में संलग्न थे। यूरोप में कम्युनिज्म व फासिज्म के बीच जो रस्सा-कशी हो रही थी उसकी एक तरह से यह नकल ही थी। लेकिन ये प्रवृत्तियां हिन्दी राजनीति में प्रभावशाली न बन सकीं; क्योंकि १६२० से १६४० तक हिन्द की राजनीति का प्रवाह कांग्रेस तथा गांधीजी के निःशस्त्र क्रान्ति के बहाव के पीछे दौड़ रहा था।

जब अन्यत्र में लोकशाही निष्ठा दुर्दिनों के फेर में चक्कर खा रही थी तब इधर हिन्दुस्तान में गांधीजी लोगों के आत्मबल को तथा सत्यनिष्ठ अहिंसावृत्ति को जगाकर संसार की लोकशाही एवं समाजवाद को क्रान्ति-कारी अहिंसा का अधिष्ठान दिला रहे थे। गांधीजी की क्रान्तिकारी अहिंसा

में मानव-संस्कृति में जो लोकशाही व समाजवाद के पुरोगामी ध्येय निर्मित हुए हैं, उनको सुप्रतिष्ठित तथा चिरंजीव बनाने का रास्ता मिलनेवाला है, इस बात को पहले-पहल भारतीय युवकों के नेता पं० जवाहरलाल नेहरू ने महसूस किया। इसके दरमियान भारत में जो क्रान्तिकारक राजनैतिक शक्ति पैदा हुई थी, उसको १९२० से १९४० के बीच महात्मा गांधी तथा पं० जवाहरलाल ने लोकशाही समाजवाद के मार्ग पर लाया, ऐसा कहने में ज़रा भी अत्युक्ति नहीं होगा।

१९३४–३५ के बाद कांग्रेस में एक समाजवादी दल कायम हुआ। यह कहना पड़ेगा कि इस पक्ष की स्थापना से हिन्दी राजनीति में समाजवाद का ध्येय बद्धमूल हो गया और रूस से स्फूर्ति पानेवाले कम्युनिस्ट पक्ष के अलावा दूसरा समाजवादी क्रान्तिकारी दल भारत में संगठित होने लगा। यद्यपि यह दल भी मार्क्सवाद को मानता था फिर भी हिन्दुस्तान में कांग्रेस के द्वारा चलनेवाले आन्दोलन और गांधीजी का राष्ट्रीय नेतृत्व इन दो बातों के बारे में इस पक्ष का रुख कम्युनिस्टों से हमेशा ही भिन्न रहा। १९३० में जो सत्याग्रह-आन्दोलन गांधीजी ने चलाया था उसमें सम्मिलित नौजवानों ने ही इस पक्ष की नींव डाली थी। इस दल की मान्यता थी कि कांग्रेस व गांधीजी का नेतृत्व ये दो हिन्दी राजनीति की पुरोगामी शक्तियाँ हैं, और उनसे एकात्म होकर ही भारतीय समाजवादी दल को काम करना चाहिए। पं० जवाहरलाल नेहरू स्वयं समाजवादी विचार के नेता थे और गांधीजी भी समाजवादी ध्येय के अनुकूल थे। इतना ही नहीं, बल्कि तरुणों के इस दल में से कुछ नेताओं को कांग्रेस की कार्यसमिति में लेकर उनके द्वारा देश के नौजवानों के हृदय के भाव समझकर उसमें जो सत्यांश हो उसको स्वीकार करके अपनी राजनीति का विकास करने का तरीका उन्होंने जारी किया था। साथ ही इस बात के लिए वह सदैव सचेत थे कि मार्क्सवाद जिस सशस्त्र क्रान्ति को मंजूर करता है वह वृत्ति इस नये दल के द्वारा कांग्रेस में दाखिल न होने पाये। भारतीय क्रान्ति का अहिंसात्मक रूप कायम रखकर समाजवादी ध्येयों का प्रचार करनेवाले दल के संगठन में उन्होंने कभी बाधा न डाली, उलटे उसकी हरदम सहायता ही की।

पं० नेहरू तथा महात्मा गांधी की राजनीति के इस तरह समाजवाद

के अनुकूल होने से कांग्रेस में नौजवानों का समाजवादी दल प्रतिष्ठा पाने लगा और कुछ लोगों को आशा होने लगी कि आजादी के बाद समाजवाद की स्थापना करने का ध्येय कांग्रेस कबूल कर लेगी; लेकिन इस बारे में निश्चित रूप से कुछ कहना असम्भव था। कई विचारशील लोगों को लगता था कि अहिंसक क्रान्ति के मार्ग से राष्ट्रीय स्वातंत्र्य मिलने पर ही यह वृत्ति राष्ट्र में टिक सकेगी और अगर उसमें वह असफल रही तो सैद्धान्तिक दृष्टि से अहिंसक क्रांति का ध्येय श्रेष्ठ होने पर भी व्यवहार्य नहीं होगा और भारत को उस दिशा में प्रयत्न करना छोड़ना पड़ेगा। कांग्रेस-कार्यकर्त्ताओं में भी इसी तरह की संदिग्ध वृत्ति गांधीजी की अहिंसक क्रान्ति के सम्बन्ध में हो तो कोई आश्चर्य नहीं। समाजवादी दल में शामिल होनेवाले नौजवान भी अहिंसक क्रान्ति के बारे में मौन या शंकाशील थे। उनका वैसा होना स्वाभाविक ही था।

गांधीजी की अहिंसक क्रान्ति की निष्ठा स्वयंभू व अविचल थी और हर-दम विकसित होती गई। गांधीजी से जितनी मात्रा में लोग एकमत होते उनके हृदय में उतनी ही मात्रा में अहिंसक क्रान्तिनिष्ठा दृढ़तर बनती गई। भारतीय राजनीति में गांधीजी के बढ़ते हुए प्रभाव और यश पर भारतीय जनता की क्रान्तिकारी वृत्ति का अहिंसक होना निर्भर था अर्थात् कांग्रेस के अन्तर्गत जो समाजवादी दल प्रस्थापित हुआ था उसकी अहिंसक क्रान्ति की निष्ठा उसकी राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-आन्दोलन में मिलनेवाली कामयाबी पर निर्भर थी। १९६२ के आन्दोलन में क्रान्तिकारी अहिंसा-वृत्ति की भारतीय जनता के हृदय की निष्ठा डांवाडोल हो रही थी। फिरभी उसका असर उस आन्दोलन पर था जिससे आगे चलकर अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने महात्मा गांधी व कांग्रेस से समझौता करके आजादी की समस्या को हल कर दिया। यह सब देखकर अगर अहिंसक क्रान्ति के बारे में समाजवादी दल को अधिक विश्वास हो गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं ! गांधीजी ने भारतीय स्वातन्त्र्य का आन्दोलन अपनी अहिंसा की नीति से कामयाब कर दिखाया और मार्क्सवाद पर भरोसा रखकर जिन्होंने समाजवादी दल की स्थापना की थी, उनके हृदय में भी अहिंसक क्रान्तिवाद की प्रेरणा जमाई। इस तरह प्रसुप्त अहिंसा-वृत्ति को जागृत करके गांधीजी ने उसे क्रान्तिकारक प्रतिष्ठा

दिलवा दी। इसी वजह से भारत के आज़ाद होने पर यद्यपि समाजवादी दल कांग्रेस से अलग हो गया है, फिर भी, कांग्रेस-दल और समाजवादी दोनों इस बात में एकमत हैं कि भारतीय समाजवादी क्रान्ति अहिंसा के मार्ग से ही की जायेगी।

भारतीय समाजवादियों ने निःसंदिग्ध रूप में इस नीति को कबूल कर लिया जिससे गांधीवाद व समाजवाद के बूते पर दो राजनैतिक पंथ बनने की संभावना नहीं रही और इन दोनों निष्ठाओं के लोगों को अपने में समा लेनेवाला और अहिंसा के जरिये लोकतंत्रात्मक समाजवाद का ध्येय हासिल करने के लिए कोशिश करनेवाला एक ही प्रजसमाजवादी पक्ष आज भारत में बन गया है। यह कहना होगा कि आज राजनैतिक मंच पर कांग्रेस तथा प्रजासमाजवादी पक्ष के दो अखिल भारतीय दल हैं और दोनों को गांधीजी की अहिंसात्मक राजनीति की विरासत मिल गई है। कांग्रेस का नेतृत्व पं० जवाहरलालजी कर रहे हैं और उस पक्ष ने अभी तक समाजवाद का ध्येय प्रकट रूप में मंजूर नहीं किया है। लेकिन उसकी यह निश्चित नीति है कि अपने देश को समाजवाद की दिशा में अग्रसर होना होगा और यह काम लोकतंत्रात्मक तथा अहिंसक साधनों से ही पूरा होना चाहिए। ऊपरी निगाह से देखने पर लोगों को उलझन होती है कि अगर लोकशाही, समाजवाद तथा अहिंसक क्रांति या सत्याग्रह के सिद्धान्त को दोनों पक्ष मानते हैं तो दो दल बनाने की क्या जरूरत थी ? लेकिन जब हम गहराई में जाकर सोचते हैं तब यह स्पष्ट होता है कि भले ही पं० नेहरू कांग्रेस के नेता बनाये गए हों; लेकिन उस पक्ष की स्थापना और परवरिश समाजवादी निष्ठा पर नहीं हुई है। जिससे उस पक्ष की समाजवाद में पूरी निष्ठा अभी तक नहीं है। इसके विपरीत समाजवाद के प्रतिकूल विचार के लोग उसमें काफी तादाद में घुस गये हैं और समाजवाद की दिशा में कदम उठाते वक्त, उसका विरोध करते हैं। वे समाजवाद की स्थापना को जितनी देर तक मुल्तवी रखा जा सके, रखने की कोशिश करते हैं। समाजवादी पक्ष समाजवाद की प्रस्थापना के ध्येय को लेकर ही बना है। उस पक्ष ने सोच-समझकर अनत्याचारी क्रांति के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। अपने देश को उस दिशा में आगे बढ़ाने के बारे में उसके नेताओं के विचार तथा योजनाएं निश्चित

हैं। उनको कांग्रेस की नीति पर्याप्त मात्रा में उपयोगी नहीं मालूम होती। उन्हें लगता है कि कांग्रेस के पास ऐसी कोई नीति नहीं है जिससे ठीक दिशा में निष्ठापूर्वक वे आगे बढ़ सकें। कांग्रेस के प्रतिनिधियों का जिस विधान-परिषद् में बहुमत था उसीने निजी संपत्ति के बारे में जो नीति निर्धारित की, वह समाजवाद की दिशा में राष्ट्र को बढ़ने से रोकेगी। इसीसे समाजवादी पक्ष के लोग ऐसी दलील करते हैं कि कांग्रेस को समाजवाद की स्थापना के लिए कोई उत्साह नहीं है। इस दलील का प्रतिवाद करना कठिन है। इसलिए, जो यह मानते हैं कि समाजवाद की प्रस्थापना के बग़ैर हमारे देश में आर्थिक सुधार नहीं होगा, उनके सामने दो ही मार्ग रह जाते हैं: कांग्रेस की ओर से अपने सिद्धान्त मंजूर करवाना या कांग्रेस से अलग होकर अपना स्वतन्त्र दल संगठित करना। जब भारतीय समाजवादियों ने देखा कि न तो कांग्रेस समाजवादी नीति कबूल करेगी, न समाजवादी दल को कांग्रेस के अंतर्गत संगठित करने का अवसर देगी, तब अपने सिद्धान्तों की रक्षा तथा संवर्द्धन के लिए कांग्रेस से अलग होने का फैसला उन्हें करना पड़ा। लोकशाही तथा अहिंसक क्रांति की जो विरासत गांधीजी की तरफ से उन्हें मिली थी उसीके आधार पर उन्होंने एक नया अखिल भारतीय पक्ष संगठित किया। लोकतंत्रात्मक मार्गों से व अहिंसक रीति से हमारे देश को अग्रसर होना हो तो आज या कल इस पक्ष के नेतृत्व को कबूल करना होगा।

इन दो पक्षों के अलावा अहिंसात्मक क्रांति पर भरोसा न रखकर शास्त्रीय समाजवाद का ठेकेदार कम्युनिस्ट पक्ष भी देश में है। आजतक भारतीय राजनीति में यह पक्ष अपनेको प्रभावशाली नहीं बना सका। अगर गांधीजी के नेतृत्व में भारत स्वतन्त्र न होता तो शायद यह पक्ष पनपता। आजादी से बाद भी अगर अहिंसक लोकतन्त्र की रीति से समाजवाद की प्रस्थापना करनेवाला पक्ष न होता तो सम्भव था कि यहां के क्रांतिकारी अधिक मात्रा में कम्युनिस्टों की ओर आकर्षित हो जाते। हमारा विश्वास है कि इस देश में जो अहिंसक क्रांतिनिष्ठा है वह सत्याग्रही समाजवाद की निष्ठा में परिणत होकर भारत में समाजवाद स्थापित करने में सहायक होगी। सामाजिक तथा आर्थिक रचना में क्रांति लाने के सम्बन्ध

में जो मतभिन्नता व वृत्तिभिन्नता है उसके कारण कांग्रेस, प्रजासमाजवादी तथा कम्युनिस्ट ये तीन पक्ष बने हैं। इनके अलावा कुछ फिरकापरस्त दल भी देश में हैं। पाकिस्तान बन जाने से तथा पृथक् निर्वाचन-अधिकार रद्द होकर एक मतदान-पद्धति चालू हो जाने से अब फिरकापरस्त दलों को चलाना मुश्किल होगा। इससे आज राजनैतिक क्षेत्र में न उनकी कोई हस्ती है, न कार्य। प्रान्तों में अपनी-अपनी जमातों के हित के दावेदार बने जो छोटे-छोटे फिरकापरस्त गिरोह हैं, उनको भी राजनैतिक दृष्टि से महत्व मिलने की कोई संभावना नहीं है।

यूरोप के लोकशाही राज्यों के इतिहास से ऐसा महसूस हुआ है कि लोकतन्त्रात्मक राज्य के सुचारु रूप से चलने की दृष्टि से देश में दो प्रबल संगठित पक्षों का होना लाभदायी होता है। लोकशाही शासन को चलानेवाले पक्षों की निष्ठा लोकतन्त्र में होना भी जरूरी है। अगर इस लोकशाही को समाजवाद में परिणत करना है तो धन का सामाजिक स्वामित्व तथा वर्गहीन समाज-रचना का ध्येय इन पक्षों के सामने होना चाहिए। ब्रिटेन के समाजवादी धन का सामाजिक स्वामित्व का सिद्धान्त केवल बुद्धि-बल पर सारे समाज से स्वीकृत कराके समाजवादी लोकशाही का निर्माण करने की कोशिश कर रहे हैं। अबतक वहां के सब पक्षों ने इस ध्येय को मंजूर नहीं किया है। इस रास्ते से बड़ी धीमी चाल से गुजरना पड़ता है और भारत के लिए इस धीमी चाल से जाना सम्भव नहीं है। केवल बुद्धिबल सामाजिक क्रान्ति के लिए अपर्याप्त है और शस्त्रबल का सहारा लेने से तानाशाही की वृत्ति बढ़कर लोकशाही को खतरा पहुंचता है। इसलिए भारत ने अपनी राजनीति को आत्मबल के सहारे खड़ी करने की नीति को स्वीकार किया। गांधीजी ने सत्याग्रही क्रान्ति-शास्त्र की नसीहत भारत को दी और लोकशाही तथा समाजवाद के लिए आधारभूत सिद्धान्तों को उसमें जोड़ दिया। राजा का प्रभुत्व प्रजा के हृदय की न्याय-बुद्धि की तरफ होना चाहिए और समाज में जो सम्पत्ति हो, उसका स्वामित्व किसीका निजी न होकर परमेश्वर का याने समाज का होना चाहिए, ये दो तत्व क्रमशः लोकशाही व समाजवाद के ध्येय के आधारभूत तथा आध्यात्मिक समाज-रचना के लिए आवश्यक हैं। भारत के जो राजनैतिक दल सत्याग्रह-निष्ठा को मंजूर करते हैं,

उनको लोकशाही तथा समाजवाद का समन्वय करके पूंजीवादी लोकतन्त्र को समाजवाद में परिणत करने का शान्तिमय मार्ग सत्याग्रह के रूप में मिल जाता है। भारतीय लोकतन्त्र अबतक समाजवादी नहीं बना है और वैसा करने में बाधा डालनेवाली कुछ धाराएं भारतीय संविधान में हैं, फिर भी संविधान बनाने का बल भारतीय जनता में सत्याग्रह से ही पैदा हुआ है, इसको कोई भी भूल नहीं सकता। उसीके बल पर आधुनिक भारत में सत्याग्रह का क्रान्तिकारी तत्वज्ञान सुप्रतिष्ठित हो गया है और उसमें लोकशाही व समाजवाद का जो समन्वय हुआ है, उससे सत्याग्रह को मान्यता देनेवाला कोई भी राजनैतिक पक्ष इन्कार नहीं कर सकता। आधुनिक यूरोप मे लोकशाही व समाजवाद के सामाजिक तत्वज्ञान में जैसा विरोध पैदा हुआ वैसा भारत में न हो पाया। इसके विपरीत दोनों का समन्वय करनेवाला और उन दोनों ध्येयों को सम्पूर्ण करनेवाली क्रान्ति करनेवाला एक नया जीवन-दर्शन यहां विकसित हो रहा है। इस जीवन-दर्शन के आधार पर भारतीय संस्कृति पुनर्जीवित होकर आधुनिक मानव-संस्कृति का नेतृत्व करने को समर्थ है।

सत्याग्रह-निष्ठा और आधुनिक क्रान्तिशास्त्र के आधार पर आधुनिक भारत में समाजवाद के निर्माण होने की बात सत्य होने पर भी वह सत्याग्रह-निष्ठा का अन्तिम साध्य नहीं है। वर्गहीन समाज तथा दंडहीन राज्य के नाम से सूचित होनेवाला ईश्वरीय राज्य, रामराज्य अथवा आत्मराज्य सत्याग्रह-निष्ठा का अन्तिम ध्येय है। अव्यभिचारी सत्यनिष्ठा तथा निरपवाद अहिंसा-वृत्ति की दीक्षा जिन्होंने ली है, ऐसे शुद्ध सत्याग्रही लोकसेवकों को चाहिए कि वे अनासक्त लोकसेवा के जरिये आत्मोद्धार व समाजोन्नति के लिए अखंड सत्याग्रह की साधना करते रहें। यद्यपि ऐसे लोकसेवक राजकीय, सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में उस काल में आवश्यक क्रान्ति लाने में सहायता देते रहेंगे, फिर भी किसी राजनैतिक दल में उन्हें शरीक नहीं होना चाहिए, न किसी शासन में पदाधिकारी ही बनना चाहिए। सत्ता व सम्पत्ति के त्याग से तथा अनासक्त लोकसेवा से जो आत्मबल पैदा होगा उसके आधार पर समाज में सर्वांगीण क्रान्ति लाने का अहिंसक शास्त्र उनको बनाना होगा। गांधीजी ने जिस क्रान्तिकारी सत्याग्रह-निष्ठा का

आधुनिक भारत में निर्माण किया है, उसके अध्वर्यु आचार्य विनोबा भावे बने हैं।

सशस्त्र क्रान्ति के साधनों से प्रस्थापित शासन को उखाड़कर नया शासन खड़ा करने के मार्ग से सामाजिक क्रान्ति को लाने की कोशिश करने पर निरंकुश राज्यसत्ताधारी एकपक्षीय तानाशाही की स्थापना होने का खतरा रहता है। इसलिए लोकशाही में ऐसी आशा की जाती है कि एक सत्ताधारी पक्ष और उसका विरोध करनेवाले एक या अनेक सत्ताकांक्षी राजकीय पक्ष देश में हों तो कोई भी पक्ष दमन या ज्यादतियां नहीं कर सकेगा और लोग न्याय के रास्ते चलनेवाले पक्ष को चुनकर न्याय का शासन लाने में समर्थ होंगे। क्रान्ति-काल में भी यह पक्षविशिष्ट लोकशाही कायम रखकर बहुमत से चुने हुए प्रतिनिधियों में जिस पक्ष का बहुमत होगा उसके हाथों में शासन सौंपकर उनके बनाये कानून और शासन को चुपचाप मान ले, यही न्याय-संस्थापना की दृष्टि के अनुकूल है, ऐसा विचार फैल गया। लेकिन सामाजिक न्याय-संशोधन व न्याय-संस्थापन की दृष्टि से पक्ष-विशिष्ट लोकतन्त्र का यह तरीका अपर्याप्त है। खासकर जब समाज के मानस में न्याय-अन्याय के विचारों में परिवर्तन लाने का क्रान्ति-काल आ जाता है, तब अलग-अलग राजनैतिक पक्षों की सत्ता-प्राप्ति की होड़ में लोकतन्त्र टूट जाता है या समाज पर अन्याय बढ़ जाते हैं और शासनतन्त्र डांवाडोल हो जाता है। इस अनुभव को उपेक्षित न करके लोकशाही शासन-व्यवस्था में न्याय-संशोधन तथा संस्थापन के बारे में जो ढील आ जाती है, उसको मिटाकर कार्य की प्रगति शीघ्रता से हो तथा न्याय-संस्थापन के बारे में जो क्रान्तिकारी विचार हैं वे जनता में फैलें और अहिंसक रीति से अन्याय का प्रत्यक्ष प्रतिकार करने की ताकत उसमें आ जाय, इसीलिए सत्याग्रह का क्रान्तिशास्त्र पैदा हुआ है।

अन्याय-निवारण, अहिंसक प्रतिकार तथा अनत्याचारी असहकार की जन-वृत्ति जैसे-जैसे जोर पकड़ेगी, वैसे-वैसे पक्षविशिष्ट लोकशाही के दोष नष्ट होंगे तथा विभिन्न पक्षों की सत्ता के लिए चलनेवाली होड़ से पैदा होनेवाला संघर्ष शान्ति की मर्यादा से बाहर नहीं जायगा और न उसमें एकपक्षीय तानाशाही का खतरा रहेगा। इसीलिए किसी भी राजनैतिक

दल में न मिलकर जनता के दिलों में न्याय-बुद्धि तथा अहिंसा-वृत्ति जगाकर उसके आधार पर सामाजिक क्रान्ति लाने की कोशिश करनेवाले सत्याग्रही लोकसेवक जितनी अधिक तादाद में सामाजिक क्रान्ति के इस कार्य में सम्मिलित होंगे उतनी मात्रा में यह सामाजिक क्रान्ति अहिंसक रहेगी और लोकतन्त्रात्मक रीति से लाई जा सकेगी। इस तरह लोकशाही शासन अधिक दोषरहित तथा कार्यक्षम बनेगा और उसकी मार्फत वर्गहीन समाज तथा दंडहीन शासन की दिशा में समाज अग्रसर होगा। इस तरह सोचने से पता चलेगा कि आधुनिक भारत में जो सत्याग्रही दर्शन व सत्याग्रही क्रान्ति-शास्त्र पैदा हुआ है, वह लोकशाही तथा समाजवाद में अन्तर्भूत ध्येयों को अपने में मिलाकर समाज को आत्मराज्य की दिशा में अग्रसर करेगा।

: १४ :

भारतीय संस्कृति का अमृत तत्त्व

[प्राचीन भारत में गुणी, विद्वान् व साहसी पुरुष थे। उसी तरह राज-नीतिज्ञ राजा-महाराजा भी थे। इनमें से किनकी ओर मानव-जीवन का आदर्श पाने के लिए देखते थे? ऋषि-मुनियों की ओर।

—**रवीन्द्रनाथ ठाकुर**]

[हिन्दुस्तान के पतन का कारण बौद्धों और ब्राह्मणों का अलग-अलग होना है। यही कारण है जो हिन्दुस्तान में तीस करोड़ भिखारी हैं व इसी-लिए हिन्दुस्तान पिछले एक हजार वर्षों से भिन्न-भिन्न विजेताओं का गुलाम रहा है। अतएव हमें चाहिए कि हम ब्राह्मणों के अद्भुत बुद्धि-ज्ञान का, बुद्ध के विशाल हृदय, उच्च आत्मा एवं उनके मानवी गुणों का निर्माण करने की अद्भुत शक्ति के साथ संयोग कर दें। —**स्वामी विवेकानन्द**]

भारत खंड संसार की रंगभूमि पर एक नये राष्ट्र के रूप में प्रवेश कर रहा है। ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेश के तौर पर ही वह आजतक परिचित था। अपनी इस हालत से वह उकता गया और संसार में एक स्वतन्त्र राष्ट्र के नाते जीने की महत्वकांक्षा उसमें जागृत हुई। इस आकांक्षा की सफलता के

लिए पहले यूरोपीय महासमर से लेकर १९४७ तक उसने अंग्रेजों के खिलाफ अपना सत्याग्रह-संग्राम जारी रखा। जब स्वयं-निर्णीत स्वातन्त्र्य-विधान उसने हासिल किया तभी यह संग्राम समाप्त हो सका। अब आगे भारतीय संस्कृति का रूप क्या होगा और सत्याग्रह-साधना से स्वाधीन बना भारत संसार को क्या सन्देश देता रहेगा, इन प्रश्नों के जवाब इस आखिरी अध्याय में हम दे रहे हैं।

इन प्रश्नों का विचार करते समय इंग्लैंड के एक सामाजिक तत्ववेत्ता बर्ट्रेण्ड रसेल के विचार कुछ मार्ग-दर्शक हो सकते हैं। १९२४ में विलफ्रेड वैलाक ने 'प्रजा-सत्ता का आध्यात्मिक अधिष्ठान'[1] नामक एक पुस्तक लिखी। बर्ट्रेण्ड रसेल ने उसकी प्रस्तावना में पूर्वी व पश्चिमी संस्कृति की तुलना करते हुए लिखा है--

"जापान ने इस भय से कि कहीं पश्चिमी शस्त्र-विद्या उसपर हावी न हो जाय, पश्चिमी तत्वज्ञान की विजय स्वीकार कर ली। यदि दूसरे पूर्वी राष्ट्र भी उसी का अनुकरण करेंगे तो यूरोप खण्ड के दुर्गुण सारी दुनिया में फैल जायंगे व मानव-संस्कृति के कुछ समय तक जंगली अवस्था में पहुंचे बिना उसके उद्धार की कुछ आशा नहीं रहेगी। परन्तु यदि यह प्रतिकार सैनिक बल के द्वारा न होकर आध्यात्मिक बल के द्वारा होगा तो, यूरोप के आपस की यादवी से विनष्ट होते हुए भी, यूरोपीय संस्कृति के स्थायी अंश की विरासत एशिया को मिलेगी और जिन लोगों पर गोरे राष्ट्रों का भवितव्य अवलम्बित है उनसे अधिक शान्तिप्रिय व कम भौतिक वृत्ति के लोगों को उस विरासत के मिलने की सम्भावना है। तथापि यह कार्य केवल पुराण-प्रियता के बल पर न हो सकेगा। पुराण-परम्परा कितनी ही पूज्य क्यों न हो, उसे चिरंतन करने का प्रयत्न करने से काम न चलेगा। भौतिक विद्या और यन्त्र-कला की बदौलत आज संसार का स्वरूप बदल गया है। उन्हें आत्मसात् करके व उनपर प्रभुत्व प्राप्त करके उन्हें कल्याणकारी बनाना चाहिए। उनकी उपेक्षा करना उचित न होगा। दूर-दृष्टि से विचार करने पर वे अहितकारक नहीं, हितकारक साबित होंगी, क्योंकि मनुष्य को भौतिक चिन्ता से मुक्त करने की सामर्थ्य उनके पास है। जिस प्रजा-सत्ता के आध्या-

[1]The Spiritual Basis of Democracy

त्मिक अधिष्ठान को ढूंढ़ने का प्रयत्न वैलाक महोदय कर रहे हैं वह पश्चिमी जगत् में पैदा हुई है। नामधारी प्रजासत्तात्मक राष्ट्रों में और उसके बाहर भी उसका स्वरूप अभी बहुत मर्यादित व अपूर्ण है; परन्तु उसके पहले की राज-पद्धति से वह श्रेष्ठ अवश्य है व उसका अवलम्बन लेनेवालों के दुर्गुणों की वजह से उसका नाश करना उचित नहीं। जिस तरह पूर्वी संसार के दृष्टि-कोण में भलाई व बुराई दोनों हैं उसी तरह पश्चिमी दृष्टिकोण में भी हैं।

"पश्चिमी दुनिया जरूरत से ज्यादा जल्दबाज़ है तो पूर्वी दुनिया कदाचित् जरूरत से ज्यादा सहनशील रही है। बहुत बार पश्चिमी लोगों की शक्ति से संसार का अधःपात होता होगा (आज ऐसा ही हो रहा है) तो दूसरी ओर विशुद्ध पूर्वी तत्त्वज्ञान बड़े-बड़े सुधार करने में शायद ही समर्थ हो सके। जब पश्चिमी और पूर्वी विशेषताओं का संयोग होगा तभी नवीन आदर्श दुनिया के सामने आयेगा। किसी भी एक संस्कृति की आत्मस्तुति से उसका जन्म नहीं होगा। पश्चिमियों का सामर्थ्य पूर्वियों के आदर्श में काम आना चाहिए। पूर्वियों की आध्यात्मिकता पश्चिमियों के भौतिक साधनों की सहायता से जीवनोपयोगी बननी चाहिए। आज की दुनिया की रक्षा पुराने साधनों से नहीं हो सकती। आज के संकट नये हैं व उनको निवारण करने का तत्त्वज्ञान भी नया ही होना चाहिए।"

अब हम भारतीय व यूरोपीय संस्कृतियों की तुलना करके इस बात का विचार करें कि यूरोपीय संस्कृति में से भारतीयों के लेने लायक क्या है? अथवा यूरोपीय संस्कृति के नष्ट हो जाने पर भी कौन तत्त्व उसमें से चिरन्तन होने योग्य हैं? जब इन दो संस्कृतियों की तुलना की जाती है तो प्रायः यूरोपीय संस्कृति की तुलना मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति से—अर्थात् हिन्दुस्तान के ब्रिटिश साम्राज्य में आने से पहले की संस्कृति से—की जाती है। बर्ट्रेण्ड रसैल ने पूर्वोक्त उद्धरण में भौतिक-विद्या, यन्त्र-कला प्रजासत्ता व कर्म-शक्ति ये यूरोपीय संस्कृति के लक्षण बताये हैं और यह ध्वनित किया है कि यूरोपीय संस्कृति भले ही अपनी सामर्थ्य का दुरुपयोग करके संसार को पीड़ा देती हो, और तो और, अपने विनाश में भी प्रवृत्त हो रही हो, परन्तु पूर्वी संस्कृति तो बिलकुल सामर्थ्यहीन हो रही है। अपनी गुलामी को मिटाने की शक्ति उसमें बाकी नहीं बची। बल्कि सदियों से वह

अन्याय और जुल्म चुपचाप सहन करती आ रही है। पूर्वी संस्कृति की यह सहन-शीलता, अकर्मण्यता किसीको भी वांछनीय नहीं लगेगी। उसी तरह यूरोपीय संस्कृति के हमले से बचने के लिए जापान ने जो सब तरह उसीको अंगीकार किया, पूंजीवाद की स्थापना की, सामन्तशाही को मिटाकर स्थापित प्रजा-सत्ता को धनिक-सत्ता का विकृत रूप दिया व राष्ट्रवाद को साम्राज्यवाद की दीक्षा देकर एशिया को पादाक्रान्त करने की आसुरी महत्वाकांक्षा धारण की, इसे भी कोई स्पृहणीय न कहेगा। एशिया के पूर्व के ठेठ जापान से लेकर पश्चिम के तुर्किस्तान तक सब राष्ट्रों के सामने आज यह महत्व का प्रश्न खड़ा है कि साम्राज्यवाद को पूंजीवाद के आक्रमण से कैसे बचाया जाय ? हिन्दुस्तान को छोड़ दें तो दूसरे बहुत से देशों में, रूस की राज्यक्रान्ति होने तक, यही धारणा फैली हुई थी कि इस हमले का मुकाबला करने के लिए यूरोपीय संस्कृति का अवलम्बन लिये बिना कोई चारा नहीं है। उसके बाद एशिया के देशों में रूसी राज्य-क्रान्ति का अनुकरण करनेवाला एक कम्युनिस्ट दल पैदा हुआ। थोड़े ही समय में तुर्किस्तान से लेकर चीन तक इस दल का जाल फैल गया और एशिया के स्वतन्त्र देशों के राष्ट्रीय नेताओं को यह मालूम होने लगा कि यूरोप के साम्राज्यवाद के पंजे से मुक्त होने का उपाय बोल्शेविकों से सहयोग करना है। इसी समय चीन के राष्ट्रीय नेता डाक्टर सनयातसेन ने बोल्शेविकों से चीनी राष्ट्रवाद का सहकार्य कराके चीन को यूरोपीय साम्राज्यवाद के चंगुल से छुड़ाने की नीति निर्धारित की। एशिया का दुर्बल राष्ट्रवाद और बोल्शेविक क्रान्ति-शास्त्र का सहयोग कुछ दिन टिका। पर थोड़े ही दिनों में उनका सम्बन्ध टूट गया व एशिया के भिन्न-भिन्न राष्ट्रीय पक्षों में यह भावना फैली कि बोल्शेविक क्रान्तिशास्त्र का अवलम्बन ज्यों-का-त्यों नहीं लिया जा सकता, या न लेना चाहिए। उधर बोल्शेविकों ने विश्वक्रान्ति के अपने ध्येय को कुछ समय तक एक किनारे रखकर अपने ही राष्ट्र का संगठन करने की नीति निश्चत की। आज फिर चीन अपने देश में कम्युनिस्ट राज्यक्रान्ति को सफल बनाकर बोल्शेविक रूस का मित्र बन गया है। रूस अब अपनी बोल्शेविक क्रान्ति का जाल सम्पूर्ण एशिया तथा यूरोप में फैलाने की कोशिश कर रहा है।

इस समय हिन्दुस्तान में भी कम्युनिस्ट पार्टी बन गई है व इधर महात्मा गांधी के नेतृत्व में एक निःशस्त्र क्रांति-शास्त्र व सत्याग्रही संस्कृति-शास्त्र पैदा हो चुका है। उसने आधुनिक भारत के हृदय में ऐसा आत्मविश्वास पैदा किया है कि सत्याग्रही तत्वज्ञान के बल पर ही भविष्य में मानव-संस्कृति के इतिहास मे हम एक नया अध्याय लिखेंगे। आत्मविश्वास सच्चा है या झूठा, इसका फैसला भविष्य ही करेगा; परन्तु सत्याग्रही तत्वज्ञान से कैसी मानव-संस्कृति निर्मित होगी, यूरोपीय संस्कृति से उसे क्या सीखना है, कम्युनिस्ट क्रांति-शास्त्र व समाजवादी संस्कृति से वह कुछ पाठ सीख सकती है या नहीं और सत्याग्रह-संग्राम के फलस्वरूप जो नवीन भारतीय संस्कृति जन्मी है उसका रूप क्या होगा व स्वतन्त्र भारत के सामने आनेवाले प्रश्नों के उत्तर वह किस प्रकार देगी, इन बातों का विचार कर लेना जरूरी है। आधुनिक भारत में जो यह एक प्रकार का सांस्कृतिक अभिमान पैदा हुआ है कि मानव-संस्कृति को देने के लिए हमारे पास कुछ बहुमूल्य तत्व हैं व उनकी बदौलत हमारे पास कुछ समय के लिए संसार का नेतृत्व आ सकेगा, वह अपूर्व है। जिस एक महात्मा के रूप में वह आज संसार के सामने आया है वह भी एक अलौकिक विभूति है। यह अपूर्व अभिमान व महात्मा गांधी की अलौकिक विभूतिमत्ता दोनों बातें बिलकुल भ्रामक हैं, वह एक भ्रांति-रूप माया है, ऐसा भी कई लोग मानते हैं। ताहम यह भी उनको मानना पड़ता है कि यह भ्रांतिरूप माया संसार की एक प्रचंड शक्ति है। इस भावी संस्कृति के स्वरूप की रूप-रेखा हम यहां भाव-रूप में रखना चाहते हैं।

आधुनिक यूरोपीय संस्कृति का मूल्यांकन करते हुए पहले यह देखना चाहिए कि श्रेष्ठ मानव-संस्कृति किसे कहते हैं। भारतीय संस्कृति की तरह यूरोपीय संस्कृति की परम्परा भी बड़ी है। आधुनिक यूरोपीय संस्कृति ने तो आज हिन्दुस्तान को गुलाम बना रखा है व उसको सब तरह लूट लिया है। ऐसी परिस्थिति में भी भारत में यह अभिमान उदय हुआ है कि हमारी संस्कृति श्रेष्ठ है। इसलिए पहले यह समझने की जरूरत है कि मानव-संस्कृति की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में भारतीयों का मत या आदर्श क्या है। इस प्रकरण के आरम्भ में कवि-श्रेष्ठ रवीन्द्रनाथ ठाकुर का एक अवतरण दिया है, जिसमें उन्होंने भारतवासियों के मानवीय आदर्श का वर्णन किया है।

उन्होंने भारत के ऋषि-मुनियों को मानवता का आदर्श बताया है। यही ऋषित्व, ब्रह्म-तेज, आत्मबल अथवा साधुत्व भारतीय संस्कृति का मानवीय आदर्श है। भारतीय संस्कृति अगर संसार को कुछ सिखा सकती है तो यह साधुत्व ही। भारत में प्राचीन काल से ऋषिवर्ग की सृष्टि हुई व आज भी उसे उस वर्ग के नेतृत्व की आवश्यकता मालूम होती है। महात्मा गांधी को आज भारत में जो सम्मान मिल रहा है वह इसलिए कि उन्होंने भारतवर्ष के अन्तःकरण में ऋषि-मुनियों के सम्बन्ध में प्राचीन आदर फिर से पैदा किया व भारत के प्राचीन ब्रह्म-तेज अथवा आत्म-बल को पुनः संगठित करके ऐसा विश्वास फिर से जाग्रत किया कि यह आत्म-बल ही आम जनता के सर्वांगीण स्वातन्त्र्य का रामबाण उपाय है। इस साधुत्व को समझने के लिए व उस दृष्टि से मानव-संस्कृति का मूल्यांकन करने के लिए नीचे लिखी सूक्ति आधार का काम दे सकती है :

विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतद्, ज्ञानाय, दानाय च रक्षणाय।

इस उक्ति में खल और साधु, दुर्जन और सज्जन का भेद बहुत अच्छी तरह बताया गया है। इसीके आधार पर हम मानव-संस्कृति के हीन व श्रेष्ठ स्वरूप का भेद समझ सकेंगे। विद्या, धन और शक्ति की आवश्यकता मनुष्य को है व उनकी वृद्धि करना प्रत्येक मनुष्य समाज का कर्तव्य है। परन्तु इस विद्या, धन और शक्ति का उपयोग मनुष्य किस प्रकार करता है यह देखकर उसकी संस्कृति की श्रेष्ठता या लघुता का निर्णय करना पड़ता है। केवल विद्या, धन या शक्ति की वृद्धि करने से ही मानव-संस्कृति की प्रगति नहीं हो सकती। बल्कि इस विद्या, धन या शक्ति का उपयोग कैसा व किस काम में हो रहा है यह देखकर ही यह कहना पड़ता है कि किसी समाज की संस्कृति बढ़ रही है या नष्ट हो रही है। मनुष्य विद्वान् हो, सधन हो व सशक्त भी हो; परन्तु अगर अपनी विद्वत्ता का उपयोग सत्य-संशोधन में न करके केवल विवाद के लिए करे या अपने धन का उपयोग दान के लिए न करके उन्मत्त होने के लिए करे, और अपनी शक्ति का उपयोग रक्षण के लिए न करके परपीड़न के लिए करे तो उसे साधु की कोटि में न रखकर खल की कोटि में रखना पड़ेगा—फिर वह कितना ही विद्वान्, धनवान

अथवा बलवान क्यों न हो। यही न्याय समाज पर भी लागू होता है। आज की यूरोपीय संस्कृति विद्या, धन व शक्ति तीनों गुणों से युक्त है; परन्तु वह इन गुणों का दुरुपयोग करती है, इससे इन गुणों को दुर्गुणों का रूप प्राप्त हो गया है। अतः यह कहने की अपेक्षा कि वह इन गुणों से मण्डित है, यही कहना ज्यादा सही है कि वह पूर्वोक्त दुर्गुणों से कलंकित हो रही है। भारतीय संस्कृति के अभिमानी इसका कारण यह बताते हैं कि उनकी विद्या, धन व शक्ति को अध्यात्म का अधिष्ठान नहीं है। यूरोपीय संस्कृति को यह हीनता क्यों, कैसे और कब प्राप्त हुई, इसका भी इतिहास है।

१५वीं सदी के अन्त में मुसलमानों के कुस्तुन्तुनिया लेने के बाद वहां की प्राचीन विद्या के पंडित पश्चिमी यूरोप में फैले और इस्लामी संस्कृति का संघर्ष व प्राचीन ग्रीक-विद्या का पुनरुज्जीवन इन दोनों से यूरोपीय विद्या व व्यापार को जो गति मिली उससे आधुनिक यूरोप का जन्म हुआ। इससे पहले कुछ समय तक यूरोपीय संस्कृति मध्ययुगीन धर्माधिकारियों के प्रभाव में रही। इन धर्माधिकारियों की विद्या इस समय बिलकुल मृतावस्था को पहुंचने लगी थी। विद्या ज्ञान-प्राप्ति के लिए है व ज्ञान की प्राप्ति अनुभव से होती है इस सिद्धान्त को भूलकर ये ईसाई धर्मशास्त्री व पंडित महज ग्रंथ-प्रमाण के आधार पर शुष्क वाद-विवाद में विद्या का उपयोग करने लगे थे। धर्म-ज्ञान, आत्म-ज्ञान व भौतिक ज्ञान सभी के लिए अनुभव की जरूरत होती है। उनके सिद्धान्त यदि नवीन अनुभव की कसौटी पर सही न उतरते हों तो उनमें सुधार होना चाहिए। यह सुधार करने का अधिकार प्रत्येक पीढ़ी के लोगों को है। मानव-प्रगति के आधारभूत उस तत्व को मानने व उसके अनुसार समाज के बदलते हुए व्यवहारों का विचार करके नई परिस्थिति के अनुरूप नवीन समाज-बन्धन निर्माण करके अथवा पुराने समाज-बन्धनों को सुधार कर, नवीन समाज-धारण करने के लिए वे तैयार न थे। ऐसा न करने के लिए उन्हें ग्रंथ-प्रमाण से बुद्धि-प्रमाण व अनुभव-प्रमाण पर आना चाहिए था, मगर ऐसा करने की शक्ति व योग्यता उनमें न रह गई थी। इधर विचारशील लोगों को यह मालूम होने लगा कि प्राचीन धर्म-बन्धन अथवा धर्म-विचार नई परिस्थिति में न तो कायम ही रह सकते हैं, न बुद्धि को ग्राह्य ही हो सकते हैं। तब ईसाई धर्माधिकारी व रोमन कैथो-

लिक धर्म-संस्था के खिलाफ आधुनिक यूरोप ने बग़ावत मचाई। शुरू में तो यूरोप के राजाओं ने पोप के धर्म-बन्धन व सत्ता को अपने पर से हटाने में इस बग़ावत से फायदा उठाया। बाद में उन्होंने खुद धर्म-संस्था के अधिपति बनने का प्रयत्न किया। आठवें हेनरी ने इसी प्रकार धर्म-क्रान्ति की। इस क्रान्ति से राजा लोग मध्य-युग की अपेक्षा ज्यादा अनियमित व स्वेच्छाचारी बन गये। इंग्लैण्ड का सामन्त-वर्ग इससे पहले ही नामशेष हो चुका था। अब धर्माधिकारी वर्ग भी राजाओं का दास बन गया। पोप का बाह्य बन्धन भी न रहा। इस प्रकार अन्तर्बाह्य अनियन्त्रित बनकर राजा लोग यह समझने लगे कि हमारी आज्ञा परमेश्वर की आज्ञा है। 'ना विष्णु: पृथिवीपतिः' की उक्ति के अनुसार वे अपने को परमेश्वर के ऐहिक प्रतिनिधि समझने लगे। इन अनिर्बन्ध, अनियन्त्रित राजाओं पर बन्धन और नियन्त्रण लगाने का काम यूरोप के व्यापारी-वर्ग ने किया। इसी व्यापारी-वर्ग में कैलह्विन का प्यूरिटन-पंथ चला व उसीके नेतृत्व में आधुनिक यूरोप के बुद्धिवाद, व्यक्तिवाद, प्रजा-सत्ता और राष्ट्रवाद ये सामाजिक ध्येय निर्माण हुए। जिस मध्यम व्यापारी-वर्ग में इन ध्येयों का उदय हुआ उनका वर्गस्वार्थ इन ध्येयों से एकात्म हो गया और जब इन आदर्शों के शुद्ध स्वरूप व धनिक-वर्ग के स्वार्थ में विरोध उत्पन्न हुआ तब ये ध्येय विकृत हो गये। वर्तमान यूरोपीय संस्कृति बुद्धि-स्वातंत्र्य, व्यक्ति-स्वातंत्र्य, जन-सत्ता व राष्ट्रवाद के आदर्शों को आज कैसा विकृत बना रही है, उसपर गौर किया जाय तो यह बात समझ में आ जाती है कि यह संस्कृति क्यों विनाश की ओर जा रही है!

पहले-पहल बुद्धि-स्वातंत्र्य को लें। प्रत्येक मनुष्य को बुद्धि-स्वातंत्र्य रहना चाहिए; मगर इसके लिए यह आवश्यक है कि वह किसी भी ग्रन्थ अथवा धर्म-गुरु की दासता को स्वीकार न करे। यह कहना एक बात है, मगर यह कहना कि सत्य का ज्ञान प्राप्त करने व नवीन सत्य की शोध करने में सबकी बुद्धि एक-सा सामर्थ्य रखती है, दूसरी बात है। दोनों में बड़ा अन्तर है। यह कहना ठीक नहीं है कि मनुष्य की बुद्धि बाह्य दासता से मुक्त होने पर पूर्णतः स्वतन्त्र हो जाती है अथवा उसमें सत्य-शोधन की शक्ति आ जाती है। ऐसा होने के लिए यह जरूरी है कि वह बुद्धि अन्तः-

करण की व्यक्त व अव्यक्त वासना व विकारों की दासता से मुक्त हो। मष्नुय की बुद्धि पर जैसे संस्कार पड़े होंगे व उन संस्कारों के कारण उसे जो सामर्थ्य मिला होगा उनके बन्धनों से भी उसे मुक्त होने की जरूरत है। मनुष्य बुद्धि की सहायता से बाह्य जगत् व अपने अन्तरंग का ज्ञान प्राप्त कर सकता है व बाह्य तथा अन्तःसृष्टि पर भी प्रभुत्व प्राप्त कर सकता है। इस प्रभुत्व को भी अन्तर्बाह्यसृष्टि पर प्रस्थापति करने के लिए उसे बुद्धि, की एकाग्रता, धृति, अनासक्ति, निर्विकारता आदि गुण प्राप्त करने पड़ते हैं। खासकर जबतक उस बुद्धि में नवीन सत्य का आकलन करके नवीन आदर्श-सृष्टि करने का सामर्थ्य नहीं आ जाता या होता तबतक अपनी या अपने समाज की प्रगति का सामर्थ्य नहीं प्राप्त होता। इस तरह वह बुद्धि जो नवीन आदर्श का निर्माण कर सकती है दरअसल स्वतन्त्र बुद्धि हो सकती है और उसीको प्रतिभा कहते हैं। साधारण बुद्धि बाह्य परिस्थिति के अधीन रहती है व उस परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त करके वह अधिक-से-अधिक इतना ही दिखा सकती है कि उसमें अधिक-से-अधिक सुख से कैसे रहें। यह सामान्य बुद्धि व्यक्तिगत, वर्गीय, राष्ट्रीय बगैरा अनेक संकुचित स्वार्थों व परम्परागत विचारों एवं संस्कारों के अधीन रहती है। इन संस्कारों, दुर्वासनाओं व दुर्विकारों के चश्मों से वह बाह्य सृष्टि व सामाजिक व्यवहारों की ओर देखती है ; बल्कि यों कहें कि ऐसी संस्कारवश, वासना-वश व विकारवश बुद्धि अपनी एक विकृत सृष्टि ही निर्माण कर लेती है। यह विकृत सृष्टि ही मानवी बुद्धि को भ्रष्ट या बद्ध करनेवाली माया है। इस माया से मुक्त हुए बिना न सत्य सृष्टि का ज्ञान हो सकता है, न नवीन आदर्श-निर्माण करने का सामर्थ्य उसमें आ सकता है। अद्वैत वेदान्त का यह आध्यात्मिक सिद्धान्त है कि ऐसा सामर्थ्य प्राप्त करने की क्षमता प्रत्येक मनुष्य में है। मनुष्य के मन, बुद्धि व आत्मा के व्यक्त व अव्यक्त दो स्वरूप हैं। दोनों का अशुद्ध अंश जबतक नष्ट न होगा तबतक बुद्धि वास्तविक आत्मस्वरूप व जगत्-स्वरूप को समझने के लायक नहीं बन सकती। मनुष्य की बुद्धि का बाह्य विश्व पर प्रभुत्व स्थापित करना मानवी उन्नति के लिए जितना आवश्यक है उतना आवश्यक अन्तःसृष्टि पर अर्थात् हृदय की व्यक्ताव्यक्त वासना व विकारों पर प्रभुत्व स्थापित करना भी है। पहला भौतिक विद्या

का और दूसरा आत्मिक विद्या का क्षेत्र है। भौतिक विद्या व उसके सिद्धान्त जैसे अनुभवगम्य व अनुभव-सिद्ध होने चाहिए, वैसे ही आत्म-विद्या के सिद्धान्त भी होने चाहिए। भौतिक विद्या की तरह आत्मिक विद्या भी विकासशील व सजीव होनी चाहिए। इन दोनों विद्याओं के विकास का सामर्थ्य मानवी बुद्धि में हैं; परन्तु वह उसके शुद्ध व स्वतन्त्र स्वरूप में है, अशुद्ध व परतन्त्र रूप में नहीं। तत्त्वतः देखें तो प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धि को शुद्ध व स्वतंत्र बना सकता है व उसकी सहायता से भीतरी व बाहरी जगत् पर स्वामित्व—विश्व-नियमों से मर्यादित स्वामित्व—प्राप्त कर सकता है। अद्वैत वेदान्त यही सिद्धान्त बताता है। अब व्यवहार में हमें स्वतंत्र व परतंत्र बुद्धि में इस प्रकार भेद करना पड़ता है। (१) जनसाधारण की अशुद्ध व परतंत्र बुद्धि तथा (२) उनके असामान्य नेता की शुद्ध व स्वतन्त्र बुद्धि। इसी व्यवहार-दृष्टि से साधारण बुद्धि को प्रज्ञा व नये सत्य का आविष्कार व नई आदर्श सृष्टि निर्माण करनेवाली शुद्ध व स्वतंत्र बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं। एंजल्स ने लुडविक फ्यूरबेक-सम्बन्धी अपनी पुस्तक में मार्क्स और अपने जैसे उसके अनुयायियों की बुद्धि में ऐसा ही भेद बताया है—"जिस तरह एक उच्च भूमि पर खड़ा मनुष्य आस-पास बहुत दूर-दूर की चीजों को तुरन्त देख सकता है, वैसी ही स्थिति हमसे तुलना करते हुए मार्क्स की थी। मार्क्स 'प्रतिभाशाली' था व हम ज्यादा-से-ज्यादा 'बुद्धिमान्' कहे जा सकते हैं। इसलिए मार्क्स जो कर सका, वह मुझसे नहीं हो सकता था।" प्रतिभा-संपन्न असामान्य नेता की शुद्ध व स्वतंत्र बुद्धि व सामान्य मनुष्य की अशुद्ध, परतंत्र बुद्धि के तात्विक व व्यावहारिक भेद पर ध्यान न देकर समाज-निर्माण करना या उसमें क्रांति करके आमूल परिवर्तन करना असम्भव है। बुद्धि-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त में इस भेद का विरोध नहीं और न सामाजिक व्यवहार में नेतृत्व व अनुयायित्व दो भेद करके खास मर्यादा में स्वतन्त्र बुद्धि के नेता का अनुशासन मानना भी बुद्धि-स्वातन्त्र्य के असंगत ही है। इसी प्रकार यह मानना भी बुद्धि-स्वातन्त्र्य के विरुद्ध नहीं है कि जबतक मनुष्य की बुद्धि दुर्वासना व दुर्विकार से मुक्त न होगी तबतक वह शुद्ध व स्वतन्त्र नहीं बन सकती। जबतक शुद्ध बुद्धि के प्रतिभावान् नेता न होंगे तबतक मनुष्य-समाज की उन्नति नहीं होगी, न

सर्वांगीण क्रान्ति-जैसे महत् कार्य की सिद्धि ही हो सकती है। इससे यह नतीजा निकलता है कि समाज की उन्नति के व उसमें आवश्यक परिवर्तन, कम-से-कम क्लेश से, करने के लिए आम जनता की बुद्धि को भरसक शुद्ध व स्वतन्त्र रखने का प्रयत्न करना लोकमान्य नेता का कर्तव्य है और लोगों का भी यह कर्तव्य है कि वे अपनी अन्तःशुद्धि का सतत प्रयत्न करते रहें। बुद्धि-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त का यह शुद्ध और श्रेष्ठ रूप आधुनिक यूरोप ने नहीं पहचाना व अपना नेतृत्व शुद्ध बुद्धि के अथवा प्रतिभावान् निःस्वार्थी लोगों के हाथों में न देकर उस धनिक-वर्ग के हाथ में दे दिया है जिसकी बुद्धि वर्ग-स्वार्थ से मलिन हो चुकी है और जिन्होंने उसका विनियोग नित्य स्वार्थ-साधन में किया है। आधुनिक यूरोप की वर्तमान आपत्ति का यह एक मुख्य कारण है। फिर आधुनिक यूरोप की तमाम विद्या व कला इस धनिक-वर्ग की दासी बन गई है व ऐसा वर्ग कहीं यूरोप-खंड में नहीं दिखाई देता जो यह मानता हो कि जनसाधारण की साम्पत्तिक व सांस्कृतिक उन्नति करना सब विद्या और कला का उद्देश्य है, अथवा जो ऐसा आचरण करता हो और जो अपने आत्मबल के द्वारा लोगों के आत्मबल को जाग्रत व संगठित करके समाज के लिए आवश्यक क्रान्ति की उपयोगिता उसे जंचाकर आत्मबल से वैसी क्रान्ति करा दे। आधुनिक यूरोप की श्रद्धा ही आज आत्मबल पर नहीं रही है और न वहां के किसी देश ने अबतक शस्त्र-बल से भी अभीष्ट सर्वांगीण समाज-क्रान्ति करने का सामर्थ्य प्रकट किया है।

समाज-रचना सम्बन्धी नवीन तत्त्व अथवा समाज में न्याय-स्थापना करनेवाले नवीन सत्य मानव-बुद्धि में कब और कैसे उदय होते हैं, व उन सत्यों की स्थापना के लिए आवश्यक समाज-क्रान्ति कैसे की जाती है, इसका और अधिक विवेचन करना आवश्यक है। संसार नित्य परिवर्तनशील है। संसार की कोई भी वस्तु स्थिर व अक्षर नहीं है। इसीलिए उसे जगत् अर्थात् गतिमान् नाम प्राप्त हुआ है। मानव-समाज में, उसकी अवस्थाओं में, हम जान सकें या न जान सकें, मगर एक-सा अन्तर होता रहता है। संसार में चिरन्तन अथवा सनातन-जैसा कुछ नहीं है। जगत् का अथवा समाज का स्वरूप जैसे परिवर्तनशील है उसी तरह उसका अवलोकन व निरीक्षण करके उसमें अपने अनुकूल परिवर्तन कैसे होंगे या उसके परिवर्तन हमारे अनुकूल

न तो यान्त्रिक भौतिकवाद को स्वीकार किया और न मानव-बुद्धि की स्वतन्त्रता व मानवी कर्तृत्व की आवश्यकता की अवहेलना की।

मनुष्य स्वतन्त्र है व अपने बुद्धि-बल से दृश्य विश्व व सामाजिक परिस्थिति के परिवर्तनों के नियम निकालकर नवीन आदर्श का निर्माण व स्थापन कर सकता है। यह सही हो तो भी उसका यह स्वातन्त्र्य व सामर्थ्य-सृष्टि के अन्तर्बाह्य नियमों से मर्यादित है व उन नियमों का उल्लंघन करके नहीं, बल्कि उनका पालन व उपयोग करके ही वह अपनी स्वतन्त्रता का आनन्द पा सकता है, यह हरगिज न भूलना चाहिए। इस विषय में अध्यात्मवादी हेगेल और स्वयं-विकासी भौतिकवादी मार्क्स और ऐंजल्स में मतभेद नहीं। ऐंजल्स ने मानवी स्वतन्त्रता के सिद्धान्त और सृष्टि के परिवर्तन के नियमों की नियति का समन्वय हेगेल के पूर्वोक्त मत के आधार पर ही किया है। सृष्टि की नियति का उल्लंघन मनुष्य हीं कर सकता, बल्कि उसका जान प्राप्त करके उसके नियमों का पालन करते हुए ही, उसपर अपना प्रभुत्व स्थापित किया जा सकता है। इन्द्रियगोचर बाह्य दृश्य सृष्टि व इन्द्रिय जीव की आन्तरिक, बाह्य इन्द्रियों के लिए अगोचर सृष्टि, इन दोनों पर भी, उनके परिवर्तन-नियम जानकर, मनुष्य अपनी मर्यादित स्वतन्त्रता चला सकता है व ऐसा करना उसका श्रेष्ठ कर्तव्य भी है।

यह विवेचन स्वयं-विकासी भौतिकवाद के आधार पर हुआ। अब यह देखना है कि अद्वैत वेदान्त इसके आगे चलकर क्या कहता है? ऊपर ऐंजल्स का मानवी स्वतन्त्रता-सम्बन्धी जो सिद्धान्त बताया गया, उसमें यह कहा गया कि मनुष्य के लिए जैसे इन्द्रियगोचर बाह्य सृष्टि पर प्रभुत्व प्राप्त करना आवश्यक है वैसे ही मनोगोचर अन्तःसृष्टि पर भी आवश्यक है। पहला प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए उसे भौतिक विद्या का व दूसरे के लिए अध्यात्म-विद्या का अध्ययन करना पड़ता है। इन्द्रियगोचर दृश्य विश्व और सेन्द्रिय द्रष्टा जीव इन दोनों के व्यवहार व परिवर्तन के नियम अव्यक्त रहते हैं। इन्द्रिय-गोचर सृष्टि-परिवर्तन के ये अव्यक्त नियम जानना मानवी बुद्धि का काम है। उसे भी खोजकर मनुष्य को जानना पड़ता है। दृश्य व द्रष्टा दोनों के व्यक्त स्वरूप में परिवर्तन लानेवाले अव्यक्त नियम अथवा उनके अव्यक्त स्वरूप एक ही हैं व इसीलिए अद्वैत वेदांत का मत है कि द्रष्टा

दृश्य-विश्व के परिवर्तनों को अपने अनुकूल बनाने का सामर्थ्य रखता है व अपनी बुद्धि से आदर्श सृष्टि निर्माण करके उनपर प्रभुत्व प्राप्त कर सकता है। द्रष्टा व दृश्य दोनों के अव्यक्त स्वरूप से जबतक तादात्म्य नहीं हो जाता तबतक मनुष्य, अध्यात्म-विद्या हो या भौतिक विद्या, उनके नवीन सत्यों का दर्शन नहीं कर सकता। बल्कि यों कहें कि जो अव्यक्त स्वरूप को नहीं समझ सका वह जीव-सृष्टि व दृश्य-सृष्टि का स्वरूप भी ठीक-ठीक नहीं समझ सकता। हमारा अर्थात् जीवात्मा का, जो शुद्ध अव्यक्त स्वरूप है वही परमात्मा है। परमात्मा किंवा परमेश्वर जीव और जगत् का ही एक अव्यक्त व शुद्ध रूप है और कुछ नहीं। परमेश्वर हमारे-प्रज्ञा-चक्षुओं को नवीन सत्य का दर्शन कराता है व मन्त्र-द्रष्टा-ऋषि समाधि-अवस्था में उनका दर्शन करते हैं—इसका अर्थ यही है कि हमारे अव्यक्त अन्तरात्मा के जाग्रत होने से हमारी बुद्धि में स्फूर्ति या तेज आता है व वह अपने दृश्य-संशोधन विषय में तल्लीन हो जाती है जिससे वह आदर्श सृष्टि का दर्शन कर सकती है। इस दृष्टि से सामान्य बुद्धि व प्रतिभा, अथवा जीवात्मा व परमात्मा, दृश्य-जगत् और उसके अव्यक्त नियम अथा परिवर्तन-कारण, इनमें अद्वैत-वेदान्त भेद की कल्पना नहीं करता। दृश्य-जगत् का स्वरूप द्रष्टा के ज्ञान पर अवलंबित रहता है। अज्ञानी व ज्ञानी जीव की सृष्टियां भिन्न-भिन्न रहती हैं, जिनमें पहली मोहमयी व दूसरी सत्य है। ज्ञानी जीव को सत्य सृष्टि प्रतीत होती है व अज्ञानी जीव को अज्ञानी सृष्टि। यह अज्ञान व ज्ञान भौतिक व आत्मिक दो तरह का है। आत्मिक ज्ञान से द्रष्टा का अव्यक्त स्वरूप प्रतीत होता है व भौतिक ज्ञान से दृश्य जगत् का। जो मनुष्य अव्यक्त परमात्मा से एकरूप हो गया है वह किसी भी देवता की शरण नहीं जाता; या यों कहें कि आत्म-स्वरूप से भिन्न किसी भी परमेश्वर को नहीं जानता। शंकराचार्य कहते है :

"नाहं नमामि देवान्, देवानतीत्य न सेवते देवम्।
न तदनु करोति विधानं, तस्मै यतते नमो नमो मह्यम्॥"

अर्थात्—मैं किसी भी देव को नमस्कार नहीं करता। देवताओं के परे चले जानेवाला मनुष्य किसी भी देव की सेवा नहीं करता व उसके बाद किसी भी तरह का पूजा-विधान नहीं करता। मैं खुद यत्न-शील, अपने को

दिखाई देगा उसे बुद्धि ग्रहण करती है। मानवी बुद्धि को नवीन सत्यों का जो दर्शन होता है उसकी यह आधिभौतिक मीमांसा है। इस मीमांसा में सारा कर्तृत्व दृश्य परिस्थिति व उसके परिवर्तन को ही दिया गया है। एक तरह से मानव-बुद्धि इस उपपत्ति के अनुसार दृश्य परिस्थिति की अथवा उसमें होनेवाले परिवर्तनों की दासी बनती है। इस उपपत्ति को यान्त्रिक भौतिकवाद (Mechanical Materialism) कहते हैं। इसमें मानवीय बुद्धि का स्वातन्त्र्य व कर्तृत्व बिलकुल नहीं माना गया है। इसमें मनुष्य-बुद्धि को स्वतन्त्रता नहीं, मानवीय कर्तृत्व को अवसर नहीं और उससे निर्मित नीतिशास्त्र में आदर्शवाद की कोई गुंजायश नहीं। उसके नीति-शास्त्र का आदर्श आधिभौतिक सुखवाद है और त्यागी आदर्शवादी मनुष्य व सुख-परायण स्वार्थी मनुष्य का भेद भी उस तत्त्वज्ञान पर बने मानस-शास्त्र अथवा नीतिशास्त्र नहीं जानते।

कार्ल मार्क्स प्रभृति कम्युनिस्ट तत्त्वज्ञों का भौतिकवाद इस यान्त्रिक भौतिकवाद से भिन्न है। मार्क्स आदि के भौतिकवाद को स्वयंविकासी भौतिकवाद (Dialectical Materialism) कहते हैं। इसका यह मत है कि जड़ निर्जीव सृष्टि के परिवर्तनों के यान्त्रिक नियम सजीव सृष्टि पर लागू नहीं होते है और मानवेतर सजीव सृष्टि के प्राणी-शास्त्र के नियम आदर्शवादी मानव-सृष्टि पर ज्यों-के-त्यों लागू नहीं किये जा सकते। मानस-शास्त्र व नीति-शास्त्र के ये सिद्धान्त कि मानव-बुद्धि स्वतन्त्र है, आदर्श सृष्टि निर्माण कर सकती है और उस आदर्श की प्राप्ति के लिए स्वार्थ-त्यागपूर्वक प्रयत्न करना मानवीपन की उन्नत अवस्था है, आदि इस भौतिकवाद को मान्य है। परन्तु उसका यह कहना है कि मानव-बुद्धि को नवीन समाज-रचना के जो आदर्श सूझते हैं वे मनुष्य-समाज की आधिभौतिक बुनियाद में अर्थात् उसमें रूढ़ धनोत्पादन व धनविभाजन-पद्धति में क्रान्ति होने के कारण सूझते हैं और इसलिए, दृश्य सामाजिक परिस्थिति के परिवर्तन मानवीय आदर्श सृष्टि के परिवर्तन का कारण हैं व इस कारण का विचार किये बिना इस बात की ठीक-ठीक मीमांसा नहीं हो सकती कि मानवीय इतिहास में जो भिन्न आदर्श बने वे क्यों बने व पुराने आदर्शों को पीछे हटाकर नवीन आदर्श प्रस्थापित करनेवाली क्रान्ति क्यों हुई? परन्तु

यान्त्रिक भौतिकवाद की तरह मानव-बुद्धि की स्वतन्त्रता, उसके द्वारा निर्मित आदर्श-सृष्टि का महत्व व इन आदर्शों को प्राप्त करने के लिए मनुष्य-यत्नों की व आदर्श त्याग की आवश्यकता का महत्व मार्क्स-प्रभृति के भौतिकवाद में अमान्य नहीं। परिस्थिति मानव-बुद्धि की गुरु है, यह मानकर भी इस परिस्थिति को मार्ग दिखाने का सामर्थ्य आदर्श-निर्माण करनेवाली मानव-बुद्धि को है व इस दृष्टि से परिस्थिति-रूप गुरु को सिखाने का काम मानव-बुद्धि करती रहती है, इस सिद्धान्त पर यान्त्रिक भौतिक-वाद ने ध्यान नहीं दिया, ऐसा मार्क्स ने साफ तौर पर कहा है।

इसका अर्थ यह हुआ कि 'परिस्थिति मानवी बुद्धि की गुरु है' इस सिद्धान्त से आगे जाकर परिस्थिति का भी गुरुत्व अथवा प्रभुत्व मानवी बुद्धि को देना लाजमी हो जाता है। किन्तु समाज के सभी व्यक्तियों की बुद्धि में यह स्वतन्त्रता नहीं रहती। इसलिए परिस्थिति को अपने सामने झुकाकर उसपर प्रभुत्व जमानेवाले मनस्वी पुरुष व प्राप्त परिस्थिति के सामने झुक जानेवाले साधारण लोगों के कर्तृत्व और बुद्धि में अपने आप भेद करना पड़ता है। कार्ल मार्क्स का कहना है कि पुराने भौतिकवाद में ऐसा भेद किया भी गया है, परन्तु उसे यह द्वैत मंजूर नहीं। सामाजिक परि-स्थिति व समाज की मनोगत आदर्श-सृष्टि का परिवर्तन परम्परावलम्बी व परस्पर सापेक्ष होता है। उनके कार्य-कारण-सम्बन्ध भी दोनों पक्षों में प्रतियोगी रहते हैं। इसलिए सामाजिक परिस्थिति में होनेवाले परिवर्तनों का विचार न करने से आदर्श सृष्टि का विकास समझ में नहीं आ सकता। उसी प्रकार सामाजिक परिवर्तनों की मीमांसा भी मानव-बुद्धि की आदर्श निर्माण करने की शक्ति और मनुष्य-कर्तृत्व की उपेक्षा करने से नहीं की जा सकती। कार्ल मार्क्स ने ऐतिहासिक तत्त्व-मीमांसा में जो नई और महत्व की बात जोड़ी है वह यही है। हेगेल प्रभृति आध्यात्मिक इतिहास-मीमां-सकों ने महज सामाजिक आदर्श के विकास पर सारा जोर देकर समाज की भौतिक परिस्थिति के उन परिवर्तनों की ओर ध्यान नहीं दिया, जिनके कारण उन आदर्शों का विकास हुआ है। इस कमी को पूरा करने के लिए मार्क्स ने अपनी इतिहास की भौतिक मीमांसा निकाली व उसके आधार पर समाज-सत्ता व क्रान्ति का भविष्य बतलाया। परन्तु इसके लिए उसने

कैसे बनाये जा सकेंगे, इसका शोध करनेवाली मानवी बुद्धि का ज्ञान भी सतत बढ़ता रहता है। समाज की एक अवस्था में न्याय-स्थापना के लिए जो तत्त्व उपयोगी होते हैं, वही दूसरी अवस्था में अनुपयोगी और विघातक साबित होते हैं। जिस बुद्धि को यह अनुभव होता है कि समाज की जीवन-यात्रा जिस तत्त्व के अनुसार चलती आ रही है उसके अनुसार अब आगे नहीं चल सकती, उसे प्रस्थापित सामाजिक अवस्था की अपूर्णता व सदोषता जंचने लगती है। मानवी बुद्धि में दृश्य विश्व व दृश्य सामाजिक परिस्थिति का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इस प्रतिबिम्ब को देखकर जब मनुष्य को असन्तोष होता है तो वह अपने समाज की प्राचीन अवस्था का चित्र अपनी बुद्धि द्वारा देखने लगता है अथवा यदि उससे भी उसका समाधान न हुआ तो अपने समकालीन इतर समाजों की सद्यःस्थिति का चित्र उसके बुद्धि-नेत्र के सामने खड़ा होता है। इसकी मिसाल लीजिए : बीसवीं या उन्नीसवीं सदी का परतन्त्र भारतीय अपनी राजनैतिक परतन्त्रता और आर्थिक दरिद्रता का दृश्य देखकर असन्तुष्ट हुआ तो उसकी बुद्धि अपने प्राचीन स्वराज्य की ओर घूमती है। यदि वह पूना में हो तो उसे पूर्वकालीन मराठी साम्राज्य की याद आती है। दिल्ली में हुआ तो मुगल बादशाहत के चित्र दिखाई देते हैं। इन दोनों चित्रों को देखकर उसकी बुद्धि को जंचा कि अब वह पहले की अवस्था नहीं आ सकती अथवा वह भी अपूर्ण, सदोष व त्याज्य है ऐसा उसकी बुद्धि को लगा तो अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रों के स्वराज्य-चित्र उसकी आंखों के सामने खड़े होते हैं। किसीको यूरोप की प्रजा-सत्ता का स्वराज्य-चित्र प्रिय लगता है तो किसीको रूस की समाज-सत्तात्मक प्रजा-सत्ता का चित्र अधिक मनोरम मालूम होता है। परन्तु गतकालीन व सद्यःकालीन स्वराज्य-चित्र के प्रतिबिम्बों का निरीक्षण करने के बाद किसी भी एक चित्र से बुद्धि का समाधान नहीं हो सकता व उनके दोष, अपूर्णता अथवा अन्धकार की जो बुद्धि कायल हो सकती है उसमें यदि अपूर्णता से पूर्णता की ओर, सदोषता से निर्दोषता की ओर या अन्धकार से प्रकाश की ओर जाने की मानवीय आत्मा की नित्य प्रेरणा होगी तो वह अपने राष्ट्र व समाज की भावी स्वतन्त्रता का एक नवीन चित्र खड़ा करती है और उसके अनुसार प्रत्यक्ष सृष्टि का निर्माण करके समाधान पाती है। मतलब यह कि मानवी बुद्धि में भिन्न-

भिन्न काल व अवस्थाओं को देखकर उनके गुण-दोषों का निर्माण करने का जैसा सामर्थ्य है वैसा ही नवीन आदर्श सृष्टि निर्माण करके उसके अवलोकन करने का व उसकी संस्थापना के उपाय खोज निकालने का भी सामर्थ्य है। नवीन आदर्श सृष्टि निर्माण करने के उसके सामर्थ्य को ही प्रतिभा कहते हैं। यों तो प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि में यह प्रतिभा-शक्ति अव्यक्त रूप में रहती है; परन्तु प्रकट होती है वह बाज़-बाज लोगों की बुद्धि द्वारा ही। मानव-बुद्धि के लिए अज्ञात क्षेत्र में पहुंचकर नवीन सत्य को पाने व शोधन करने का जो सामर्थ्य है वह उसे कैसे और कहां से प्राप्त हुआ, इसके सम्बन्ध में संसार में दो-तीन उपपत्तियां प्रचलित हैं। हम उनका भी थोड़ा विचार कर लें।

इन उपपत्तियों को हम आधिदैविक, अधिभौतिक व आध्यात्मिक नाम भी दे सकते हैं। सामान्य बुद्धि में न आनेवाले नवीन सत्य प्रतिभावान्, असामान्य विभूति के मन में कैसे स्फुटित होते हैं, इसकी आधिदैविक उपपत्ति इस प्रकार है कि ऐसे असाधारण बुद्धि के लोगों को परमेश्वर की प्रेरणा से ये सत्य दिखाई देते हैं। वैदिक मन्त्रों के ऋषि मन्त्र-दृष्टा थे—ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः—जब साधारण लोग ऐसा कहते हैं तब उनके मन में यही आधिदैविक उपपत्ति रहती है। परमेश्वर के स्वरूप-सम्बन्धी द्वैत के तत्त्व-ज्ञान पर यह आधिदैविक उपपत्ति अधिष्ठित रहती है। जीवात्मा व परमात्मा ये दो हैं, ऐसा मानकर परमात्मा जीवात्मा के प्रज्ञाचक्षुओं को नवीन सत्य का दर्शन कराता है, इस तरह यह उपपत्ति है। इसके विपरीत एक आधि-भौतिक उपपत्ति है। इसके अनुसार जीव द्रष्टा है और जगत् उसका दृश्य है। इस दृश्य जगत् का दर्शन करके व उसके स्वरूप को समझकर उसमें व्यवहार करना मानव-बुद्धि का मुख्य कार्य है। दृश्य विश्व के अथवा समाज की दृश्य परिस्थितियों के परिवर्तनों का अवलोकन करना व इस परिवर्तन के नियमों को खोज निकालना मानवीय बुद्धि का धर्म है। बाह्य परिस्थिति के परिवर्तनों में से ही मानवी बुद्धि को नवीन आदर्शों का अथवा नवीन सत्य का ज्ञान होता है। यों भी कहें कि इस बात में बाह्य दृश्य परिस्थिति व उनमें होनेवाला परिवर्तन ही मानव-बुद्धि का गुरु है। वह गुरु जो-कुछ शिक्षण देगा उसके अनुसार मानवी बुद्धि का ज्ञान बढ़ता है व उसे जो सत्य

ही बार-बार नमस्कार करता हूं। यदि ऐसा कहें कि परमेश्वर नहीं है तो जीव और जगत् के अव्यक्त शुद्ध रूप की ओर साधारण लोगों का ध्यान नहीं जाता। अतः लोगों को यह सिखाने के लिए कि जीव व जगत् का अव्यक्त स्वरूप भी है, आस्तिकवाद ग्रहण करना पड़ता है। परन्तु आस्तिक-वाद स्वीकार करने से आम लोग यह मानकर कि अपने उद्धार की सारी जिम्मेदारी व बोझा उठानेवाला परमेश्वर नामक, जीव व जगत् से भिन्न, कोई तीसरा पदार्थ है, निष्क्रिय बन जाते हैं व वही हमारी बुद्धि में प्रकाश डालेगा, ऐसा समझकर अपनी बुद्धि तक नहीं चलाते। महान् पुरुष अपनी बुद्धि से जिस ज्ञान को प्राप्त करते हैं उसे वे परमेश्वर-निर्मित मानते हैं व उसके लिखे ग्रन्थ को पवित्र मानकर शब्द-प्रमाण की ओर झुकते हैं। बुद्धि-योग और कर्मयोग का इस प्रकार लोप होने से भौतिक विद्या व आत्मविद्या की प्रगति रुक जाती है, धर्म के नाम पर अधर्माचरण होने लगता है व 'विद्या ज्ञान के लिए नहीं विवाद के लिए है,' ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य को बताना पड़ता है --"परमेश्वर और कुछ नहीं, जीव व जगत् का अव्यक्त रूप ही है व यह दृश्य-विश्व है—अपूर्णता से पूर्णता की ओर, अज्ञान मे ज्ञान की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर जानेवाली मनुष्य की यत्न-रूपी व संसार की अनन्त वस्तुओं में अखण्ड परिवर्तन करनेवाली, अव्यक्त शक्ति का व्यक्त रूप। वही द्रष्टा व दृश्य का अव्यक्त स्वरूप अर्थात् परमेश्वर है। तू ही परमेश्वर है, परमेश्वर ही जगत् है। उसीके कारण संसार में परिवर्तन व तेरा उद्धार होता है। तू ही खुद अपना उद्धार कर सकेगा। यत्न ही परमेश्वर है। 'परमेश्वर है' यह तेरी वाणी बोलती हो तो भी वह भिन्न नहीं है ऐसा ही तू अनुभव कर व भौतिक विद्या और अध्यात्म-विद्या की सहायता लेकर अपने प्रयत्न से संसार पर प्रभुत्व पाने का अपना अधिकार तू प्राप्त कर।" भारतीय तत्वज्ञान के आजतक के सारे ज्ञान का यह सार तथा अमृत है। आत्म-ज्ञान का यह सिद्धान्त भौतिक ज्ञान की वृद्धि अथवा उपासना के प्रतिकूल नहीं, अनुकूल ही है। वह जिस प्रकार मानवी प्रयत्न, जीव का स्वातंत्र्य व बुद्धि की आदर्श निर्माण करने की शक्ति का विरोधी नहीं, उसी प्रकार आत्म-सृष्टि व भौतिक सृष्टि के नियमों का, बल्कि नियति का भी, विरोधी नहीं। सृष्टि के नियम और जीव-स्वातंत्र्य का उसमें

समन्वय है व जीवात्मा को परावलम्बी न बनाकर स्वावलम्बी आत्मोद्धार का ही उपदेश करता रहता है। भौतिक फलों की प्राप्ति का जिस प्रकार प्रयत्न ही एक साधन है उसी प्रकार वह आत्मज्ञान या मोक्ष-प्राप्ति का भी साधन है। मोक्ष की कोई पोटड़ी ईश्वर के पास नहीं है। चित्त-शुद्धि और इन्द्रिय-जय के द्वारा मन को निर्विषय करना मोक्ष-प्राप्ति का सही उपाय है। अद्वैत सिद्धान्त का यही सन्देश मनुष्य के लिए है।

आधुनिक यूरोप की प्रगति का श्रेय वहां के व्यापारी-वर्ग को है। आज उस प्रगति को रोकने का श्रेय भी उसी वर्ग को है। यूरोप का नेतृत्व व्यापारी-वर्ग के हाथ में आने पर वहां की संस्कृति का भौतिक बन जाना स्वाभाविक था। भौतिक सम्पत्ति का अर्जन ही समाज में इनका कार्य और वही इनका नित्य व्यवसाय—इससे मानवी सुख ही भौतिक सुख और भौतिक सुख का अर्थ धन से प्राप्त सुख, ऐसी मानवी सुख की व्याख्या यूरोप में शीघ्र ही रूढ़ हो गई। फिर व्यक्ति-स्वातंत्र्य का अर्थ हुआ धनार्जन की स्वतंत्रता, व्यक्ति सुख का अर्थ हुआ धन से मिलनेवाला सुख। इस व्यक्तिगत सुख व धन की रक्षा करना राज्य-सत्ता का आदि-कर्तव्य हुआ व राज्य-सत्ता हुई व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा करनेवाली संस्था। इस तरह का आर्थिक, राजनैतिक व सामाजिक तत्त्वज्ञान वहां शीघ्र ही फैल गया। व्यापारी-वर्ग के सामाजिक तत्त्वज्ञान से, 'व्यक्ति यदि अपनी सम्पत्ति बढ़ाता है, तो राष्ट्र की सम्पत्ति अपने-आप बढ़ती है। इसलिए राजसत्ता व्यक्ति की आर्थिक उन्नति में बाधक न बने। उसे बाधक न बनने देने के लिए राजसत्ता को लोग अपने हाथ में लें व प्रत्येक देश के लोग अपने राष्ट्र की सम्पत्ति, सत्ता व वैभव बढ़ाने का प्रयत्न करें, इसीमें व्यक्ति, राष्ट्र और समस्त मानव-जाति का कल्याण है।' ऐसा मायावी वेदान्त उत्पन्न हुआ। धनार्जन ही सब विद्याओं और शास्त्रों का ध्येय बन गया। अपने राष्ट्र का भौतिक सुख ही सर्वश्रेष्ठ मानव-धर्म बन बैठा। राज-सत्ता को लोक-सत्ता का रूप प्राप्त हुआ; परन्तु यह लोक-सत्ता शीघ्र ही धनिक-सत्ता बन गई और धनिक-वर्ग का ही हित राष्ट्र का हित मान लिया गया।

यह व्यक्तिवादी, सामाजिक विचार-श्रेणी कुछ समय तक यूरोप की प्रगति का कारण बनी। जबतक व्यक्ति बिना कष्ट के धनार्जन नहीं कर

सकता था, जबतक साहस ही से श्री नहीं प्राप्त होती थी, जबतक संयम के बिना संचय नहीं हो सकता था, तबतक यह कहा जा सकता था कि मनुष्य ने जो कुछ कमाया वह उसकी मेहनत का फल है। प्रत्येक व्यापारी को जो नफा मिलता था वह उसके साहस का फल है। प्रत्येक साहूकार को जो ब्याज मिलता था वह उसके संयम का फल है। परन्तु जवसे धनोत्पादन के साधन वदल गये, उद्योग-धन्धे बढ़ गये और छोटे गृह-उद्योग टूटकर बड़े-बड़े कारखाने बन गये तबसे यह व्यक्तिवादी अर्थ-शास्त्र व समाज-शास्त्र, जो छोटे धन्धों से उपजीविका करनेवाले समाज पर लागू होता था, इस कारखानेदार व पूंजीवादी समाज पर लागू न होने लगा। पूंजीवादी समाज में धनार्जन और कष्ट का अनुपात लगा रहता है। धन-संचय का और संयम का कुछ सम्बन्ध नहीं रहता और यदि नफेबाज पूंजीपति को साहस करना भी पड़ा तो वह अपने कष्टार्जित धन पर नहीं, प्राय: दूसरों के धन पर ही संभव होता है। समाज के धनोत्पादन के सब साधन अल्पसंख्यक वर्ग के पास चले जाने पर, व बहु-संख्यक निर्धन-वर्ग को जीवन के आवश्यक साधन प्राप्त करने के लिए अपनी श्रम-शक्ति को बेचकर इन अल्पसंख्यक धनिकों का दास बनने की नौबत आने पर, इन दोनों वर्गों में होनेवाले ठहराव व इकरार स्वेच्छापूर्वक या राज़ी-रज़ामन्दी के इक़रार नहीं हो सकते। इस प्रकार आर्थिक गुलामी में डूबे निर्धन, अज्ञान व असंगठित व्यक्ति को शासन-कार्य में धनिक, विद्वान् व संगठित वर्ग के व्यक्ति के बराबर एक मत का अधिकार देने से सच्ची लोकसत्ता नहीं पैदा हो सकती। ऐसे प्रजासत्तात्मक राज्य की सब प्रातिनिधिक संस्थाएं धनिक-वर्ग के हाथ में चली जाती हैं। उसमें सब कानून-कायदे धनिक-वर्ग की सम्पत्ति के लिए बनाये जाते हैं। ऐसी प्रातिनिधिक संस्थाओं के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल धनिक-वर्ग की सम्पत्ति की रक्षा करनेवाली एक दंडधारी संस्था बन जाती है। लोक-सत्ता का अर्थ है लोकमतानुसार शासन करना; परन्तु लोकमत बनानेवाले अखबारों व पुस्तकों पर, नहीं-नहीं ज्ञान-दान करनेवाले विद्यापीठ व सार्वजनिक शिक्षण-संस्थाओं पर भी देश के धनिक-वर्ग का आक्रमण व प्रत्यक्ष नियंत्रण होने लगता है। ऐसी लोक-सत्ता में व्यक्ति-स्वातंत्र्य का अर्थ धनिकों का सुख और निर्धनों की दासता और राष्ट्रहित का अर्थ धनिक-सत्ता का व

राष्ट्रवाद को साम्राज्यवाद का विकृत रूप प्राप्त होता है।

इस विकृति को नष्ट करने का एकमात्र उपाय है—समाज के धनोत्पादन के साधन धनिक-वर्ग की निजी सम्पत्ति में से निकालकर सार्वजनिक मिलकियत बना देना—अर्थात् समाज-सत्तात्मक प्रजा-सत्ता स्थापित करना। यूरोप के सामाजिक तत्त्वज्ञ आज इस बात को मानते हैं; परन्तु आधुनिक यूरोप के सामने आज वही प्रश्न है कि यह क्रान्ति कैसे की जाय ? इस प्रश्न का जो उत्तर कार्ल मार्क्स ने दिया है उसीमें से आज के वैज्ञानिक समाजवाद उर्फ कम्यूनिज्म और उसके वर्गयुद्ध-रूपी क्रान्ति-शास्त्र का जन्म हुआ है। इसके विपरीत इस क्रान्ति को रोकने के लिए व प्रजासत्ता का आवरण हटाकर, नागरिकों की मूलभूत स्वतन्त्रता को छीनकर केवल पूंजी-प्रधान समाज-रचना को चिरन्तन करने के लिए फासिज्म का उदय हुआ है। मालिक और मजदूर इस वर्ग-भेद को मिटाकर एकवर्गीय समाज-रचना करने के लिए कम्यूनिज्म का क्रान्ति-शास्त्र बना। इसके विपरीत प्रचलित वर्ग-भेद कायम रखकर समाज-सत्तात्मक क्रान्ति को दबाने के लिए फासिज्म का क्रान्ति-प्रतिबन्धक शास्त्र आज यूरोप में निर्माण हुआ है। इन दोनों शास्त्रों का विश्वास शस्त्र-बल पर है। शस्त्र-बल के झगड़ों के इस वातावरण में, आधुनिक यूरोप में, आत्म-बल पर अधिष्ठित क्रान्ति-शास्त्र फैलाने की अथवा बड़े पैमाने पर उसका अवलम्बन लिये जाने की सम्भावना आज तो नहीं दिखाई देती। आधुनिक भारत में आत्मबल के जिस निःशस्त्र क्रान्ति-विज्ञान का विकास हुआ है वह कम-से-कम भारतवर्ष में, प्रजा-सत्ता से समाज-सत्ता में जाने के जरूर काम आवेगा और आज जो उसे अकेली राष्ट्रीय प्रजा-सत्तात्मक क्रान्ति का रूप मिला है उसके विकास में से ही स्वतन्त्र भारत की सर्वांगीण सामाजिक क्रान्ति पैदा होगी—ऐसा हमारा मत है।

कार्ल मार्क्स के वैज्ञानिक क्रान्तिवाद का भी थोड़ा विचार यहां कर लें। मार्क्स ने यूरोप की पिछली दो-तीन सदियों के इतिहास का अवलोकन करके अपने शास्त्रीय या वैज्ञानिक समाज-सत्ता के क्रान्तिवाद का स्वरूप निश्चित किया। मध्ययुगीन यूरोप में, सामन्तशाही के उदर में से ही व्यापारी-वर्ग का उदय हुआ। सरदारों और राजाओं की भौतिक व आर्थिक जरूरतें पूरी

करने के व्यवसाय से उसकी बढ़ती हुई। इस बाढ़ में सरदार लोगों की ओर से विघ्न डाला जाने लगा। उनके आपसी संघर्ष से देश में शान्ति नहीं रहती थी, जिससे व्यापार व लेन-देन की उन्नति नहीं हो सकती थी। यह देखकर सरदार-वर्ग को मिटाने में राजा लोगों की उसने मदद की और सामन्त-शाही को मिटाने में सहयोग दिया। यह सामन्तवर्ग हमारी वर्ण-व्यवस्था का क्षत्रिय-वर्ण था। सामन्तशाही पद्धति में लोगों की रक्षा करना उनका व्यक्तिगत कार्य ही था। आसपास चार सिपाही इकट्ठे किये और अपने बाहुबल से चाहे जहां एक छोटा-सा राज्य कायम कर लेते थे। यह बिलकुल प्रारम्भिक अवस्था का क्षात्र-धर्म था। फिर चार की जगह चार सौ सिपाही व चार हजार पैदल व घुड़सवार इकट्ठे करके उन्होंने धड़ाधड़ राज्यों पर कब्जा करना शुरू किया। ताहम कुछ समय तक इन सामन्त लोगों ने देश व प्रजा की रक्षा की। परन्तु बाद को ये लोग व्यापारियों व साहूकारों को ही लूटने लगे व देश में अराजकता फैलाने लगे। बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय एकच्छत्र शासन स्थापित करने में इससे रुकावट पैदा होने लगी और शान्ति-काल में जो सम्पत्ति और संस्कृति की उन्नति हो सकती है वह रुक गई। इसके विपरीत व्यापारी-वर्ग, स्वदेश और विदेश में व्यापार करके अपने देश की धन-दौलत बढ़ाने लगा। तब राजाओं ने इस सामन्त-वर्ग को, जो देश की साम्पत्तिक उन्नति में बाधा डालता था, नष्ट करके रक्षण की जिम्मेदारी अपने हाथ में ली और इन उद्योग-धन्धों का राष्ट्रीयकरण किया। उस समय इस सामन्त-वर्ग ने परम्परागत व्यक्तिगत अधिकार और स्वतन्त्रता-रक्षा के नाम पर इस राष्ट्रीयकरण का विरोध किया। उसने यह पुकार मचाई कि हमारे जैसे अभिजात श्रेष्ठ वर्ग को कल के उपजे व्यापारी-वर्ग के समान दर्जे में ला रखना अप्राकृतिक है। ऐसी सामाजिक विषमता कानून के द्वारा नहीं पैदा की जा सकती, निदान कुछ समय तक वह कायम नहीं रह सकती। जागीरें दिये बिना सेनापतित्व स्वीकार करके देश के लिए अपने प्राणों की आहुति देने को कोई भी आगे न बढ़ेगा और इसलिए, जागीरदार-वर्ग को नष्ट करने से अन्त में राष्ठ्र की ही हानि होगी, ऐसा भय उन्होंने दिखलाया। फिर भी यूरोप के बढ़ते हुए व्यापारी-वर्ग ने अभीष्ट सामाजिक व राजनैतिक क्रान्ति कर ही डाली। जब राजा अपनी सैनिक-

सत्ता व सम्पत्ति का दुरुपयोग करने और धनिक समाज पर मनमाना कर लादने लगे, तब किसानों का नेतृत्व करके, व्यापारी-वर्ग ने प्रजा-सत्ता की स्थापना की, सामाजिक समता की घोषणा की व राष्ट्रीय बन्धुभावना का ढिंढोरा पिटवाया। इस तरह जमींदार, जागीरदार व व्यापारी-वर्ग की सलाह से यूरोप में प्रजा-सत्ता का जन्म हुआ। बाद को यही व्यापारी साहू-कार, औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात्, मिलमालिक और कारखानेदार बन गये।

इस औद्योगिक क्रान्ति से धनोत्पादन की मात्रा बढ़ गई; परन्तु अब इस मात्रा-भेद से प्रकार-भेद पैदा हो गया। छोटे पैमाने के उद्योग-धन्धों में धनोत्पादन प्रायः मालिकों के श्रम से होता है। बड़े-बड़े कारखानों से धनो-त्पादन मालिक के श्रम से नहीं, बल्कि मजदूरों के श्रम से होता है। इस तरह धनोत्पादन की मात्रा के बढ़ते ही उसका प्रकार भी बदल गया। मात्रा-भेद से जब प्रकार-भेद पैदा होता है तब फिर पहले की समाज-रचना का प्रकार भी बदलना पड़ता है। जो बन्धन छोटे धन्धोंवालों के समाज में निभने के लिए काफी होते हैं वे बड़े उद्योगपतियों को नहीं होते।

कोई प्राणि-शास्त्री शायद यह कहे कि घरेलू बिल्ली, जंगली बिल्ली और शेर इनकी आकृति में कदाचित् मात्रा-भेद ही है। परन्तु कोई समाज-शास्त्री यह नहीं कहेगा कि घरेलू बिल्ली की तरह जंगली बिल्ली या शेर को समाज में बिना रोक-टोक के आज़ाद रहने दिया जाय। बैलगाड़ी की राहदारी का नियन्त्रण करने के लिए जो नियम काफी होते हैं वे मोटर के लिए काफी नहीं होते और पांच-पचास घर के गांव के सार्वजनिक आरोग्य के नियम पांच-पचास हजार घरवाले औद्योगिक शहर की आरोग्य-रक्षा के लिए काफी नहीं होते। इन उदाहरणों से यह दिखाई देगा कि मात्रा-भेद से प्रकार-भेद पैदा होता है और जब समाज के सामाजिक व्यवहारों का परि-णाम और प्रकार बदलता है तो उसके नियम का भी प्रकार बदल जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि पहले की समाज-रचना का सारा रूप ही बदलकर उसमें क्रान्ति करनी होती है। कार्ल मार्क्स ने यह दिखाया कि औद्योगिक क्रान्ति के कारण ऐसी ही एक सर्वांगीण सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता ही नहीं, बल्कि शक्यता भी उत्पन्न हो गई है। सामन्तशाही से प्रजासत्ता में

जाने की क्रान्ति जिस तरह व्यापारी-वर्ग के नेतृत्व में हुई उसी तरह उसने यह भी बता दिया कि, प्रजासत्ता से समाजसत्ता की अवस्था में जाने की क्रान्ति मजदूर-वर्ग करेगा, जो कि पूंजीवाद के अधीन बना है, उसीके काम के लिए संगठित हुआ है और उसी समय में धनोत्पादन का काम अपने संगठित प्रयत्न से करते हुए क्षण-क्षण जिसका शोषण होता है।

उसका यह मत था कि यह क्रान्ति एकवर्गीय समाज की स्थापना करके मानव-समाज की नैतिक व सांस्कृतिक उन्नति करेगी; परन्तु उसका यह भी कहना था कि उस क्रान्ति के लिए यह एक ही कारण काफी न होगा। समाज की एक रचना मिटकर जब उसकी जगह दूसरे प्रकार की रचना अस्तित्व में आती है तब वह केवल नैतिक व सांस्कृतिक उन्नति की आकांक्षा से ही नहीं हो सकती। कोई भी समाज-रचना महज नैतिक व सांस्कृतिक दृष्टि से अपूर्ण हो तो इसी कारण से लोग उसे बदल डालने या उसमें क्रांति के लिए तैयार नहीं होते। उसमें क्रान्ति उसी अवस्था में होती है जब वह अपने अन्तर्गत विरोधों से नष्ट-प्राय हो जाती, अच्छी तरह चल नहीं सकती या नष्ट हो जाती है, और सब लोग यह समझने लगते हैं कि उससे हमारी जीवन-यात्रा अब चल नहीं सकती। प्रत्येक समाज-रचना में ऐसे अन्तर्गत विरोध रहते हैं व बढ़ते हैं और जब वह समाज-रचना टूट पड़ती है, तभी नवीन समाज-रचना स्थापित करनेवाली क्रान्ति होती है। इस प्रकार के अन्तर्गत विरोध पूंजीवादी समाज-रचना में हैं और उसकी बढ़ती के साथ-साथ बढ़ते भी हैं। प्रत्येक समाज-रचना के विनाश-बीज उसीके इस अन्तर्विरोध में घुले-मिले रहते हैं व उस समाज-रचना की बढ़ती के साथ उनकी भी वृद्धि होती रहती है। पूंजीवाद के विकास के साथ ही उसके विनाश-बीज यानी मजदूर-वर्ग भी बढ़ और संगठित हो रहा है।

पूंजीवाद का प्रमुख अन्तर्विरोध इस प्रकार बताया जा सकता है—'इस समाज-यन्त्र की तमाम प्रेरक शक्ति व्यक्तिगत नफा व स्पर्धा में है। मुनाफे के लिए मजदूरों का वेतन कम करना और माल की दर बढ़ाना ये दो साधन पूंजीपति काम में लाता है व आपस की प्रतिस्पर्धा के कारण मजदूरों को चूसने की नीति वह नहीं छोड़ सकता। मजदूरों का वेतन कम करके उन्हें चूसना और अपने माल की खपत बढ़ाना, दोनों बातें एक-दूसरे

से मेल नहीं खाती। आम जनता का शोषण होने से उसकी क्रयशक्ति कम होती है व खरीदार न मिलने से माल की खपत न हुई तो कारखाने बन्द करने पड़ते हैं। कारखाने बन्द हुए तो लोग बेकार होते हैं और बेकारी से जनता की क्रयशक्ति और भी घट जाती है। इसीसे औद्योगिक संकट पैदा होते हैं। संकटों को दूर करने के लिए यूरोपीय राष्ट्रों ने साम्राज्य का अवलम्बन लिया। इससे कुछ समय तक वे इस संकट से बचे रहे। ताहम आज यूरोप के साम्राज्यवादी देश, इस उपाय से भी, उस संकट को दूर नहीं कर सकते। इससे छूटने के लिए जिस साम्राज्यवाद का अवलम्बन उन्होंने लिया उसके द्वारा आज पहले से भी अधिक भयंकर संकट-परम्परा महायुद्ध के रूप में उनके सामने आ गई है। फिर साम्राज्य के विजित राष्ट्र भी अपनी औद्योगिक उन्नति करके यूरोपीय राष्ट्रों से औद्योगिक स्पर्धा कर रहे हैं जिससे चीन, हिन्दुस्तान-जैसे देशों की मंडियां उनके हाथ से जा रही हैं। इतना ही नहीं बल्कि जिन यूरोपियन पूंजीपतियों ने चीन व हिन्दुस्तान में अपनी पूंजी लगाकर कारखाने खड़े किये उन्हींकी स्पर्धा आज यूरोपियन कारखानेवालोंको चुभ रही है। हिन्दुस्तान-जैसे देश का सौ साल तक सतत शोषण होने से यहां की निर्धन जनता भी यूरोपीय कारखानेवालों का माल ले नहीं सकती। इस तरह जिस संकट को वे टालना चाहते थे वह अधिक भीषण रूप में उनके सामने आ खड़ा हुआ है। प्रत्येक देश में मालिक और मजदूरों का वर्ग-कलह जोरों पर है, जिसमें से क्रान्ति हुआ ही चाहती है। इस तरह पूंजीवादी समाज-रचना व संस्कृति अपने अन्तर्विरोध के हवन-कुण्ड में जलकर भस्म हो जावेगी'—मार्क्स की यह भविष्यवाणी यूरोप में बहुत-कुछ सच निकली है व सच निकलने की बिलकुल तैयारी में है, यह कहना ग़लत नहीं। लेकिन 'यूरोप की वर्तमान पूंजीपति-संस्कृति नष्ट होने पर उसमें से नवीन समाज-सत्तात्मक संस्कृति निर्माण होगी।'—मार्क्स का यह कथन अवश्य ही सच होगा, यह विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता। हमें इसकी सम्भावना बहुत कम मालूम पड़ती है। परन्तु हां, इस बात में कोई सन्देह नहीं कि मानव-संस्कृति अब आगे समाज-सत्तात्मक रूप ही धारण करेगी।

मार्क्स के क्रान्ति-शास्त्र का स्वरूप समझने के लिए उसके एक-दो और

मतों का जिक्र करना जरूरी है। समाज-सत्तात्मक क्रान्ति साधारणत: प्रजा-सत्तात्मक वैध उपायों से नहीं बल्कि सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा सफल होगी, यह उसका साधारण सिद्धान्त था। उसका मत था कि इस समाज-सत्तात्मक सशस्त्र क्रांति के बाद कुछ समय तक अनियंत्रित मजदूर-सत्ता (Dictatorship of Proletariat) सथापित होगी। जब पूंजीवाद निर्मूल हो जायगा तो समाज में मजदूर-वर्ग के अलावा कोई वर्ग बाकी न रहेगा और एक-वर्गीय समाज-रचना स्थापित हो जायगी। इस एकवर्गीय समाज-रचना में धनोत्पादन के सब साधन समाज की मिल्कियत हो जायंगे, जिससे सामुदायिक धनोत्पादन का सारा लाभ सबको एक-सा मिलेगा। सबके सुख की मात्रा बढ़ जायगी, सबकी आवश्यकताएं यान्त्रिक उत्पादन की सहायता से बहुत थोड़े कष्ट में पूरी होने लगेंगी। यह विश्वास रहेगा कि हमारे कष्ट का फल कोई दूसरा वर्ग नहीं छीनेगा, वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष आज या कल सब-का-सब हमारे या हम-जैसे मजदूरों को आज या अगली पीढ़ी में मिलता रहेगा जिससे वे खुशी-खुशी धनोत्पादन के सब कष्ट स्वीकार करेंगे। बल, वृद्ध, बीमार सबकी सेवा-शुश्रूषा समाज के द्वारा होती रहेगी और सब प्रौढ़ सशक्त व्यक्तियों को काम देकर उनकी आवश्यकता के योग्य वेतन देने की व्यवस्था समाज करेगा। समाज के सब लोगों को ऐसी स्थिरता का अनुभव होने से धन-संचय का लोभ कम हो जायगा। जब समाज में ऐसा लोकमत बन जायगा कि समाज के किसी भी वयस्क और सशक्त व्यक्ति को बिना काम किये पैसा या धन नहीं मिल सकता व ऐसा करना उचित भी नहीं तथा ऐसा प्रत्यक्ष व्यवहार समाज में सालों तक होता रहेगा व जब समाज की भौतिक आवश्यकताएं पूरी करने के लिए कम श्रम की जरूरत रहने से एकवर्गीय समाज में अनेक वर्षों तक बन्धु-भावना रूढ़ हो जायगी व मजदूर-संस्कृति की स्थापना होगी तो फिर समाज में किसी प्रकार के दण्डधारी शासन-यन्त्र की जरूरत नहीं रह जायगी। सामाजिक विषमता से पैदा होनेवाले अपराध, अत्याचार, अशान्ति मिट जायगी व मजदूर-सत्ता का शासन-यन्त्र बेकार बनकर अपने-आप मिट जायेगा। इसके बाद वास्तविक वर्ग-विग्रह-रहित मानव-संस्कृति का उदय होकर मानव-इतिहास का वर्ग-विग्रही जंगली युग नष्ट हो जायगा।

यह जो समाज-सत्तात्मक क्रान्ति का स्वरूप बताया गया, वह मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवादान्तर्गत क्रान्ति-शास्त्र का स्थूल स्वरूप है। समाज की प्राथमिक अवस्था को छोड़ दें तो उसकी प्रत्येक अवस्था में दो वर्ग रहते हैं—गुलाम और उनके मालिक, भूदास व जमींदार और मज़दूर व मिल-मालिक। इनमें से पहला वर्ग श्रम और कष्ट करके समाज के धनोत्पादन का सारा भार उठाता है और दूसरा वर्ग उनको उसमें से महज इतना-सा हिस्सा देकर जिसमें वे मात्र जी सकें, शेष सारा भाग खुद हड़प लेता है। गुलामों का वर्ग नष्ट होने पर, मध्ययुग में, भूदास-वर्ग बना और मध्य-युगीन संस्कृति के लय हो जाने पर आजकल का मजदूर-वर्ग निर्माण हुआ; तथापि प्राचीन, मध्य-युगीन व अर्वाचीन तीनों काल में मानव-संस्कृति किसी-न-किसी रूप की गुलामी पर ही खड़ी रही और है। आधुनिक यूरोप में मजदूर-वर्ग स्वतंत्र नागरिक बन गया है, उसे मतदान का अधिकार मिला है। मजदूरों में से हरेक को चाहे जितना धन कमाकर पूंजीपति बनने की स्वतन्त्रता कानून ने दे दी है। मगर इससे यह कहना कि पूंजी-पति समाज में गुलामी नहीं है, गलत है और आज के समाज में निर्धन मजदूर वर्ग को इकरार-स्वातन्त्र्य है यह मानना बिल्कुल भ्रम है। यह बात कार्ल मार्क्स ने बहुत अच्छी तरह साबित कर दी है। पूंजीपति समाज में धनो-त्पादन के सब साधन मुट्ठीभर धनिकों के हाथ में रहते हैं और बहुसंख्यक निर्धन-वर्ग को अपनी श्रम-शक्ति बेचनी पड़ती है व पूंजीपति जो-कुछ भी वेतन दें उसे चुपचाप ले लेना पड़ता है। इस श्रम-शक्ति से क्रय-विक्रय में मजदूर के पल्ले अधिक-से-अधिक हुआ तो महज उपजीविका-भर के साधन पड़ सकते हैं व उनके बल से उत्पन्न सारी संपत्ति पूंजीपति-वर्ग को मिलती है। जिस तरह बैल के सारे श्रम-कष्ट से उत्पन्न अनाज मालिक के कब्जे में जाता है, बैल के चारा-पानी के खर्च के अलावा जो-कुछ धन बचता है वह सब मालिक को मिलता है उसी तरह समाज के मजदूर-वर्ग के उदर-निर्वाह के बाद बचा सारा धन, जमीन, ब्याज व मुनाफा अनेक रूपों में मालिक-वर्ग को मिलता रहता है। इस पूंजीपति समाज में मजदूर का दर्जा बैल या गुलाम के दर्जे से भिन्न नहीं होता। इसलिए जबतक मालिक-वर्ग के पास संकलित धनोत्पादन के सब साधनों को, जिन्हें समाज के सब लोगों

के जीवन-साधन कहना चाहिए, सार्वजनिक संपत्ति बनाकर समाज-सत्तात्मक प्रजातन्त्र स्थापित न होगा तबतक मनुष्य-समाज से गुलामी का अन्त नहीं होगा, न मानव-संस्कृति से वर्ग-कलह ही नष्ट हो सकता है। मार्क्स का यह मुख्य सिद्धान्त है। समाज-सत्तात्मक अवस्था समाज को प्राप्त कराने के लिए वर्ग-निग्रह से उत्पन्न मजदूर-सत्ता या श्रमिक-सत्ता एक सर्व-सामान्य उपाय है, ऐसा भी उसका मत था।

आज तक समाज में एक परोपजीवी व दूसरा श्रमोपजीवी ऐसे दो वर्ग रहते आये हैं। इनमें से राजसत्ता परोपजीवी वर्ग के पास रहने से समाज के सब कानून-कायदे, रूढ़ि, धर्माचार, सामाजिक आदर्श, नैतिक विचार, विज्ञान और कला इन सबपर सत्ताधारी व परोपजीवी वर्ग की छाप पड़ी है। इससे आजतक की मानव-संस्कृति समाज के आधार-भूत वर्ग-भेद वर्ग-विग्रह से विकृत हो चुकी है। समाज के कानून, रूढ़ि, धर्माचार, धर्मविचार, सामाजिक आदर्श, नैतिक विचार, विज्ञान व कला, सामाजिक नियम इन सबका उपयोग वरिष्ठ वर्ग ने अपने स्वार्थ के लिए व कनिष्ठ वर्ग की दासता को समर्थनीय व चिरन्तन करने में किया है। राजनीति, समाज-नीति, अर्थ-नीति, इन सबमें मानव-संस्कृति का मूलभूत यह वर्ग-विग्रह प्रतिबिंबित हुआ है और राजा तथा राज्याधिकारी, समाजनेता और उसके अनुयायी, अर्थ-शास्त्रज्ञ व धर्म-शास्त्रज्ञ, कवि व दूसरे कलाकार इन सबने समाज के इस वर्ग-भेद व तज्जन्य विषमता को स्वीकार किया है। इस दृष्टि से आज तक का मानव-संस्कृति का इतिहास वर्ग-विग्रह का इतिहास है और अब-तक उसमें जो सर्वांगीण समाज-क्रान्तियां हुई हैं वे वर्ग-विग्रह से उत्पन्न क्रान्तियां है, ऐसा कार्ल मार्क्स का मत है। उसके इस सिद्धान्त के अनुसार समाज-सत्तात्मक क्रान्ति वर्ग-विग्रह में से ही उत्पन्न होगी और वह प्रायः सशस्त्र ही होगी। मानव-संस्कृति को पूंजीवादी युग के बाद कौन-सा स्वरूप प्राप्त होगा व कैसा होगा, इसकी साधारण कल्पना इस सिद्धान्त से हो सकती; परन्तु किस देश में कौन-सी क्रान्ति किस तरह होगी व कब होगी और वहां समाजवाद की स्थापना किस साधन व अनुक्रम से होगी, इस व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से अत्यन्त महत्व के प्रश्नों का उत्तर देने में मार्क्स की इस उपपत्ति का, स्थूल सामान्य ज्ञान किसी काम नहीं आता।

मार्क्स-ऐंजल्स के बाद लेनिन ने कम्यूनिजम के व्यावहारिक क्रान्ति-शास्त्र में बहुत उन्नति की है; लेकिन यह अनुभव हुआ कि लेनिन का क्रान्ति-शास्त्र भी रूस के बाहर संसार में दूसरी जगह ज्यों-का-त्यों लागू नहीं किया जा सकता। तब लेनिन के बाद कम्युनिस्ट नेताओं ने भी इस क्रान्ति-शास्त्र में बहुत घटा-बढ़ी की है। फिर भी यह मानना कि कम्यूनिजम ने एक ऐसा क्रान्तिशास्त्र बना रखा है, जो संसार के सभी राष्ट्रों पर घट सकता है, महज़ भ्रम है और ऐसी अपेक्षा करना भी हमारी राय में वैज्ञानिक मनोवृत्ति का द्योतक नहीं है।

पहले महायुद्ध के बाद कुछ ही दिनों में मार्क्सवादी विचारों ने हिन्द की राजनीति में प्रवेश किया। १९२० में गांधीजी द्वारा छेड़ा गया अनत्याचारी असहयोग का आन्दोलन जब मन्द पड़ा गया तब १९२२ में भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की प्रस्थापना हुई। १९२७ तक बड़े-बड़े औद्योगिक शहरों के मजदूर-वर्ग में उसका प्रचार प्रचुर मात्रा में हो गया। लेकिन इसके बाद सायमन-कमीशन के बहिष्कार के रूप में राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ने लगा और अन्त में उसकी परिणति १९३० में भारतीय स्वातन्त्र्य के सत्याग्रह-संग्राम में हो गई। कम्युनिस्ट पार्टी ने राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के इस आन्दोलन में बिलकुल ही सहयोग नहीं दिया। इसीसे १९३४ में मार्क्सवाद के आधार पर समाजवादी दल कांग्रेस के अन्दर स्थापित हुआ। यह राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के आन्दोलन से व उस आन्दोलन को चलानेवाली कांग्रेस से अधिक मात्रा में समरस होनेवाला दल था। इसके कुछ दिनों बाद भाई मानवेंद्रनाथ राय ने मार्क्सवाद के आधार पर एक और पक्ष की स्थापना की। अब यह रायवादी दल राजनीति से अलग होकर विलीन हो गया है। भारतीय समाजवादी पक्ष ने अपने को प्रजासमाजवादी पक्ष में रूपांतरित कर लिया है और गांधीवाद का क्रान्तिकारी रूप पहचानकर व उसका क्रान्तिकारी अहिंसातत्त्व अपनाकर वह यह कहने लगे हैं कि मार्क्सवाद का पुनःसंशोधन करना चाहिए। कम्यूनिस्ट यह मानकर कि भारतीय राज्य-क्रान्ति से या गांधीवाद से मार्क्सवाद के लिए कोई नसीहत लेने की आवश्यकता नहीं है, अपनी राह जा रहे हैं। १९३० के सत्याग्रह-आन्दोलन से जिस तरह वे अलग रहे, उसी तरह १९४२ में देश में जो प्रचंड आन्दोलन

हुआ, उससे भी वे अलग ही रहे। इतना ही नहीं बल्कि बयालीस के इस आन्दोलन का उन्होंने विरोध किया और भारतीय राजनीति के क्षेत्र में अपना जो स्थान था उसको वे पूरी तरह खो बैठे। आगे भी शुद्ध मार्क्स-वादी सनातन वृत्ति के इस पक्ष को कोई महत्त्व का स्थान मिलेगा, ऐसा सम्भव नहीं है।

दूसरे महासमर के बाद विचारों के संसार में यह मत फैला कि मार्क्स-वाद का पुनःसंशोधन करके या मार्क्सवाद के गुण-दोषों का विवेचन करके समाजवादी तत्वज्ञान को नये रूप में लोगों के सामने रखना चाहिए। लेकिन साथ ही समाजवादी क्रान्ति की तीव्रता भी अब अधिक महसूस होने लगी है। यूरोप में मार्क्सवाद पर आधारित जो कम्युनिस्ट विचार-प्रणाली है उससे भिन्न एक और लोकशाही समाजवादी विचार-प्रणाली (Demo-cratic Socialism) या सामाजिक लोकशाही (Social Democracy) के नाम से महशूर एक तत्त्वज्ञान व उसके आधार पर बने राजनैतिक दल अलग-अलग देशों में आज काम कर रहे हैं। लेकिन इन राजनैतिक दलों के पास कोई क्रान्तिकारी वृत्ति नजर नहीं आती। केवल प्रातिनिधिक संस्थाओं की राजनीति को ही वे समाजवादी परिवर्तन का साधन मानते हैं। इसके अलावा हड़ताल का एक प्रत्यक्ष प्रतिकार का साधन उनके पास है ज़रूर; लेकिन अगर हड़ताल करने का अधिकार ही कानून से छीन लिया जाय या मत-प्रचार और संगठन का स्वातंत्र्य भी छीन लिया जाय तो समाज-वादी दल अपना काम किस तरह जारी रखे, इसके बारे में उनके पास कोई ठीक विचार या कार्यक्रम नहीं है। ऐसे अवसर पर सविनय कानून-भंग तथा अनत्याचारी असहकार के रूप में सत्याग्रह करके समाजवादी क्रान्ति का कार्य स्वार्थत्याग व आत्मक्लेश के जरिये सफल बनाया जा सकेगा, ऐसा सबक गांधीजी के क्रान्तिकारी नेतृत्व से भारतीय समाजवादियों ने लिया है और उसी सत्याग्रह की नींव पर भारतीय समाजवाद को खड़ा करने की कोशिश व प्रयोग वे कर रहे हैं। लेखक मानता है कि इससे महात्मा गांधी का सत्याग्रही क्रान्तिकारी-तत्त्व और लोकशाही समाजवाद का समन्वय होगा और भारत में मार्क्सवाद से श्रेष्ठ सामाजिक तत्त्वज्ञान व क्रान्तिशास्त्र का निर्माण होगा। गत पच्चीस-तीस सालों तक मार्क्सवाद फैलाने का काम

जिन लोगों ने किया उनको चाहिए था कि उसी अर्से में इस देश में गांधी-वाद ने जो राजनीति चलाई उसका सहानुभूति से निरीक्षण करते। इससे उन्हें पता चलता कि मार्क्सवाद में जिन तत्वों का अभाव है वे गांधीवाद में हैं और उन्हींकी आवश्यकता भारतीय राजनैतिक आन्दोलनों में थी। इसीसे हिन्दी राजनीति में गांधीवाद तथा गांधीजी का नेतृत्व इन दोनों का प्रभाव बढ़ता गया और गांधीजी के हाथों में यहां की राजनीति के सूत्र आ गये। इससे मार्क्सवाद की कमियों का पता हिन्दी समाजवादियों को लग जाना चाहिए था और समाजवादी तत्त्वज्ञान तथा क्रान्तिशास्त्र को मार्क्स-वाद से अधिक निर्दोष तथा ठोस नींव पर खड़ा करने की ज़रूरत महसूस होनी चाहिए थी। शायद उस आवश्यकता को जानकर ही प्रजासमाज-वादी पक्ष के नेताओं ने आज अपनी नीति निर्धारित की है। रायवादियों ने तो राजनैतिक क्षेत्रों का त्याग ही किया है। सिर्फ कम्युनिस्ट दल ऐसा है कि जिसको अभी तक मार्क्सवाद में किसी बात की कमी महसूस नहीं हो रही है।

जिन तत्त्वों के अभाव में मार्क्सवाद का प्रभाव यहां की राजनीति पर नहीं पड़ा, ऐसा लगता है कि उनका यहां थोड़े में जिक्र करना असंगत न होगा। इसके बारे में सोचते समय निम्न चार बातों का विचार करना चाहिए—

१. राष्ट्रीय भावना व वर्ग-विग्रह।

२. रक्तरंजित क्रान्ति को टालने का तन्त्र।

३. सामाजिक विचार-सृष्टि और बाह्य वस्तु-सृष्टि।

४. धर्म-भावना व क्रान्ति-वृत्ति।

इसके बारे में मार्क्सवाद की जो भूमिका है उसके अनुसार विचार करने से पता चलेगा कि मार्क्सवाद जिस वक्त हिन्दुस्तान में आया, तबसे आज तक इस देश की हालत ऐसी रहीं है कि जिससे उसके बारे में पुनर्वि-चार करना जरूरी है। इसीलिए हमें लगता है कि मार्क्सवाद का चश्मा जिन्होंने अपनी आंखों पर से न हटाया और निरहंकार व निर्विकार मन से यहां की हालत का निरीक्षण न किया, वे अपना असर हिन्दी राजनीति पर न अबतक डाल सके हैं, न आगे डाल सकेंगे।

हिन्दुस्तान में जब मार्क्सवाद पहले आया तब पहला महायुद्ध खत्म हो चुका था। तबसे तीस-पैंतीस साल के प्रयास से हिन्दी जनता के हृदय में कांग्रेस ने राष्ट्रीय भावना पैदा की, जो युयुत्सु-रूप धारण करके विदेशी साम्राज्यशाही से सम्पूर्ण स्वाधीनता का संग्राम करने के लिए तैयार हो गई। इस आन्दोलन की आद्य प्रेरणा राष्ट्रीय भावना ही रही। इसके विपरीत मार्क्सवाद वर्ग-विग्रह को क्रान्तिशास्त्र की आद्य प्रेरणा मानता है। जब अपने राष्ट्र से विदेशी सत्ता को हटाना हो तब देश की राजनीति में अलग-अलग वर्गों के स्वार्थ में विरोध नहीं होता, ऐसी बात नहीं। लेकिन ऐसी हालतवाले देशों में अगर क्रान्ति करनी है तो केवल वर्ग-विग्रह के तत्त्व पर अपनी राजनीति का आधार न रखकर वर्ग-समन्वय का तत्त्व मानकर ही क्रान्तिकार्य में शामिल होना चाहिए। लेकिन जो मानते थे कि मार्क्सवाद व उसके तत्त्वज्ञान में कोई नई बात जोड़ने की आवश्यकता नहीं है या वह एक परिपूर्ण क्रांतिशास्त्र व तत्त्वज्ञान है, उनके लिए राष्ट्रीय भावना पर जोर देकर चलनेवाले स्वातंत्र्य-संग्राम में शामिल होना असम्भव था। यही वजह है कि भारतीय कम्युनिस्ट दल भारत के राष्ट्रीय संग्राम से या उसकी राष्ट्रीय वृत्ति से कभी सहमत न हो सका। १९२० से १९४७ तक जब कभी भारत में विदेशी साम्राज्य-सत्ता के खिलाफ प्रचण्ड आन्दोलन उठ खड़े हुए तब कम्युनिस्टों ने इन आन्दोलनों से अलिप्त रहने की नीति अख्तियार की। इतना ही नहीं बल्कि उनका विरोध भी किया। भारत के स्वतन्त्र होने पर जब यहां लोकतन्त्र को माननेवाली पहली राष्ट्रीय सरकार बनी तब उसके खिलाफ वर्ग-विग्रह के आधार पर उन्होंने सशस्त्र क्रांति की और सरंजामशाही निजामी रियासत का सहारा लेकर वह भारत के टुकड़े करने पर उतारू हो गये। पाकिस्तानवादियों के साथ मिलकर उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय सरकार के खिलाफ राजनैतिक मोर्चा खड़ा किया। हिंदी कम्युनिस्ट-राजनीति के गत पच्चीस-तीस सालों के इतिहास को देखने से पता चलता है कि वह अविवेक से कितना भरा है! भारतीय कम्युनिस्ट-पक्ष ने मार्क्सवाद से वर्ग-विग्रह का तत्त्व उठा लिया और उसका कहां और कितना उपयोग करना चाहिए या उसकी मर्यादाएं क्या हैं, इसका विचार न करके हिन्दी राजनीति में उसका दुरुपयोग ही किया। उनके अविवेक से

हिन्दी राष्ट्रीयता की प्रगति में अनेक बाधाएं आईं। गत तीस-पैंतीस सालों में भारत में जो क्रान्तिकारी आन्दोलन हुए उनसे नसीहत लेकर मार्क्सवादी अपने तत्त्वज्ञान का विकास जरूर कर पाते, लेकिन स्वतन्त्र प्रज्ञा का यह रास्ता छोड़कर उन्होंने भारतीय राजनीति से अपने को हमेशा के लिए अलग कर दिया है।

ब्रिटिश-राजनेताओं को यह बात मालूम थी कि एक-न-एक दिन यहां से उन्हें अपना डेरा उठाना पड़ेगा। उन्होंने हमेशा ऐसी कोशिश की कि यहां की क्रान्ति शांतिमय रहे। कांग्रेस की स्थापना करने में ह्यूम, वेडरबर्न आदि ने हिन्दी नेताओं को सहयोग दिया और लोकतन्त्रात्मक राजनीति का प्रारम्भ किया। उनके सामने यह ध्येय था कि हिन्दुस्तान में खून बहाये बगैर स्वराज्य-प्राप्ति की राजनीति सफल हो। दादाभाई, रानडे, तिलक, गोखले आदि सबके हृदय पर व राजनीति पर हम उनके इस बर्ताव का असर देखते हैं। इसीसे १९०५ के बाद जो राष्ट्रीय पक्ष बना उसने भी जहां-तक हो, रक्तपात टालने की कोशिश की और बहिष्कार-योग की निःशस्त्र क्रान्ति की नीति अपनाने का फैसला व्यवहार-दृष्टि से किया। इसी बहिष्कार-योग को महात्मा गांधी ने क्रान्तिकारक अहिंसा का अधिष्ठान दिया व सम्पूर्ण स्वाधीनता का आन्दोलन अलग-अलग रूपों में तीस साल चलाकर उसको कामयाब बनाया। ब्रिटिश राजनेताओं ने गांधीजी के आन्दोलन का यद्यपि पूरी तरह मुकाबला किया, फिर भी इस बात को कभी उन्होंने नज़र-अन्दाज़ नहीं होने दिया कि भारत तथा ब्रिटेन का पारस्परिक झगड़ा रक्तपात को टालकर चल सकता है। लार्ड रीडिंग, लार्ड अर्विन और लार्ड लिनलिथगो इन तीनों वाइसरायों के जमाने में गांधीजी ने एक-से-एक बढ़कर प्रचण्ड आन्दोलन किये। इन वाइसरायों ने इन आन्दोलनों को दबाने की पूरी कोशिश की फिर भी आन्दोलन रुक जाने पर कांग्रेस व गांधीजी के साथ समझौते हुए। अन्त में भारतीय स्वाधीनता का सवाल यथासम्भव रक्तपात को टालकर ही हल हुआ। इसीसे निःशस्त्र क्रान्ति का जन्म हुआ है और वह भारतीय जनता के व नेताओं के अन्तःकरण में अपनी जड़ें जमा चुकी है। खूंखराबी टालकर क्रान्तिकारक परिवर्तन करने का यह जो एक नया तन्त्र भारतीय राजनीति के इतिहास में विकास पाता आया है व

सुप्रतिष्ठित हो गया है, उसको नजर-अन्दाज़ करके भारतीय कम्युनिस्टों ने अपनी राजनीति चलाई। अनत्याचारी निःशस्त्र क्रान्ति की यह वृत्ति मार्क्स-वाद में कुछ महत्व की बात जोड़ सकती है, इस सत्य को, सिर्फ समाज-वादियों ने ही पहचाना और अपने पक्ष को सत्याग्रह का अधिष्ठान देकर उसकी विशेषताओं को संसार के सामने रखा। भारतीय घटनाओं से मार्क्स-वाद को सीखने योग्य कुछ है ही नहीं, यह मानकर भारतीय कम्युनिस्ट दल अपनी राजनीति को उसी पुराने ढर्रे पर चला रहा है।

मार्क्सवादी विचारपद्धति में आमतौर पर ऐसा माना जाता है कि समाज की बाह्य परिस्थिति में जो परिवर्तन होते हैं, उनका असर समाज के विचारों पर समाज की रूढ़ विचार-प्रणाली परिस्थिति में होनेवाले परि-वर्तनों से अपने-आप बदल जाती है। इसीलिए परिस्थिति के परिवर्तन के साथ समाज के विचारों में परिवर्तन करने के लिए कोई खास कोशिश करनी पड़ती है या किसी खास समाज के विचारों में परिवर्तन करने के लिए उसके मन के पूर्व संस्कारों का गहरा अध्ययन करके समाज की अवस्था के लिहाज़ से उपाय-योजना करनी पड़ती है, ऐसा मार्क्सवादी नहीं मानते। अगर वे भारतीय समाज की खास मानसिक अवस्था व उसके सांस्कृतिक विकास का अध्ययन करते तो उनको पता चलता कि हमारे समाज ने सदियों से अपनी सामाजिक विचार-सृष्टि में बुद्धिपूर्वक परिवर्तन लाना छोड़ दिया है। इस समाज की बाह्य परिस्थिति में चाहे जितने परिवर्तन हो जायं; लेकिन समझ-बूझकर वह अपनी सामाजिक विचार-सृष्टि में परिवर्तन नहीं करता। नई परिस्थिति के अनुकूल नई विचार-सृष्टि का निर्माण वह नहीं करता, न औरों से उसको वह स्वीकार करता है। प्राचीन विचार-सृष्टि से चिपक बैठने की उसकी प्रवृत्ति है। एक तरह से यह समाज की बौद्धिक मूढ़ता या जड़ता है। उसकी बुद्धि से यह जड़ता या मूढ़ता का पर्दा हटाने के लिए उसके अन्तःकरण में चैतन्य पैदा करनेवाले अनासक्त बुद्धि के निष्काम कर्मयोगी लोकसेवक अब आगे आ जाने चाहिए। इस समाज की मानसिक अवस्था यूरोप के मध्ययुगीन या उससे भी पहले के समाज की मानसिक अवस्था-जैसी है। यहां के लोगों ने अभी आधुनिक यूरोप की सर्वांगीण सामाजिक क्रान्ति की कल्पना या ध्येयों का रहस्य या महत्व अभी

तक वास्तविक रूप में नहीं समझा है। ऐसे समाज में क्रांति लाने की इच्छा रखनेवालों को यह ध्यान में रखना चाहिए कि समाज के उद्धार में बाह्य परिस्थिति से उसकी पिछड़ी विचार-सृष्टि व विकृत भावनाएं ही अधिक बाधा पहुंचाती हैं। ऐसे समाज को जो क्रान्तिप्रवण बनाना चाहते हैं, उनको चाहिए कि जहांतक हो सके वे उसे अत्याचार के अविवेक से बचायें और उसकी मानस-सृष्टि में उचित क्रांति करें। उसकी प्रतिकार-शक्ति को संयम तथा अनुशासन के बन्धनों में रखकर वह खास दिशा में ही कार्य करती रहे और असमय उसका स्फोट न हो या सबके विनाश की वह कारण न बने, इसके लिए सचेत रहना चाहिए। इस प्रकार समाज के हृदय में नया चैतन्य लाने और उसकी विचार-सृष्टि में क्रान्ति पैदा करने में महात्मा गांधी द्वारा खोजा हुआ सत्याग्रही क्रान्तिशास्त्र कारगर सिद्ध हुआ है। ऐसे शास्त्र की महत्ता को समझने में परिस्थिति के साथ आप-ही-आप आदमी की विचार-सृष्टि में भी परिवर्तन होता है, ऐसा माननेवाले कम्युनिस्टों को बहुत दिक्कत होती है और अभी तक वे उसे समझ नहीं सके हैं। मार्क्स के शास्त्रीय समाजवाद के जन्म से पहले दो-ढाई सौ वर्षों में यूरोप में धार्मिक तथा सामाजिक क्रान्तिकारियों का जो बलिदान हुआ, उसमें से जो आत्मतेज निकला उसीसे यूरोपीय जनता क्रांतिकारी विचारों को स्वीकार करने योग्य बनी थी। यहां की जनता को इसके काबिल बनाने के लिए इस तरह का बलिदान करना होगा और उस समय यह क्रान्तिशक्ति अविवेक से या असंयम से विकृत होकर बेकार न बन जाय, इसके बारे में सावधान रहना होगा। अगर एक ही साथ इन दोनों कामों को उठाना हो तो सामाजिक व राज-नैतिक कार्यकर्ताओं को चाहिए कि वे अनासक्त स्थितप्रज्ञ के या निष्काम कर्मयोगी के आध्यात्मिक गुण अपने में लाने की कोशिश करें। भारतीय क्रान्तिकारियों के सामने महात्मा गांधी तथा तिलक ने यही आदर्श रखा था। समाजवादी क्रान्ति लाने की इच्छा रखनेवालों को चाहिए कि वह इस आदर्श को अपना लें, लेकिन हरेक धर्म-भावना तथा धर्मशास्त्र को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने की इच्छा रखनेवाले मार्क्सवादी इस आदर्श को हर्गिज अपना नहीं सकते। अगर इसको अपनाना है तो मानव-दर्शन को केवल भौतिक-वाद के सहारे खड़ा करने से काम नहीं चल सकेगा। इसी अनुभूति से

श्री जयप्रकाश नारायण ने ऐसा जाहिर कर दिया है कि भौतिकवाद की मर्यादाओं को लांघने पर ही मानव की नैतिक प्रेरणा की समाधान-कारक मीमांसा की जा सकती है। श्री जयप्रकाश नारायण के इन उद्‌गारों से कम-से-कम इतना पाठ तो मार्क्सवादियों को जरूर सीखना चाहिए कि मानव-हृदय की धर्म-भावना व आध्यात्म-वृत्ति के गहरे अध्ययन की जरूरत है।

भारतीय समाज की मनःस्थिति व विचार-सृष्टि में परिवर्तन करके अन्याय के खिलाफ लड़ने की वृत्ति या प्रतिकार-भावना को जगाना भारतीय क्रान्ति की अहम चीज है और जब इस तरह की मानसिक क्रान्ति हो जाती है तब राजकीय व सामाजिक क्रान्ति लाने के लिए प्रत्यक्ष सशस्त्र क्रान्ति की आवश्यकता नहीं रहती, यह बात कम्युनिस्टों के दिमाग में कभी भी नहीं आई। इसके विपरीत इस देश की राजनीति कम-से-कम गत पचास या साठ वर्षों से इस सिद्धान्त पर अपना आधार रखकर चली आ रही है और उसने जो प्रगति की है, उसको देखकर आगे भी वह इसी आधार पर चलती रहेगी, ऐसा दिखाई देता है। इस क्रान्ति को लानेवालों ने केवल राजकीय या सामाजिक विचारों को आन्दोलित नहीं किया, बल्कि समाज के हृदय की शुद्ध धर्म-भावना तथा क्रांतिकारी आध्यात्म का भी उपयोग उसके लिए किया है। इस तरह आधुनिक भारत में धर्म व अध्यात्म का एक क्रांतिकारी रूप प्रकट होता आया है।

कम्युनिस्ट-तत्वज्ञान में धर्मभावना के बारे में कहा गया है कि वह क्रांति-विरोधी शक्ति है और मानव-समाज को ऐहिक अभ्युदय से हटाकर पारलौकिक सुख-स्वप्नों में ही निमग्न रखती है। इस तरह वह अफीम की गोली का-सा काम करती है। आधुनिक भारत के राजनैतिक नेताओं ने यहां की जनता के हृदय की गहराई में पैठी धर्म-भावना व अध्यात्म-वृत्ति जगाकर उसे क्रांतिकारी रूप देने की कोशिश की। धर्म व अध्यात्म के इस क्रान्तिकारी स्वरूप का ख्याल किये बगैर कोई भी व्यक्ति सामाजिक घटनाओं की व इतिहास में दिखनेवाली धर्मभावना व अध्यात्म-वृत्ति की मीमांसा नहीं कर सकेगा। मार्क्स को उस जमाने के यूरोप में धर्म-संस्था का जो दर्शन हुआ व सामाजिक क्रान्ति के विरोध के लिए प्रस्थापित राज्य-संस्था के निमित्त जनता का नैतिक पृष्ठपोषण प्राप्त करा देनेवाली प्रति-

क्रांतिकारक शक्ति थी। लेकिन कार्ल मार्क्स को धर्म-संस्था के जिस प्रतिक्रियावादी रूप का दर्शन हुआ, वही धर्म व अध्यात्म का सही व स्थायी रूप नहीं है। लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी या आचार्य विनोबा भावे के जीवन में धर्म व अध्यात्म को जो क्रान्तिकारी रूप प्रकट हुआ है, वह देखने के बाद हिंदी कम्युनिस्टों को यह ज्ञान हो जाना चाहिए था कि मार्क्सवाद द्वारा धर्म व अध्यात्म की जो मीमांसा की गई है, वह अधूरी तथा एकांगी है। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि जब जयप्रकाश नारायण-जैसा एकाध सामाजिक क्रांतिवादी आध्यात्मिक भाषा का प्रयोग करता है तब 'वह प्रतिक्रियावादी बन रहा है', ऐसा शोरगुल मार्क्सवादी मचाते हैं। इससे सन्देह होने लगा है कि शायद ये साम्प्रदायिक विचारवन्त इस बात को भूल गये हैं कि सही ज्ञान पुस्तकों को पढ़ने से नहीं, परिस्थिति को पढ़ने से मिलता है। मतलब यह कि गत पचास-साठ वर्षों की भारतीय राजनीति का इतिहास, यहां की सामाजिक व धार्मिक घटनाएं और इन सबके पीछे यहां के नेताओं का जो तत्वज्ञान था, उससे कम्युनिस्ट दल तथा उनके विचारों के लोग सहमत न हो सके और न उससे उन्होंने कुछ नसीहत ही ली।

भारत में आज राष्ट्रीय स्वातंत्र्य की क्रान्ति का युग बीतकर समाजवादी क्रान्ति का युग शुरू हुआ है, इसको हरकोई साफ देख सकता है। लेकिन भारतीय समाजवादी क्रान्ति का तत्वज्ञान और उसके लिए होनेवाले प्रयत्न केवल मार्क्सवादी तत्वज्ञान के व क्रान्तिशास्त्र के ऊपर ही अपना आधार रखेंगे, ऐसी आशा रखना शास्त्रीय बुद्धि का द्योतक नहीं होगा। उन्नीसवीं सदी के मध्यकाल में मार्क्स को यूरोप के इतिहास में जो घटनाएं देखने को मिलीं, उनसे उसने मार्क्सवादी तत्वज्ञान बनाया था। आज भारत तथा अन्य एशियायी देशों में जो समाजवादी युग आ रहा है, उसका तत्वज्ञान व क्रान्तिशास्त्र मार्क्सवाद से अधिक गहरी तथा व्यापक दृष्टि स्वीकार करने से ही बन सकेगा। हमें आशा है कि इस तरह गहरी तथा व्यापक तात्विक दृष्टि से सोचने पर धर्म-भावना व अध्यात्म-वृत्ति का क्रान्तिकारी स्वरूप समाजवादी भी महसूस करेंगे और उसी दृष्टि से सत्याग्रही क्रान्तिशास्त्र की महत्ता को वे जान सकेंगे।

ऊपर जिन बातों का विवेचन हमने किया है, हमारी राय है कि उनके बारे में गांधीवाद भी मार्क्सवाद से कुछ सीख सकता है। गांधीवादियों में राष्ट्रीय भावना को श्रेष्ठ तथा वर्ग-भावना को कनिष्ठ या हीन मानने की वृत्ति देखी जाती है। लेकिन तर्कशास्त्रीय या न्यायशास्त्रीय दृष्टि से इस प्रवृत्ति का समर्थन नहीं किया जा सकता। जिस तरह गुलाम देश की राष्ट्रीय भावना पुरोगामी राजनीति का अधिष्ठान बन सकती है, उसी तरह पीड़ित और पीड़क या मालिक और मजदूर के वर्गभेद से विभाजित समाज में पीड़ित वर्ग की या मज़दूरों के संगठन की वर्गविरोधी भावना पुरोगामी राजनीति का अधिष्ठान बनकर वर्ग-हीन समाज के ध्येय की तरफ अग्रसर होने में सहायक हो सकती है। अनत्याचारी असहयोग या सविनय कानून-भंग का तत्व परतन्त्र देश के उद्धार के लिए उपयुक्त होने से जिस तरह लागू किया जा सकता है व समर्थनीय ठहरता है, उसी तरह वह आर्थिक व सामाजिक दासता में पड़े किसान-मजदूर-वर्ग के उद्धार में उपयुक्त और समर्थनीय ठहरता है। अतः उस काम में उसका उपयोग करना सत्याग्रही क्रान्तिकारी का कर्तव्य है। यह विचार निस्संकोच होकर गांधीवाद को कबूल करना चाहिए।

सत्याग्रही क्रान्तिकारियों को चाहिए कि राजनीति में भाग लेते समय निरी आदर्श-निष्ठा की नीति न चलाकर वास्तववादी दृष्टि को स्वीकार करें। राज्य-संस्था के दंडधारी होने से उसके चलानेवालों के सब व्यवहार शुद्ध अहिंसा की कसौटी पर खरे नहीं उतर सकेंगे, फिर भी मानव-समाज की आज की अवस्था को देखकर राज्य-संस्था की दंड-शक्ति को व्यवहार-दृष्टि से उन्हें कबूल कर लेना चाहिए। जो सैद्धान्तिक दृष्टि से किसी खास अवस्था में सशस्त्र क्रान्ति को अटल या समर्थनीय मानते हैं; लेकिन साथ-ही ऐसी खूंखराब क्रान्ति को टालने के अनत्याचारी उपायों से जो भरसक प्रयत्न करते हैं या राजनैतिक नीति के तौर पर जिन्होंने अनत्याचारी क्रांति के तत्व को हृदय से स्वीकार कर लिया है, ऐसे लोगों से राजनैतिक मामलों में सशर्त सहयोग देने की नीति उन्हें अख्तियार करनी चाहिए। दंड-शक्ति के सहारे के सिवा चलनेवाली समाज-व्यवस्था, फिलहाल व्यावहारिक दृष्टि से कोई सम्भव नहीं मानता, इसलिए सत्याग्रही क्रान्तिकारियों को

चाहिए कि वे शासन-यंत्र की दंड-शक्ति को वास्तववादी दृष्टि से मंजूर कर लें। शासन-यंत्र की दंड-शक्ति ऐसी शक्ति है कि जिसको न्यायबुद्धि व संरक्षण-बुद्धि के आधार पर समाज मानता है; लेकिन समाज-रचना में बद्धमूल अन्याय समाज बरदाश्त न कर सकता हो व समाज की न्याय-बुद्धि अगर उसके खिलाफ विद्रोह करे और प्रस्थापित शासन-यंत्र की दंड-शक्ति को दिया हुआ अपनी न्याय-बुद्धि का आधार निकाल ले तो ऐसे समाज में दंड-शक्ति के रूप में जो सत्ता अपना प्रभुत्व जमाने की कोशिश करती है वह समाज की न्यायबुद्धि के आधार पर बनी दंड-शक्ति न होकर एक तरह से संघटित हिंसा-शक्ति ही होती है, ऐसा कबूल करना पड़ेगा। सत्याग्रही क्रान्तिकारी इस बात को अस्वीकृत नहीं कर सकता कि जो शासनयंत्र अपने हाथ में इस तरह से संचित हिंसा-शक्ति का उपयोग समाज पर ज्यादतियां व जुल्म करने के लिए करता है, उसके नीचे दब जाने से अच्छा तो यही है कि ऐसी अवस्था में समाज सशस्त्र विद्रोह करे। समाजशास्त्र व इतिहास-मीमांसा का विचार करते समय मार्क्सवादियों द्वारा प्रतिपादित क्रान्ति-शास्त्र से गांधीवादियों को कुछ मामलों में जरूर सीखना पड़ेगा। दंड-शक्ति का उपयोग करने में अंतर्भूत अपरिहार्य हिंसा और अपरिहार्य बनी सशस्त्र क्रान्ति के वक्त की हिंसा में जो फर्क है, वह नित्य या देशकाल-परिस्थिति-निरपेक्ष नहीं है। यह न भूलना चाहिए कि वह सापेक्ष प्रमाण-भेद ही है और कुछ अवसरों पर दोनों की हिंसा की मात्रा एक-दूसरे के विपरीत भी हो सकती है। यह सब ध्यान में रखकर ही सत्याग्रही क्रान्तिकारियों को चाहिए कि वे खूंखराब क्रान्ति को टालने की भरसक कोशिश करें। इस मामले में वे अपनी तार्किक तत्वनिष्ठा के आधार पर देरी न करें या ऐसी वृत्ति भी न रखें कि जो हमारी निरपवाद अहिंसा को पहले मंजूर कर लेंगे, उन लोगों को ही हम अपना सहयोग देंगे।

जब केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से राज्य-मीमांसा व इतिहास-मीमांसा की जाती है तब सशस्त्र क्रांति के पुरोगामी होने के सम्बन्ध में मतभेद हो सकते हैं। लेकिन आधुनिक भारत की तरह जिस देश में जनता को नागरिक स्वातन्त्र्य के सत्याग्रह की व अनत्याचारी क्रान्ति की शिक्षा मिल चुकी है तथा उस आधार पर लोकशाही राज्य की स्थापना हो गई है, ऐसे देशों में

सत्याग्रही क्रान्तितन्त्र व लोकशाही राज्ययन्त्र के आधार पर पूर्ण अनत्याचारी उपायों से समाजवादी क्रान्ति हो सकेगी, इसमे किसी विवेकी समाजवादी को किसी प्रकार की शंका नहीं रही है। इसी आधार पर अपने दल के द्वारा अनत्याचारी नीति को चलाने का फैसला प्रजासमावादियों ने कर लिया है। ऐसे क्रांतिकार्य में लोकशाही राज्ययन्त्र के लिए जिस दण्डशक्ति को मंजूर किया गया है, उसका उपयोग करना होगा और इस दृष्टि से इस पक्ष की नीति को शुद्ध सत्याग्रही या पूर्ण अहिंसक नहीं कहा जा सकेगा। लेकिन वास्तववादी दृष्टि से समाजवादी क्रान्ति के लिए ऐसे दल से शुद्ध सत्याग्रहियों को सशर्त सहयोग करना चाहिए व उस कार्य को अविलम्ब पूरा करना चाहिए। सामाजिक क्रान्ति की जनभावना को तीव्र बनाने का काम आज भूदान-यज्ञ व सम्पत्तिदान-यज्ञ के रूप में भारत में शुरू हो गया है। इसीमें उपनिर्दिष्ट प्रकार का गांधीवादी व समाजवादी लोगों का सहयोग निर्माण होगा व हो रहा है।

वर्गहीन समाज की स्थापना का ध्येय मंजूर करने पर समाज में वर्ग-संस्था व आर्थिक विषमता नष्ट करना जरूरी हो जाता है। मनुष्य की उत्पादन क्षमता बढ़ने के कारण यह आज किस तरह सम्भव व अपरिहार्य हो गया है, गांधीवादी उसकी समाजशास्त्रीय मीमांसा मार्क्सवाद से सीख सकता है। यद्यपि हजारों सालों से बन्धुभाव व समता का ध्येय नैतिक व आध्यात्मिक दृष्टि से लोगों ने मंजूर किया था, फिर भी उत्पादन-कार्य जारी रखने की व उसमें विकास करने की दृष्टि से उस समय आर्थिक विषमता व वर्ग-संस्था की आवश्यकता व उपयोगिता लोग महसूस करते थे। इसी दृष्टि से धर्म-संस्थाओं ने उसे मंजूर कर लिया था व समाज-धारण के लिए जरूरी मानकर आर्थिक वर्गभेद को साधु-सन्त प्राकृतिक व न्याय्य मानते थे। लेकिन आज मानव की उत्पादन-क्षमता बहुत बढ़ गई है, जिससे समता व बन्धुभाव के ध्येय को सामाजिक व आर्थिक क्षेत्रों में स्थापित करके वर्ग-संस्था को मिटाना सम्भव व आवश्यक हो गया है। वर्ग-संस्था की उत्पति, अभिवृद्धि व विनाश की समाजशास्त्रीय मीमांसा जिस तरह मार्क्सवाद में की गई है वैसी और किसी भी सामाजिक तत्वज्ञान में नहीं की गई है।

अगर इस धर्मभावना व आध्यात्मिक वृत्ति के आधार पर सामाजिक

क्रान्ति का काम चालू रखना है तो यह धर्मभावना किसी खास धर्म से एक-रूप नहीं मानी जानी चाहिए, मानव-हृदय की समाजहित-बुद्धि से व सर्वोदय-बुद्धि से उसको एकरूप मानना चाहिए। सत्याग्रही क्रांन्तिकारी इसका सतत दक्षतापूर्वक ध्यान रखें। उसी तरह मानव-हृदय की अध्यात्म-वृत्ति को किसी खास सामाजिक व राजनैतिक संगठन से या अध्यात्म-शास्त्र के किसी सम्प्रदाय से एकरूप नहीं बनने देना चाहिए। यद्यपि सत्यनिष्ठा व प्रेम-भावना मानव-हृदय की सनातन वृत्तियां हैं, फिर भी समाजिक, नैतिक या आध्यात्मिक शास्त्र का कोई खास सिद्धान्त नित्य या सनातन नहीं होता। मानव-बुद्धि द्वारा आकलन किये हुए किसी सत्य को पूर्ण व अन्तिम सत्य नहीं मानना चाहिए। उस पूर्ण व अन्तिम सत्य की खोज का काम जीवन की सभी शक्तियों का उपयोग करके मानव हमेशा करता रहे। इस सत्याग्रही निष्ठा से जो बात अपने हृदय व अपनी बुद्धि को उस समय सत्य प्रतीत होगी, उसके अनुसार उसको अपना बर्ताव रखना चाहिए। यही मानव की निरपेक्ष तथा आदर्शभूत जीवन-निष्ठा है और इस जीवन-निष्ठा की साधना के लिए भौतिक, सामाजिक व आध्यात्मिक शास्त्र के व्यवहार के सुप्रतिष्ठित माने जानेवाले सिद्धान्तों के खिलाफ क्रान्ति करने के लिए सत्याग्रही को हरदम तैयार रहना चाहिए। अगर वृत्ति टिक सकी तो सत्याग्रही जीवन-निष्ठा का क्रान्तिकारी रूप प्रकट होगा व मानव-समाज आज जिस नई संस्कृति का निर्माण करना चाहता है, वह अवश्यमेव प्रस्थापित होगी।

अब हम इस बात का विचार करें कि वर्ग-युद्ध व सशस्त्र क्रान्ति के सम्बन्ध में कार्ल मार्क्स का तात्विक सिद्धान्त क्या है और उसमें निःशस्त्र क्रान्ति के द्वारा समाज-सत्ता प्रस्थापित करने की कल्पना समा सकती है कि नहीं! भले ही मार्क्स का यह मत हो कि समाज-सत्तात्मक क्रान्ति आम तौर पर शस्त्र द्वारा ही करनी पड़ेगी, फिर भी मार्क्स ने यह कहा है कि इस क्रान्ति के साधन प्रत्येक देश की अपनी परिस्थिति और परम्परा के विचार से बदलने पड़ेंगे और इङ्गलेंड या अमरीका जैसे प्रजा-सत्तात्मक देशों में शान्ति-मार्ग से भी वह हो सकेगी। १८७२ में एमस्टर्डम के अपने भाषण में वह कहता है—

"आपको यह नहीं खयाल करना चाहिए कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक ही साधन सबपर लागू हो सकेगा। प्रत्येक देश के आचार-विचार और परिस्थिति का हमें खास तौर से ध्यान रखना पड़ेगा और हम इस बात से इन्कार नहीं करते कि कुछ ऐसे देश जैसे संयुक्तराष्ट्र अमरीका और इङ्गलैंड में मजदूर लोग शान्ति-मार्ग से अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं।"

लेनिन ने कार्ल मार्क्स के इस मत का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि "१८७१ के लगभग इङ्गलैंड में नौकरशाही व सैनिक सत्ता का प्राबल्य न होने के कारण मार्क्स को यह लगना स्वाभाविक था कि इङ्गलैंड में शान्ति-मार्ग से समाजसत्तात्मक क्रान्ति हो सकेगी; परन्तु आज (१९१७) इङ्गलैंड और अमरीका में सैनिक सत्ता और नौकरशाही का पूर्ण साम्राज्य है, इसलिए मार्क्स ने इङ्गलैंड, अमरीका और दूसरे देशों में जो भेद किया है वह ठीक नहीं है।" १८७५ के बाद इङ्गलैंड में साम्राज्यवादी विचारधारा अधिक फैलने लगी, क्योंकि हिन्दुस्तान जैसे विजित देश की आर्थिक लूट के प्रभाव से वहां की जनता को यह आशा होने लगी कि इङ्गलैंड के सब वर्गों की दाल-रोटी और सुख-सुविधा का प्रश्न हल हो सकेगा। १९वीं सदी के मध्य तक वहां के मजदूरों को यह आशा नहीं हुई थी व इसलिए मार्क्स का वर्ग-विग्रही तत्वज्ञान वहां पनपने लगा था; लेकिन बाद में जब वह आशा बंध गई तो वर्ग-विग्रह पीछे रह गया व साम्राज्यशाही लोकप्रिय होने लगी। वहां का समाजवाद भी वर्ग-विग्रह को ताक में रखकर वर्ग-सन्धि के सिद्धान्त का अवलम्बन लेने लगा और ब्रिटिश-राष्ट्रवाद प्रजातंत्र के तत्व से खिसक-कर साम्राज्यवाद का रूप धारण करने लगा। पिछले महायुद्ध के समय इस वर्ग-सन्धि या साम्राज्य-सत्तात्मक राष्ट्रवाद की भावना का अनुसरण करके ही इङ्गलैंड के मजदूर और उनके नेताओं ने अपनी धन-सत्तात्मक सरकार से सहकार्य किया। अब फिर वहां की जनता यह समझने लगी है कि इस साम्राज्यवाद से हमारा प्रश्न सदा के लिए हल नहीं हो सकता। परन्तु यह विश्वास नहीं होता कि सशस्त्र मार्ग से भी, समाज-सत्तात्मक राज्यक्रान्ति को सफल बनाने योग्य सद्गुण-संपत्ति आज वहां की जनता में बाकी बच रही है। यह भी एक विकट प्रश्न है कि इस सद्गुण-सम्पत्ति के अभाव में वह

समाज-सत्ता की स्थापना कर सकेगी कि नहीं ? फिर भी हमारा यह ख्याल है कि यदि हिन्दुस्तान-जैसे देश को स्वतन्त्रता देने के लिए ब्रिटिश-राजनेता मजबूर हो गये और स्वतंत्रता व समानता के आधार पर इङ्गलैंड व हिन्दुस्तान में सन्धि हुई तो जिस तरह हिन्दुस्तान के पूंजीपति ब्रिटिश-पूंजी-पतियों से मित्रता करेंगे उसी तरह ब्रिटिश मजदूर और उनके समाजवादी नेता भी भारतीय जनता के समाजवादी नेताओं से मित्रता कर लेंगे। भारतवर्ष ने यदि अपने सत्याग्रह के बल पर स्वयं-निर्णयी पूर्ण स्वराज्य का विधान प्राप्त कर लिया तो यहां का समाजवादी दल सत्याग्रही शक्ति के बल पर हिन्दुस्तान की भावी सर्वांगीण क्रान्ति करने लगेगा। तभी इङ्गलैंड के मजदूर-वर्ग का साम्राज्य-मद उतर जायगा व उसे भारतीय समाजवादी दल का नेतृत्व स्वीकार करना पड़ेगा। इस तरह आज भी इङ्गलैंड व हिन्दुस्तान दोनों देशों में समाज-सत्तात्मक क्रान्ति के शान्ति-मार्ग से सफल होने की संभावना है।

इंग्लैण्ड के समाजवादी बल्कि कम्युनिस्ट विचारधारियों को भी यह विचारधारा पटने लगी है और वहां के बहुतेरे लोग यह मानते हैं कि सत्याग्रही भारतीय राष्ट्रवाद से स्वतन्त्रता और समानता के आधार पर समझौता और सन्धि करनी चाहिए। जिस तरह १९वीं सदी में ब्रिटिश लिबरल नेता हिन्दुस्तान को सशस्त्र क्रान्ति का अवसर न मिले इस हेतु से भारतीय कांग्रेस से समझौते की नीति रखने की प्रेरणा अपने देशबन्धुओं से करते थे, उसी तरह आज इंग्लैण्ड के समाजवादी विचारों के नेता इस ख्याल से कि हिन्दुस्तान की भावी सामाजिक क्रान्ति कहीं हिंसात्मक न बन जाय, अहिंसात्मक ही रहे, यह कहते हैं कि हिन्दुस्तान के स्वयंनिर्णय—स्वातंत्र्य-अधिकार—को स्वीकार करके भारतीय राष्ट्रवाद के साथ समानता की सन्धि कर ली जाय। फैनर ब्राकवे अपनी Indian Crisis १९३० नामक पुस्तक में लिखते हैं :

"हिन्दुस्तान में जिनकी पूंजी लगी हुई है, उनसे मैं कहूंगा कि हिन्दुस्तान की ब्रिटिश पूंजी को असली खतरा राजनैतिक क्रान्ति से नहीं बल्कि सामाजिक क्रान्ति से है। प्रस्तुत राजनैतिक आन्दोलन से जो क्रान्तिकारी मनोवृत्ति बन गई है, वह एकाएक नष्ट होगी और यदि उसकी जड़ गहरी चली

गई तो राजनैतिक स्वतन्त्रता के बाद ही निश्चित रूप से शुरू होनेवाली जनता की आर्थिक उन्नति की लड़ाई में भी वह व्यक्त हुए बिना न रहेगी। इसलिए जो अपने आर्थिक हितों की रक्षा करना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे इस राजनैतिक लड़ाई का फैसला समझौते के द्वारा तुरन्त कर लें। इसी में उनका हित है।"

१९वीं सदी के ब्रिटिश-राजनेता अपने राष्ट्र की राजनीति इस दृष्टि से ठहराने पर ज़ोर देते थे कि हिन्दुस्तान के स्वतन्त्र होने पर भी वहां हमारा व्यापार चलता रहे। आज की परिस्थिति के अनुसार इंग्लैंड के दूरदर्शी ब्रिटिश राजकीय तत्वज्ञ, इस दृष्टि से कि हिन्दुस्तान में सामाजिक क्रान्ति रक्तपात का उग्र स्वरूप न धारण कर ले व उसमें अपने देशबन्धुओं व उनकी पूंजी की एकाएक आहुति न हो जाय, ब्रिटिश राष्ट्र से कहते हैं कि सत्याग्रही भारतीय राष्ट्रवाद के साथ समझौता करके भावी सामाजिक क्रांति के शान्तिमय होने का अनुकूल वातावरण निर्माण किया जाय। यह सलाह ब्रिटिश राष्ट्र को जंचेगी या नहीं, यह इस बात पर अवलम्बित है कि भारतीय जनता सत्याग्रह-संग्राम में कितना त्याग करने के लिए तैयार है और संघ-शासन के विधान को कहांतक असफल बना सकती है। हमें विश्वास है कि भारतीय जनता इसमें सफल होगी और उसीसे हमें आशा है कि हिंदुस्तान की भावी सामाजिक क्रान्ति भी वह शान्ति-मार्ग से कर सकेगी। हां, इसके लिए यह आवश्यक होगा कि सत्याग्रही पक्ष अपना तत्व-ज्ञान सामाजिक क्रांति पर लागू करे व यहां का पूंजीवाद ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के बराबर दूरदर्शिता प्रदर्शित करे। यह दूसरी बात सर्वांश में पहली बात पर अवलम्बित है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि सत्याग्रही तत्वज्ञान ने सामाजिक क्रांति का जिम्मा लिया तो हमारा ख्याल है कि भारतीय पूंजी-वाद दूरदर्शी स्वार्थ-भाव से ही सही, शान्तिमय क्रान्ति के सामने सिर झुकाये बिना न रहेगा अर्थात् यदि सत्याग्रही तत्वज्ञान ने यह भावी कार्य अपने जिम्मे न लिया व पं० नेहरू से उपदिष्ट समाज-सत्तात्मक प्रजातन्त्र का ध्येय स्वीकार न किया तो फिर यहां की समाज-क्रान्ति सशस्त्र रूप धारण किये बिना न रहेगी।

आजकल यह मानने का एक रिवाज चल पड़ा है कि सत्याग्रह व

वर्ग-विग्रहात्मक सामाजिक क्रान्ति ये दोनों बातें तत्वतः भिन्न हैं और उनका समन्वय नहीं हो सकता। इसका कारण जिस तरह सत्याग्रही तत्वज्ञान के विरोधी हैं, उसी तरह उसके भक्त भी हैं। इसलिए यहां इस बात का भी कुछ विवेचन करना जरूरी है कि वर्ग-विग्रह का सिद्धान्त कहांतक यथार्थ है व वर्ग-सन्धि या वर्ग-सहकार्य का सिद्धान्त कहांतक ठीक है। इसके लिए पहले हम निर्विकार भाव से यह समझ लें कि वर्ग-विग्रही-सिद्धान्त के समर्थक शुद्ध वैज्ञानिक व तात्विक दृष्टि से उसके विषय में क्या कहते हैं। इस विषय में कम्युनिस्ट-तत्वज्ञान के समर्थक श्री एडवर्ड कौंजस अपनी An Introduction to Dialectical Materialism पुस्तक में कहते हैं—"वर्ग-विग्रह व वर्ग-संहति इन दो सिद्धान्तों के विरोध का अध्ययन करना बहुत उपयोगी है। इस विषय में दो विचारधारा नज़र आती हैं। एक वर्ग विग्रह का ही निषेध करती है और दूसरी वर्ग-संहति का। ये दोनों विचारधाराएं गलत व अवैज्ञानिक हैं। वर्ग-विग्रह तो एक वस्तु-स्थिति है। वह राजनीति और उद्योग-धन्धों में रोज दिखाई देती है। उससे इन्कार वे ही कर सकते हैं, जो यह समझते हैं कि इस वर्ग-विग्रह को चालू रखने का प्रबल उपाय यह है कि उससे इन्कार किया जाय अथवा वह इन्कार कर सकेगा जो बुद्धि-जीवी श्रेणी का होगा और जिसका संबंध वास्तविक जगत से टूट गया होगा। सच तो यह है कि आज के समाज में वर्ग-विग्रह यह एक ही हकीकत नहीं है, बल्कि वर्ग-संहति के भी अनेक प्रकार पाये जाते हैं। यह प्रश्न है कि भिन्न-भिन्न वर्गों की अमुक अंश में शांति और संहति का तत्व और वर्ग-विग्रह का तत्व ये दोनों एक ही समय समाज में कैसे रह सकते हैं? वर्ग-विग्रह और वर्ग-संहति ये परस्पर विरुद्ध तत्व एक ही समय एक समाज में नहीं रह सकते, इस मत पर वे ही लोग डटे रह सकते हैं, जिनका मानस अवैज्ञानिक है, क्योंकि किसी कुटुम्ब में भोजन के मामले में पति-पत्नी का मतैक्य हो तो भी अपने कमरे में गर्मी कितनी रहे अथवा सिनेमा या अजायबघर देखने के लिए जायं इसके बारे में दो मत या विरोध हो सकता है। घर में झगड़े होते रहते हों तो भी यह नहीं कह सकते कि खास मर्यादा में कौटुम्बिक ऐक्य नहीं रह सकता...। वर्ग-विग्रह व वर्ग-संहति के तत्व एक दूसरे का उच्छेद न करते हुए भी एक

ही समय समाज में रह सकते हैं...साम्राज्यशाही तरीके से विजित लोगों का द्रव्य-शोषण किया जाय और उसका नफा दोनों बांट लें, इस विषय में ब्रिटेन के दोनों वर्गों का समान भौतिक-हित के पाये पर मतैक्य हो सकता है...जबतक विजित लोगों का द्रव्य-शोषण से भिन्न कोई ऐसा उपाय, जिससे समाज का समाज-सत्तात्मक संगठन होकर ऊंची रहन-सहन कायम रहे, हम नहीं बना सकते तबतक ऐसा ही चलता रहेगा...। ब्रिटेन अगर समाजवादी बन जाय तो वह भारतीय किसान को लूटकर भारतीय बाजारों का नाश करनेवाले साहूकारों की और स्वदेशी या विदेशी पूंजीवालों की रक्षा नहीं करेगा। हिन्दुस्तानियों के साथ सहकार करके वह हिन्दुस्तानी बाजार की क्रय-शक्ति बहुत बढ़ा सकता है। उसी तरह अपने-देश की जनता को रहन-सहन का स्तर बढ़ाकर भी वह ब्रिटिश-बाजार की खपत बहुत बढ़ा सकता है। यदि यह समाजवादी व्यवहार या मार्ग हम लाखों मजदूरों को दिखा सकें तो वे टोरी-दल छोड़ देंगे। फासिज्म का उदय भी भिन्न-भिन्न वर्गों की हितैक्य-भावना पर अवलंबित रहता है। इटली व जर्मनी में अनेक आक्रमणों के बाद भी जब तत्कालीन परिस्थिति में राज्य की सत्ता अपने हाथ में लेकर समाज की सब व्यवस्था करने में वहां का मजदूर-वर्ग असमर्थ साबित हुआ तब वर्ग-विग्रह के क्लेश लोगों के लिए असह्य हो गये और उनमें से बहुतों ने यह इच्छा की कि किसी तरह इनका एक बार खातमा हो। इसीसे फासिज्म को उदय का मौका मिल गया...केवल अपवादात्मक परिस्थिति में ही वर्ग-विग्रह वर्ग-संहति को बिल्कुल अंधकार में फेंक देता है व ऐसे ही समय राज्य-क्रांति होती है। जब रूस के किसानों और मज-दूरों को वहां के पूंजीवालों और जमींदारों से कुछ भी मिलने की आशा नहीं रही व इस उच्च श्रेणी के सब प्रयत्न विफल हुए तभी किसान-मजदूर बोल्शेविक प्रचार से भी प्रभावित होने लगे। रूस में जो वर्ग-भावना की चेतना उत्पन्न हुई, वह भी मुख्यतः इस बदली हुई परिस्थिति के कारण हुई। इस स्थिति के पहले बोल्शेविकों के प्रचार की ओर किसान-मजदूरों का ध्यान नहीं गया था।" हमारी राय में वर्ग-विग्रह का यह विवेचन अत्यन्त शास्त्र-शुद्ध है और समाजवादी तथा सत्याग्रही दोनों तत्वज्ञानों के मानने योग्य है। एक ही राष्ट्र के भिन्न-भिन्न वर्ग किसी-न-किसी समान हित के

लिए एक हो जाते हैं और जिस मात्रा में उन हित-सम्बन्धों में विरोध होगा, उस मात्रा में वे परस्पर विग्रह के लिए तैयार हो जाते हैं। एक राष्ट्र के भिन्न-भिन्न वर्गों में जैसा हित-विरोध रहता है, वैसे ही कुछ बातों में हित-समानता भी हो सकती है। जब समाज में हित-समानता की भावना अधिक तीव्र होती है बत वर्ग-विग्रहात्मक क्रांति नहीं हो सकती और जब वर्ग-विरोध की भावना हित-समानता की भावना से अधिक तीव्र होती है तब वर्ग-विग्रहात्मक क्रांति टल नहीं सकती। वर्ग-विरोध की या हित-समानता की भावना का तीव्र होना केवल प्रचार पर अवलम्बित नहीं बल्कि उस समाज या राष्ट्र की आर्थिक अथवा राजनैतिक परिस्थिति पर अवलंबित रहता है। जिस देश के सभी वर्ग सत्ताहीन बनकर विदेशियों केजुल्म व द्रव्य-शोषण के स्थान बने होते हैं उसमें वर्ग-विग्रहात्मक क्रांति का तत्व पैठने योग्य अनुकूल परिस्थिति नहीं होती। ऐसी ही स्थिति दूसरे राष्ट्रों को लूटनेवाले साम्राज्यवादी राष्ट्र के वर्गों की रहती है। उनमें वर्ग-विग्रह की भावना की अपेक्षा समान-हित की भावना ही अधिक तीव्र रहती है और इसलिए वहां की परिस्थिति भी वर्ग-विग्रहात्मक क्रान्ति के प्रतिकूल ही रहती है। ऐसे समय इन दोनों परिस्थितियों के राष्ट्रों में एक प्रकार के राष्ट्रवाद की भावना प्रबल हो जाती है। पहले राष्ट्र में वह विदेशी हमलों के प्रतिकार के स्वरूप में व्यक्त होती है और दूसरे राष्ट्र में विदेशों पर आक्रमण के रूप में। इनमें पहला रूप संसार की शान्ति का पोषक और दूसरा विरोधक रहता है। पहले प्रकार का राष्ट्रवाद मानव-संस्कृति की प्रगति का कारण होता है और दूसरा उसकी अधोगति का। हिन्दुस्तान का वर्तमान राष्ट्रवाद पहले प्रकार का है और वह मानव-संस्कृति की प्रगति और संसार की शान्ति का पोषक है। हिन्दुस्तान में आज कोई भी वर्ग सत्ताधारी नहीं बन सका है, इसलिए यहां की लड़ाई फिलहाल वर्ग-विग्रहात्मक अथवा समाज-सत्तात्मक क्रांति-रूपी नहीं बन सकती। एक बार जहां हिन्दुस्तान में राजसत्ता आई नहीं कि फिर जो शक्ति यहां के राष्ट्रवाद से निर्मित होगी, वह कुछ समय तक सधन-निर्धन वर्ग के विरोध बल्कि विग्रह के रूप में व्यक्त हुए बिना नहीं रहेगी। मगर ऐसी अवस्था में सत्याग्रही कांग्रेस के लिए यह संभव होगा कि वह प्रजातंत्र की राजसत्ता अपने हाथ में लेकर

उसका उपयोग निर्धन पक्ष की तरफ से करे। जिस समय हिन्दुस्तान का सधन वर्ग संगठित होकर उस प्रजातंत्र को हस्तगत करने लगेगा तब कांग्रेस को यदि अपना सत्याग्रही तत्वज्ञान न छोड़ना होगा तो कुछ समय के लिए वर्ग-विग्रह का सिद्धान्त स्वीकार किये बिना चारा न रहेगा। इस समय अगर कांग्रेस अपने देश की राजसत्ता हस्तगत न कर सकी तो उसे प्रस्थापित राजसत्ता के साथ असहयोग-युद्ध की घोषणा करनी पड़ेगी। विदेशी सरकार के आश्रय से जो हित यहांपर प्रबल हो गये हैं, उनका विरोध किये बिना कांग्रेस इस देश में वास्तविक लोकसत्ता अथवा सच्चा स्वराज्य स्थापित न कर सकेगी।

हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय सरकार के सामने देश के चालीस करोड़ लोगों की दाल-रोटी का सवाल बहुत तीव्र रूप में उपस्थित है। आजतक हिन्दुस्तान की जनता का जो द्रव्य-हरण हुआ, उससे यहां की जनता और मध्यम-वर्ग दोनों फाकेकशी और बेकारी से जर्जर हो गये हैं। इन चालीस करोड़ लोगों के राष्ट्र का प्रश्न पूंजीवाद और साम्राज्यवाद से हल होना असंभव है। इग्लैंड अथवा जापान जैसे छोटे राष्ट्रों के लिए अपनी जनता और मध्यम वर्ग का प्रश्न कुछ समय तक हिन्दुस्तान या चीन को गुलाम बनाकर हल करना मुमकिन हो सकता है; परन्तु हिन्दुस्तान या चीन जैसे खण्ड-तुल्य देश इस पद्धति से अपनी पैंतीस-चालीस करोड़ जनता का सवाल हल नहीं कर सकते। इस कारण भारतीय राष्ट्रवाद का इंगलिश या जापानी राष्ट्रवाद की तरह साम्राज्यवादी बन जाना स्वभावतः ही अशक्य है अर्थात् ब्रिटिश साम्राज्य के आश्रय से उदय हुआ पूंजीवाद यहां अपना आसन सुस्थिर नहीं कर सकता और यदि कुछ समय तक उसने यहां राजसत्ता अपने हाथों में ले भी ली तो भी जनता और मध्यम-वर्ग का प्रश्न हल न कर सकने के कारण उसे वह सत्ता अपने हाथ से खो देनी पड़ेगी। आज जो ब्रिटिश पूंजीपति अपना आसन जमाकर यहां बैठे हैं उनकी जगह यदि भारतीय पूंजीपतियों को स्थापित कर दें तो उससे भारतीय जनता का प्रश्न हल नहीं होता। हिन्दुस्तान के धनोत्पादन की नब्ज़ चाहे भारतीय पूंजीवालों के हाथ में आ जाय या ब्रिटिश पूंजीपतियों के हाथ में रहे, भारतीय जनता के हित-संवर्धन की दृष्टि से दोनों का फर्क महत्वपूर्ण नहीं हो सकता। उस नब्ज का भारतीय जनता के हाथ

में आना अर्थात् किसी-न-किसी रूप में समाज-सत्ता की प्रस्थापना होना ही भारतीय जनता के हित-सम्वर्धन के लिए आवश्यक है और यह कार्य कांग्रेस वर्ग-विग्रह के तत्व को समझे और उसका अवलंबन किये बिना नहीं कर सकती।

क्या 'वर्ग-विग्रह का तत्व भारतीय संस्कृति और तत्वज्ञान से असंगत है ? इस मत पर विचार करते हुए सबसे पहले हम यह देखें कि सत्याग्रही तत्वज्ञान और वर्ग-विग्रह के तत्व में क्या मूलतः ही विरोध है ? फिर भारतीय संस्कृति के इतिहास की दृष्टि से उसका विचार करें। अबतक सत्याग्रही तत्वज्ञान की उत्पत्ति और अभिवृद्धि राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-संग्राम से हुई। इसमें वर्ग-विग्रह की नीति का अवलंबन नहीं किया गया यह ठीक ही हुआ। इस तत्वज्ञान से एक प्रकार की राष्ट्रीय बन्धु-भावना जाग्रत हुई। राष्ट्र के सब लोग एक बड़े एकत्र-कुटुम्ब के अनेक व्यक्तियों की तरह हैं और उन सबके हित-सम्बन्ध परस्पर-विरोधी नहीं बल्कि परस्परावलंबी हैं। यह बन्धु-भावना अथवा राष्ट्रीय एकत्र-कुटुम्ब-भावना समाज-सत्ता के तत्व से किसी तरह असंगत नहीं बल्कि पोषक ही है। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि सामूहिक सम्पत्ति और श्रम-सहकार्य के सिद्धान्त या तत्व पर ही एकत्र-कुटुम्ब बन और टिक सकता है। जिस एकत्र-कुटुम्ब में सामूहिक संपत्ति नहीं अथवा सामूहिक हो तो भी उसका उपयोग सब समान रूप से नहीं कर सकते और जिसके सब प्रौढ़ और सुदृढ़ व्यक्ति उस कुटुम्ब को संपत्ति और सुख में वृद्धि करने के लिए तन-प्राण से प्रयत्न नहीं करते हैं वह अन्त में नष्ट हुए बिना न रहेगा। एकत्र-कुटुम्ब के एक-दो व्यक्ति तो सामूहिक सम्पत्ति से लाभ उठाते रहें और दूसरे महज कष्ट भुगतते रहें, ऐसी दशा में यदि उस एकत्र-कुटुम्ब में विग्रह उत्पन्न हुआ तो उसकी जिम्मेवारी उस व्यक्ति पर ही आती है जो सामूहिक सम्पत्ति का उपभोग बिना कुछ कष्ट किये करता हो। एसे व्यक्ति के व्यवहार को आम तौर पर एकत्र-कुटुम्ब की बुजुर्गशाही कहते हैं। पुंजीवाद इस तरह की राष्ट्रीय परिवार की एक बुजुर्गशाही है। पूंजीवाद की इस बुजुर्गशाही को कायम रखकर राष्ट्रीय कुटुम्ब की जीवन-यात्रा नहीं चल सकती और उस कुटुम्ब में वर्ग-विग्रह निर्माण हो जाता है। इसलिए इस बुजुर्गशाही को नष्ट करना और 'राष्ट्र

के प्रत्येक प्रौढ़ और सुदृढ़ नागरिक को शारीरिक अथवा बौद्धिक कष्ट किये बिना सम्मत्ति का लाभ नहीं मिलेगा' इस सिद्धान्त पर राष्ट्र के औद्योगिक जीवन की इमारत खड़ी करना एवं ऐसे कानून बनाना, जिनसे एकत्र-कुटुम्ब के व्यक्ति की तरह राष्ट्र के सब व्यक्तियों के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक व पोषक रीति से राष्ट्रीय सम्पत्ति का उपभोग किया जा सके, समाजवाद की प्रस्थापना करना है। इसके विपरीत राष्ट्र के तमाम व्यक्तियों के जीवन-साधन पूंजीवाद के हाथ में देने और बहुजन समाज को उसकी आर्थिक दासता में पटक देने का अर्थ है वर्ग-विग्रह को चिरन्तन करना। समाजवाद का ध्येय वर्ग-विग्रह को चिरन्तन करना नहीं है, बल्कि पूंजीवाद की बुजुर्गशाही से उत्पन्न होनेवाले वर्ग-विग्रह को नष्ट करके न्याय और समता के पाये पर राष्ट्रीय एकत्र-कुटुम्ब की स्थापना करना है। सच पूछिये तो समाजवाद सर्वोदय ही है। हां, उसका यह स्पष्ट मत है कि सर्वोदय व सहकार्य की भावना समाज में पूंजीवाद को कायम रहकर नहीं लाई जा सकती। पूंजीवाद की बुजुर्गशाही से उत्पन्न वर्ग-विग्रह को नष्ट करना पूंजीवाद से झगड़े बिना संभव नहीं। ऐसा झगड़ा करने का अर्थ वर्ग-विग्रह निर्माण करना नहीं, बल्कि पूंजीवाद द्वारा निर्मित वर्ग-विग्रह का शिकार बनी हुई जनता को सत्याग्रही बनाना है। सत्याग्रही न्याय-स्थापना की लड़ाई से डरता नहीं और डरेगा तो वह सत्याग्रही नहीं रहेगा।

एक दूसरी दृष्टि से यह प्रतिपादन किया जाता है कि सत्याग्रही तत्वज्ञान और समाजवाद में अनुल्लंघनीय मतभेद है। सत्याग्रही तत्वज्ञान में यह मानकर चला जाता है कि मनुष्य-स्वभाव सुधार-क्षम है अथवा प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण में न्याय-बुद्धि के रूप में परमेश्वर निवास करता है। इसके विपरीत समाजवादी तत्वज्ञान में यह माना जाता है कि प्रत्येक मनुष्य स्वार्थ-साधु है। इस तरह से मत-भेद प्रकट किया जाता है। किन्तु हमारी राय में इस मत-भेद का इस तरह प्रतिपादन शास्त्र-शुद्ध नहीं। समाजवाद यह नहीं कहता कि मनुष्य-स्वभाव बिलकुल स्वार्थ-प्रधान है और न इसके विपरीत सत्याग्रही तत्वज्ञान का यह मत है कि मनुष्य-स्वभाव केवल न्याय-प्रधान है। मनुष्य-स्वभाव में स्वार्थ-बुद्धि व न्याय-बुद्धि दोनों तत्व हैं और दोनों में यह मानना पड़ता है कि स्वार्थ-बुद्धि

जबतक न्याय-बुद्धि से संयत न होगी तबतक मनुष्य-समाज में शान्ति का राज्य स्थापित नहीं हो सकता। समाज की स्वार्थ-बुद्धि पर न्याय-बुद्धि का नियंत्रण रहने के लिए समाज का आर्थिक संगठन खास प्रकार का होना जरूरी है और जबतक वह वैसा न हो जायगा तबतक समाज में न्याय की स्थापना नहीं हो सकती। इसलिए समाजवादी तत्वज्ञान कहता है कि समाज की न्याय-प्रस्थापना उसके आर्थिक संगठन पर और उसके सुधार पर अवलंबित रहती है। मनुष्य-स्वभाव का व्यक्त स्वरूप किस तरह का होगा यह भी समाज के आर्थिक संगठन पर ही अवलंबित रहता है। जब-तक यह संगठन न्यायाधिष्ठित नहीं होता तबतक समाज का सामान्य व्यक्ति न्यायनिष्ठ नहीं बन सकता। पूंजीवादी समाज-रचना अन्याय पर खड़ी है और जबतक यह रचना बदली नहीं जायगी तबतक समाज के व्यक्ति का स्वभाव न्याय-प्रधान न होकर स्वार्थ-प्रधान ही रहेगा। समाजवाद यह नहीं कहता कि पूंजीपति सब स्वार्थी और मजदूर सब न्याय-प्रिय होते हैं। उसे यह तो मंजूर है कि पूंजीपति और मजदूर का झगड़ा वर्ग-स्वार्थ का झगड़ा है तथापि उसका मत है कि पूंजीपतियों का वर्ग-स्वार्थ अधिक न्याय-युक्त समाज-रचना करने में जितना बाधक होता है उतना मजदूरों का वर्ग-स्वार्थ नहीं; बल्कि वह उल्टा सहायक बनता है। सामाजिक ध्येय का हेतु समाज में न्याय-प्रस्थापना ही है और न्याय-प्रस्थापना के बाद उस समाज के सभी व्यक्तियों का हित होता है। परन्तु उससे सभी वर्गों का स्वार्थ अधिक सधता है ऐसा नहीं। कुछ वर्गों का स्वार्थ वर्तमान समाज में जितना सधता है उतना समाजवादी समाज में न सधेगा, इस कारण उस वर्ग के सामान्य लोग उस आदर्श की स्थापना का विरोध करते हैं और आज के समाज में जिस वर्ग का न्याय्य स्वार्थ भी कुचला जाता है उस वर्ग के लोग नवीन ध्येय की स्थापना के लिए आवश्यक स्वार्थ-त्याग करने को व्यापक रूप में तैयार रहते हैं। यह समाजवाद का विचार है। समाज-सत्तात्मक आर्थिक संगठन यद्यपि न्याय-प्रस्थापना के लिए है तो भी उसकी बदौलत जमींदारों औरमिल-मालिकों के स्वार्थ को धक्का पहुंचता है। अतः उस वर्ग के सामान्य व्यक्ति समाज-सत्तात्मक क्रान्ति में शामिल नहीं होंगे। इतना ही नहीं; बल्कि समाजवादी कार्यकर्त्ताओं को यह मानकर अपनी नीति निश्चित

करनी चाहिए कि वे उस क्रांति का विरोध ही करेंगे। जब सत्याग्रही तत्व-ज्ञान सामाजिक क्रान्ति की जिम्मेदारी लेगा तब भी हमारा खयाल है कि इसे ऐसी ही नीति स्वीकार करनी पडेगी। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के ध्येय की जो लड़ाई कांग्रेस लड़ चुकी है, उसकी नीति भी इसी सिद्धान्त पर रखी गई थी। स्वातन्त्र्य प्राप्त करने के लिए जो लड़ाई लड़ी गई, उसमें हिन्दुस्तानियों ने ही सारा भार उठाया और यही मानकर सत्याग्रह व असहयोग की योजना भी की जाती थी। भारतीय स्वातन्त्र्य के लिए अग्रेज क्यों नहीं लड़ें, ऐसा प्रश्न किसीने नहीं किया। ऐसा मानकर कोई नहीं चला कि भारतीय स्वातन्त्र्य संसार में न्याय-प्रस्थापना करने की लड़ाई है, इसलिए संसार के किसी भी देश के न्याय-प्रिय अथवा न्याय-निष्ठ लोग इस झगड़े में समान रूप से शामिल हों। अतः इसका निकट सम्बन्ध भारतवासियों के न्यायोचित राष्ट्रीय स्वार्थ-साधन से था, इसलिए वे ही इस लड़ाई में अधिक-से-अधिक स्वार्थ-त्याग करेंगे और जिन ब्रिटिश लोगों के राष्ट्रीय स्वार्थ के विरुद्ध यह लड़ाई है वे इसका अधिक-से-अधिक विरोध करेंगे—यह मानकर ही सत्याग्रह-संग्राम की नीति निर्धारित की गई। इसका अर्थ यह नहीं कि इस लड़ाई में कोई भी अंग्रेज शामिल न हुआ या इसके साथ किसी भी अंग्रेज ने सहानुभूति नहीं दिखाई। अपवाद के तौर पर कुछ अंग्रेज इसमें शामिल भी हुए और बहुतेरे अंग्रेजों ने इसके साथ सहानुभूति भी दिखाई; परन्तु इससे पूर्वोक्त सिद्धान्त को बाधा नहीं पहुंचती। इसके आधार पर साधारण मनुष्य-स्वभाव-विषयक जो विचार-प्रणाली निश्चित की गई है, उसके बिना समाज-सत्तात्मक क्रान्ति नहीं हो सकेगी अर्थात् जबतक पूंजीपतियों को यह दिखाई न देगा कि अब पूंजीवादी समाज-रचना का आगे चलना असम्भव है या प्रस्थापित राज-सत्ता जबतक अपनी सत्ता के बल पर बहुजन-समाज के पृष्ठ-पोषण से क्रांति करने का निश्चय न कर ले, तबतक समाज-सत्ता की प्रस्थापना नहीं होगी। यह बात नहीं कि इस न्याय-स्थापना के कार्य में कोई भी पूंजीपति शामिल न होगा; हां, उनमें आम पूंजीपति शामिल न होंगे। जो थोड़े-बहुत होंगे वे भी अपना स्वार्थ छोड़कर। जिन पूंजीपतियों को इस कार्य में शरीक होना होगा, उन्हें अपना वर्ग-स्वार्थ छोड़ने के लिए तैयार रहना होगा। हजरत ईसा ने कहा था कि एक बार सुई के

नाके में से ऊंट निकल सकता है; परन्तु धनिक को ईश्वरीय साम्राज्य में प्रवेश नहीं मिल सकता। महात्मा गांधी भी कह गये हैं कि परिग्रही मनुष्य सत्याग्रही नहीं बन सकता। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह-आंदोलन में उन्हें सधनों की बनिस्बत निर्धनों की ही सच्ची मदद मिली थी। इन विचारों और अनुभवों में मनुष्य-स्वभाव का जो सिद्धान्त बताया गया है, उससे अधिक या भिन्न बात इस विचार में ग्रहण करने की जरूरत नहीं है कि 'पूंजीवादी समाज-सत्तात्मक क्रान्ति का विरोध करेंगे।' समाज के अन्याय का प्रतिकार वे लोग करते हैं, जो उस अन्याय से पीड़ित होते हैं व प्रतिकार का विरोध वे लोग करते हैं, जो उस अन्याय से अपना स्वार्थ साधते हैं। यह मामूली व्यवहार जो नहीं जानते वे समाज के अन्याय-निवारण की लड़ाई में सफलता नहीं पा सकते। सत्याग्रही तत्वज्ञान का व्यवहार भी इसी नीति से किया जाता है और होता है।

हम जो यह कहते हैं कि सत्याग्रह की अहिंसात्मक असहयोग-क्रान्ति का तत्व केवल विदेशी राजसत्ता पर ही नहीं, स्वकीय राजसत्ता और स्वकीय धनिक वर्ग पर भी लागू होता है, उसके लिए टॉल्स्टाय के विचारों का भी आधार है। टॉल्स्टाय जिस देश में पैदा हुए वह राजनैतिक दृष्टि से परतन्त्र न था। इसलिए उन्होंने इसी बात का विचार किया है कि अहिंसात्मक असहयोग का सिद्धान्त अपने तथा इतर स्वतन्त्र देशों के धनिक वर्ग व सरकार के खिलाफ काम में लाकर संसार के सब श्रमजीवी अपनी मुक्ति किस प्रकार कर सकते हैं। १९०१ में लिखे (The Only Means) नामक निबन्ध में वह लिखते हैं :

"संसार में एक अरब से ज्यादा मजदूर हैं। संसार का सब धन-धान्य, मनुष्यों के जीवन व वैभव के सब साधन मजदूर ही तैयार करते हैं; परन्तु जिस चीज को वे बनाते हैं, उसका फायदा उन्हें नहीं मिलता, बल्कि सरकार व धनिक वर्ग को मिलता है। मजदूर सतत दरिद्रता, अज्ञान, और गुलामी में सड़ते हैं और जिन लोगों के लिए अन्न, वस्त्र और घर बनाते व जिनकी वे सेवा करते वे ही लोग उनके साथ तुच्छता का व्यवहार करते हैं। किसानों की जमीनें जब्त होती हैं, छिन जाती हैं और वे उन लोगों की निजी मिल्कियत बन जाती हैं, जो उसके लिए कष्ट और श्रम नहीं करते। इससे जमीन

के मालिक जो-कुछ मजदूरी या मुआवजा दे देते हैं, उसीपर उन लोगों को जो जमीन पर मरते-खपते हैं अपनी गुजर करनी पड़ती है। जो जमीन छोड़कर किसी कारखाने में काम करने जाते हैं, वे पूंजीपतियों के गुलाम बनते हैं। अगर उन्होंने कर-बन्दी या लगान-बन्दी का आंदोलन किया या हड़ताल करने की कोशिश की तो फौज और पुलिस का धावा होता है व उन्हें जबरदस्ती कर देने व काम करने पर मजबूर किया जाता है।

"जमींदार, सरकार, मिल-मालिक व सैनिक अधिकारी इनके खिलाफ मजदूरों को बहुत शिकायतें रहती हैं। मगर वे ही मजदूर जमींदारों, सरकारों आदि की मदद करते हैं। जिन बातों की वे शिकायत करते हैं वे ही खुद करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसीसे जमींदार जमीन की पैदावार हड़प जाता है, सरकार कर वसूल कर लेती है। मजदूरों की यह फरियाद है कि जिस जमीन को हम अपना मानते हैं, उसपर जब हम कब्जा करने लगते हैं या सरकारी कर नहीं देते अथवा हड़ताल का संगठन करते हैं तो हमपर फौज चढ़ाई करती है। मगर जो फौज उनपर भेजी जाती है उसके सैनिक इन किसान-मजदूरों में से ही आते हैं। वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से या सजा के भय से फौज में नौकरी करते हैं और उन्हें यह कसम दिलाई जाती है कि अपने मनोदेवता व ईश्वरीय नियम को एक ओर ताक में रखकर अधिकारी जिसे कत्ल करने का हुक्म दें उसे वे कत्ल करें। मतलब यह कि मजदूरों की तमाम मुसीबतों का कारण खुद वे ही हैं। अगर वे धनिक वर्ग व सरकार से सहयोग करना छोड़ दें तो उनकी तमाम आपत्तियों का अपने-आप अन्त हो जायगा।"

टॉल्स्टाय ने पूंजीवाद और सैनिक सत्ता के जुल्म से आत्म-बल के द्वारा मुक्त होने का मार्ग तो दिखाया; परन्तु वह खुद रूस में उसके अनुसार कुछ न कर सके। इसीसे वहां लेनिन आदि का सशस्त्र क्रान्तिवाद फैला। लेकिन यहां महात्मा गांधी ने टॉल्स्टाय के अहिंसात्मक असहयोग का अवलम्बन लेकर भारत के राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के झगड़े को सफलतापूर्वक निपटाया। महात्मा गांधी में टॉल्स्टाय की अपेक्षा व्यावहारिक राजनीतिज्ञता व नेतृत्व-कला अधिक थी और यहां शासकों ने भी दूरदर्शी स्वार्थ से क्यों न हो, निःशस्त्र क्रान्तिवाद के प्रचंड संगठन करने का थोड़ा-बहुत अवसर दिया।

जारशाही की अपेक्षा ब्रिटिश-साम्राज्यशाही में नागरिक स्वतन्त्रता कुछ अधिक रही। इसीसे महात्मा गांधी टॉल्स्टाय के निःशस्त्र क्रान्ति-शास्त्र को बहुत परिणत अवस्था तक ले जा सके। फिर भी उनका कार्य विदेशी सत्ता से अपनी जनता को मुक्त करना था। इससे स्वकीय राजा और धनिकों के विरुद्ध लड़ाई का रूप उस निःशस्त्र क्रान्ति-शास्त्र को नहीं मिला। अब उसीका उपयोग टॉल्स्टाय के बताये काम में करना पड़ेगा। कहना नहीं होगा कि अब यह कार्य महात्मा गांधी के आगे की पीढ़ी के सत्याग्रही नेताओं को करना है। पंडित जवाहरलाल-जैसे नवीन पीढ़ी के नेता अहिंसात्मक क्रान्ति-शास्त्र का समर्थन करते हुए भी यह साफ-साफ कह चुके हैं कि स्वराज्य की प्राप्ति के बाद जबतक हम समाज-सत्तात्मक प्रजातन्त्र की स्थापना नहीं करेंगे तबतक यहां की आम जनता व मध्यम-वर्ग की दाल-रोटी का प्रश्न अच्छी तरह हल नहीं हो सकता।

भारतीय संस्कृति का भी स्वरूप समाज-सत्तात्मक होगा, इस विषय में अब कांग्रेस की नई पीढ़ी में बहुत-कुछ एकवाक्यता होने लगी है। फिर भी एक बात पर यहां विशेष रूप से विचार कर लेने की जरूरत है। वह है औद्योगिक विकेन्द्रीकरण (Industrial de-centralisation)। इसके लिए आधुनिक यूरोप के जिन चार प्रमुख अर्थ-शास्त्रियों की विचार-प्रणाली का तुलनात्मक अध्ययन करने की जरूरत है वे हैं: ऍडम स्मिथ फ्रेडरिक लिस्ट, कार्ल मार्क्स व प्रिंस क्रोपाटकिन। इनमें ऍडम स्मिथ व्यक्तिवादी, फ्रेडरिक लिस्ट राष्ट्रवादी व कार्ल मार्क्स तथा प्रिंस क्रोपाटकिन समाजवादी अर्थ-शास्त्रज्ञ थे। ऍडम स्मिथ के व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र से खुले मैदान का अनिर्बन्ध स्पर्धा का और भौगोलिक श्रम-विभाग का सिद्धान्त स्थिर हुआ। उसीके आधार पर पूंजीवाद और साम्राज्यवाद की वृद्धि हुई। भौगालिक श्रम-विभाग के तत्वानुसार एशिया के उर्वर राष्ट्र महज खेती करके अनाज और कच्चा माल दें और इंगलैंड आदि यूरोपीय देश पक्का माल बनानेवाले अधिक मुनाफे के काम-धन्धे करें—यह श्रम-विभाग निसर्गसिद्ध माना जाने लगा। खुले व्यापार व अनिर्बन्ध स्पर्धा के सिद्धान्त की बदौलत जब नेपोलियन ने सारे यूरोप में महायुद्ध की ज्वाला फैलाई उस समय ब्रिटिश पंजीवाद को, जो हिन्दुस्तान को निगलकर बैठा था, औद्योगिक क्षेत्र में

मिली अपनी अग्रसरता स्थिर करने का मौका मिला और एशिया की तरह यूरोप के लोगों को भी पक्का माल देने का ठेका ब्रिटिश पूंजीवादियों को मिलने लगा। यह देखकर जर्मन अर्थ-शास्त्रज्ञ फ्रेडरिक लिस्ट ने खुले व्यापार के सिद्धान्त पर आघात करके संरक्षक जकात का नवीन राष्ट्रीय अर्थशास्त्र निर्माण किया। इस अर्थशास्त्र के सिद्धान्तानुसार बाल्यावस्था के उद्योग-धन्धों को विदेशी माल पर जकात के द्वारा संरक्षण देकर इंग्लैंड की तरह प्रत्येक यूरोपीय देश अपने यहां प्रचंड उद्योग-धन्धे खड़े करें और एशिया के देशों से अन्न तथा कच्चा माल लाकर पिछड़े हुए देशों को पक्का माल पहुंचाने की ठेकेदारी में सब यूरोपीय देश ब्रिटिशों से स्पर्धा करें—इस तरह का नवीन साम्राज्यवादी राष्ट्रीय अर्थशास्त्र पैदा हुआ। फ्रेडरिक लिस्ट ने ॲडम स्मिथ प्रभृति ब्रिटिश अर्थ-शास्त्रियों के व्यक्तिवादी तत्वज्ञान के अन्दर छिपे राष्ट्रीय स्वार्थ की तो कलई खोल दी, परन्तु ऐसा करते हुए उसने अपने राष्ट्रीय स्वार्थ को नहीं छोड़ा। उसने अपने राष्ट्रीय अर्थशास्त्र में यह साफ-साफ लिखा है कि एशिया के देशों को यूरोपीय देशों के कारखानों के लिए आवश्यक कच्चा माल तैयार करने के लिए ही प्रकृति या ईश्वर ने पैदा किया है।

इस प्रकार फ्रेडरिक लिस्ट ने १९वीं सदी के मध्य में जर्मन राष्ट्रवाद को साम्राज्यशाही दीक्षा देनेवाले अर्थशास्त्र की बुनियाद डाली। हमारे यहां न्याय० रानडे के समय से इसी राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के ढंग पर भारतीय अर्थशास्त्र निर्माण हुआ, परन्तु हिन्दुस्तान में साम्राज्यवादी अर्थशास्त्र खड़ा नहीं हो सकता था। अतः यह भारतीय अर्थशास्त्र आगे की भारतीय संस्कृति की नींव डालने के लिए काफी न था। इसके बाद जर्मनी में कार्ल मार्क्स ने अपना संसार-प्रसिद्ध समाजवादी अर्थशास्त्र तैयार किया। इसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि देश के कारखाने व जमीन पर किसीका निजी स्वामित्व न हो, बल्कि राष्ट्र का सामूहिक स्वामित्व हो। इस सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना हिंदुस्तान के अन्न-वस्त्र का प्रश्न ही हल नहीं हो सकता, वर्ग-विग्रह से राष्ट्रीय भावना के टुकड़े हुए बिना नहीं रहते और प्रजासत्ता धनिक-शाही का रूप ले लेती है—यह मत आज भारतीय समाजवादियों द्वारा मान्य हो चुका है। तथापि इतने ही सिद्धान्तों के आधार पर भावी

भारतीय संस्कृति की आर्थिक नींव नहीं डाली जा सकती। उसके लिए प्रिंस क्रोपाटकिन द्वारा प्रतिपादित औद्योगिक विकेन्द्रीकरण का सिद्धांत हिंदुस्तान को स्वीकार करना पड़ेगा। क्रोपाटकिन समाजवादी था। फिर भी हिंदुस्तान में जो समाजवाद आज आ रहा है, वह मार्क्स के अनुयायियों द्वारा आ रहा है, इससे क्रोपाटकिन के औद्योगिक विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त की ओर समाजवादी दल का ध्यान जितना चाहिए, नहीं जाता। इसका प्रतिपादन ग्रामोद्योग का संगठन करनेवाले गांधीजी के अनुयायी बहुत बार करते हैं; परन्तु वे क्रोपाटिकिन के इन समाजवादी विचारों का विशेष उल्लेख नहीं करते कि इस संगठन में नैसर्गिक शक्ति व यन्त्रकला का उपयोग कर लेना चाहिए व धनोत्पादन के सब साधनों पर समाज का स्वामित्व कर देना चाहिए। वस्तुतः भारतवर्ष को औद्योगिक विकेन्द्रीकरण और धनोत्पादन के साधनों पर सामुदायिक स्वामित्व इन दोनों तत्वों का अवलम्बन लेना पड़ेगा। ऐसा होने पर ही हिंदुस्तान में खेती व उद्योग-धन्धे दोनों की कड़ी ठीक तरह से जुड़ सकेगी, भारतीय संस्कृति का ग्राम-प्रधान स्वरूप कायम रक्खा जा सकेगा, औद्योगिक विकेन्द्रीकरण के साथ ही राजसत्ता का भी विकेन्द्रीकरण करके जनसत्ता का अधिक पोषण किया जा सकेगा और भारत के सब विभागों की सर्वांगीण उन्नति होकर राजसत्ता के व धनोत्पादन के केन्द्रीकरण से उत्पन्न सब आपत्तियां दूर हो सकेंगी। प्रत्येक राष्ट्र, उसका प्रत्येक प्रान्त और प्रान्त-विभाग आर्थिक दृष्टि से भरसक स्वयंपूर्ण बनाया जाय, प्रत्येक विभाग के लिए आवश्यक कच्चा व पक्का माल भरसक जहां का वहीं तैयार किया जाय, प्रत्येक विभाग के लोगों की सब शक्तियों का विकास होने के लिए उस विभाग का औद्योगिक जीवन भरसक विविधता-सम्पन्न किया जाय और इस तरह प्रत्येक राष्ट्र-विभाग को स्वावलम्बी व यथासंभव सर्वगुण-संपन्न बनाने का ध्येय अपने सामने रखा जाय—यह क्रोपाटकिन की विचार-प्रणाली है। इस तरह से स्थानिक स्वयंपूर्णता व स्वावलम्बन का सिद्धान्त ग्रहण करने से खेती व दूसरे उद्योग-धन्धे, कच्चे व पक्के माल की खपत, उत्पादक व उपभोक्ता, खेती व कार-खाने का काम इन सबका समुचित मेल बैठाकर नियोजित आर्थिक संगठन

(Planned economy) बनाना बहुत आसान व सुविधाजनक हो जाता है। चूंकि यह संगठन छोटे लोक-समुदाय से शुरू होता है अतः वह बहुत फुटकर नहीं बनने पाता। इस कारण स्थानिक लोगों की आवश्यकताओं व मतों का उसपर उचित प्रभाव पड़ता है, वह अधिक लोकमतानुवर्ती रह सकता है व उसके मातहत प्रत्येक विभाग के लोगों की स्वतन्त्रता व सुख अधिक सुरक्षित रह सकते हैं। इसके अलावा खुली हवा, काफी पानी, खुले मैदान और सूर्य-किरणों का प्रवेश आदि प्राकृतिक सम्पत्ति का काफी लाभ सबको मिलेगा, जिससे राष्ट्रीय जीवन अधिक नीरोग, तेजस्वी, सम्पन्न और सुसंस्कृत हो सकता है। उद्योग-धंधे व खेती में बिजली-जैसी प्राकृतिक शक्ति के उपयोग करने का ज्ञान आज हमारे पास है। इसी तरह लोकसत्ता व समाजसत्ता जैसी शासन व समाज-व्यवस्था-सम्बन्धी पद्धति भी हमें उपलब्ध है। इन सबका उपयोग करने से भावी भारतीय संस्कृति को पहले की तरह ग्राम-प्रधान व कृषि-प्रधान रखकर भी भौतिक दृष्टि से अधिक सम्पन्न, बौद्धिक दृष्टि से अधिक प्रगतिशील, सामाजिक दृष्टि से अधिक समतापूर्ण, राजनैतिक दृष्टि से अधिक लोकसत्तात्मक और धार्मिक दृष्टि से अधिक प्रवृत्ति-मय किन्तु शान्ति-प्रधान बनाना शक्य है। परन्तु इसके लिए भौतिक विद्या, यन्त्रकला, बुद्धि-स्वतन्त्र्य, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, सामाजिक व आर्थिक समता, लोकसत्ता व समाजसत्ता इन आधुनिक जगत् के तमाम भौतिक व सामाजिक आविष्कारों से पूरा लाभ उठाना चाहिए व ऐसा करते हुए हमें अपनी प्राचीन आध्यात्मिक सम्पत्ति को न गंवाते हुए उसकी वृद्धि के लिए इन सबका उपयोग करना चाहिए। इस तरह की भावी भारतीय संस्कृति की नींव डालने में हमें क्रोपाटकिन के उस अर्थशास्त्र से जो राष्ट्रवादी व समाजवादी अर्थशास्त्र का समन्वय करके उसने बनाया है, पूरा-पूरा लाभ उठाना पड़ेगा।

जर्मनी व इटली में राष्ट्रीय समाजवादी अर्थशास्त्र के रूप में जो साम्राज्यवादी अर्थशास्त्र आगे चला था, उसका क्रोपाटकिन के अर्थ-शास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं था। हिटलर का नाजी अर्थशास्त्र भले ही अपनेको राष्ट्रीय समाजवादी अर्थशास्त्र कहता रहा, वस्तुतः वह पूंजीवादी व साम्राज्यवादी अर्थशास्त्र ही था। एक अर्थ में यह व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र

के खिलाफ था और इसीसे उसे 'राष्ट्रीय' कहते थे। उसका उद्गम फ्रेडरिक लिस्ट के अर्थशास्त्र से हुआ व समाजवाद से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहा। ब्रिटिश पूंजीवाद की वृद्धि व्यक्तिवादी वातावरण में हुई है। इससे वहां के पूंजीवादी शेर-जैसे बन गये हैं। वे संघ बनाकर रहने व चलने की बहुत प्रवृत्ति नहीं दिखाते। जर्मनी पूंजीवाले राष्ट्रवादी अर्थशास्त्र की छत्रछाया में पले, इससे उनमें संघ-भावना ज्यादा रही। वे सियाल की तरह रहे। दोनों एक-से हिंस्र हैं और दोनों का सच्चा अर्थशास्त्र साम्राज्यवादी है। सच्चे राष्ट्रवादी व समाजवादी अर्थशास्त्र में विरोध नहीं है, उनका समन्वय हो सकता है और वह कैसे हो सकता है यह प्रिंस क्रोपाटकिन ने अच्छी तरह दिखा दिया है। इसी अर्थशास्त्र के आधार पर भारतीय संस्कृति की इमारत हमें खड़ी करनी होगी।

अब हम वर्ग-विग्रह व समाजवाद का भारतीय संस्कृति की परम्परा की दृष्टि से विचार करें व यह देखें कि भारतीय संस्कृति की प्रगति कब व कैसे रुकी। तभी यह बात निश्चित हो सकेगी कि भारतीय संस्कृति का रूप क्या होगा व मानव-संस्कृति को वह कौन-सा महत्वपूर्ण सन्देश देगी? भारतीय संस्कृति संसार की एक महान् व अत्यन्त प्राचीन संस्कृति है व संसार उससे बहुत-कुछ सीख सकता है। जितनी यह बात सही है उतनी ही यह भी सही है कि अब उसकी प्रगति रुक गई है व मौजूदा समय में वह यूरोपीय संस्कृति से पिछड़ गई है। हमारी संस्कृति की प्रगति क्यों रुक गई, यह जानकर जबतक हम आगे कदम न बढ़ावेंगे, तबतक उसे उज्ज्वल स्वरूप प्राप्त न होगा और न मानव-संस्कृति में वृद्धि करने की हमारी आकांक्षा ही सफल हो सकती है। मानव-संस्कृत में वृद्धि का कार्य मध्य-युग तक यूरोपीय व भारतीय दोनों संस्कृतियां प्रायः एकसमान करती रहीं। बल्कि यह कहना होगा कि कुछ बातों में मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति तत्कालीन यूरोपीय संस्कृति से अधिक श्रेष्ठ व सम्पन्न थी। इधर आधुनिक काल में यूरोपीय संस्कृति बहुत आगे निकल गई, किन्तु अब उसकी भी गति कुण्ठित हो गई है और आगे रास्ता ढूंढ़ने की शक्ति उसमें बाकी नहीं है। यूरोप के तत्वज्ञों को आगे का मार्ग दिखाई न देता हो, सो बात नहीं। परन्तु लोगों को उस मार्ग पर ले चलने का सामर्थ्य वहां के लोकनायकों

में नहीं है। यूरोपीय संस्कृति पूंजीवाद व साम्राज्यवाद के भंवर में पड़ गई है और उसके चक्कर में से उसे बचा ले जाने की शक्ति उसके नाविकों या कर्णधारों में नहीं दिखाई देती। यूरोप के चार प्रमुख राष्ट्र—इंग्लैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी व इटली में से जर्मनी व इटली में सामर्थ्योपासकों का एक-एक सम्प्रदाय उत्पन्न हो गया था व हिटलर तथा मुसोलिनी जैसे समर्थ पुरुषार्थी राष्ट्रनायक उन्हें प्राप्त हो गये थे। इस तरह जर्मनी व इटली में सामर्थ्य तो उत्पन्न हुआ; परन्तु उसका उपयोग मानव-संस्कृति की प्रगति में नहीं बल्कि उसे प्रतिगामी व आसुरी बनाने में किया गया। आधुनिक यूरोप में फूले-फले प्रजासत्ता व नागरिक स्वातन्त्र्य के तत्वों को उन्होंने दिन-दहाड़े पैरों तले रौंदकर मानो इस बात का बीड़ा उठा लिया था कि चाहे सारी मानव या यूरोपीय संस्कृत नष्ट-भ्रष्ट हो जाय, पर वे प्रजा-तन्त्रात्मक समाज-सत्तात्मक संस्कृति को यूरोप में न पनपने देंगे। उनके देश के धनिक इसमें उनके पृष्ठ-पोषक बने। इस धनिक वर्ग की सेवा से लाचार व भावी साम्राज्यशाही के लाभ से मोहित बुद्धि-प्रधान मध्यम-वर्ग तत्व-भ्रष्ट होकर उनकी सेवा करने लगा व अज्ञान किसान-वर्ग को मजदूरों से फोड़कर उन्होंने समाजसत्ता के लिए झगड़नेवाली जनता की टांग ही तोड़ दी। उनकी स्थापित 'जारशाही' से जनता को मुक्त करने के लिए खून की नदी बहनेवाली सशस्त्र क्रान्ति के सिवा दूसरा मार्ग वहां के नेताओं को नहीं दिखाई दिया, परन्तु हिटलर-शाही व मुसोलिनी-शाही जारशाही से भी ज्यादा वैज्ञानिक बन गई थी और उनका राज्यतन्त्र भी अधिक कार्य-क्षम प्रमाणित हुआ। परिणामतः दूसरे महायुद्ध की प्रचण्ड अग्नि धधकी, जिसमें यद्यपि यह दोनों तानाशाह मिट गये; किन्तु यूरोपीय संस्कृति को नष्टप्राय कर गये। ये हमारा अन्दाजा था। यूरोप के दूसरे दो देशों—इंग्लैण्ड व फ्रान्स—ने अभी लोक-सत्ता का बुरका खुल्लमखुल्ला उतारकर नहीं फेंक दिया है व वे संसार को यही दिखाते हैं कि आधुनिक यूरोप की संस्कृति की रक्षा हमारे ही कारण हो रही है, परन्तु आज उनकी स्थिति गई-गुजरी हो गई है। इनमें अब किसी प्रकार का सामर्थ्य बाकी नहीं दिखाई देता। अपने साम्राज्य की रक्षा भी उनके लिए दूभर हो गई है व इधर साम्राज्य का लोभ भी पूर्णतः छूटता नहीं है। वहां के अनेक

विद्वान् यह तो मानते हैं कि यूरोपीय संस्कृति की वृद्धि व प्रगति अब समाज-सत्ता द्वारा ही हो सकती है; परन्तु अपनी इस विद्वत्ता को राष्ट्र के गले उतारने व राष्ट्र से समाजसत्ता की स्थापना कराने का सामर्थ्य आज उनमें से किसीमें भी नहीं दिखाई देता। जिस समय देश को महान्, समर्थ व पुरुषार्थी नेताओं की आवश्यकता होती है, उस समय यदि वे पैदा नहीं होते तो यही कहना पड़ता है कि उस देश के अधःपात का समय आ गया है या उसकी संस्कृति का विनाश नजदीक है। संस्कृति-वृक्ष में जब घुन लग जाता है तब महान् व पुरुषार्थी पुरुषरूपी फल उसमें नहीं लगते। आज इंग्लैण्ड व फ्रान्स की ऐसी ही शोचनीय स्थिति हुई दीखती है। आधुनिक-कालीन राष्ट्रीयता, प्रजासत्ता व पूंजीवाद का उदय इन देशों में हुआ। उन्होंने कुछ समय तक मानव-संस्कृति का नेतृत्व भी किया। भौतिक व सामाजिक विद्या की बहुत वृद्धि भी उन्होंने की व इस बात की भी खोज की कि अब आगे के इतिहास में मानव-संस्कृति किस युग में प्रवेश करेगी। परन्तु अपनी संस्कृति की प्रगति करने का सामर्थ्य आज उनमें नहीं बच रहा है। इंग्लैण्ड व फ्रान्स में आज यही अनुभव हो रहा है। वहां की राष्ट्रीयता छिन्न-भिन्न हो रही है व प्रजा-सत्ता धनिक-सत्ता बन गई है। उनकी बुद्धि यह तो जानती है कि इन दोनों वादों से आगे जाने का समय अब आ गया है, किन्तु वैसा हाथ मे किया नहीं जाता; 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः। जानाम्य-धर्मं न च मे निवृत्तिः' ऐसी दशा को ये देश आज पहुंच चुके हैं।

आधुनिक भारत में महात्मा गांधी व पं० जवाहरलाल नेहरू जैसे प्रतापी पुरुष इंग्लैण्ड में नहीं दिखाई देते। वहां की आम जनता साम्राज्यवाद की लूट से मिली सम्पत्ति के कारण तत्व-भ्रष्ट हो गई है। जिस राष्ट्र ने प्युरिटन-काल में प्रस्थापित राजसत्ता के खिलाफ बगावत करके सत्ताधारी वर्ग द्वारा संस्कृति के प्रवाह पर बांधे बांध के तोड़ डालने का सामर्थ्य दिखाया था, उसमें आज निःशस्त्र क्रान्ति का सामर्थ्य बाकी नहीं बच रहा। आधुनिक भारत ने १९३० व ३२ में अपूर्व सत्याग्रह-संग्राम किया और प्रस्थापित राजसत्ता द्वारा बे-कायदा घोषित कांग्रेस का लड़ाऊ क्रान्ति-यन्त्र प्रतिपक्ष के द्वारा होनेवाले दमन के उग्र व भयंकर शस्त्र-संपात के बावजूद एक साल तक चालू रक्खा। किन्तु १९२६ में ब्रिटिश मजदूरों ने जब

सार्वत्रिक हड़ताल-रूपी प्रत्यक्ष प्रतिकार का हथियार प्रस्थापित राजसत्ता पर चलाया तो उसके बेकायदा घोषित करने की धमकी भर से वह छोड़ दिया गया। अपनी इस कृति के द्वारा संसार को ब्रिटिश मजदूर-दल ने मानो यह बता दिया कि किसी भी प्रकार की राज्यक्रान्ति करने का सामर्थ्य उनमें नहीं रहा व अब वे आगे अपनी संस्कृति की प्रगति नहीं कर सकते। उसके बाद तो मैकडानल्ड जैसे नेताओं का कंजर्वेटिव दल से मिलकर, जन्म भर नेतृत्व करके पाले-पोसे समाजवादी दल व तत्वज्ञान को दगा देना क्रमप्राप्त ही था। इसके विपरीत महात्मा गांधी ने सत्याग्रही तत्व-ज्ञान की सहायता से आधुनिक भारत में एक प्रचण्ड सामर्थ्य उत्पन्न किया। इस सामर्थ्य का अधिष्ठान प्राचीन भारत का आत्मबल है और इस सामर्थ्य की बदौलत आधुनिक भारत में अपनी प्राचीन संस्कृति का अभिमान भी पैदा हुआ है। उसके साथ ही आधुनिक यूरोपीय संस्कृति के प्रति एक तरह की तुच्छता या अनादर भी उत्पन्न हुआ है। इस अनादर-भाव के कारण, संभव है, आधुनिक भारत का अधःपात भी हो जाय। यदि भारतीय अन्तःकरण में यह भावना प्रबल होती गई कि आधुनिक यूरोप की प्रत्येक बात व विचार त्याज्य व तुच्छ है तो वह अपनी प्राचीन संस्कृति के दोषों से चिपका रहेगा। इतना ही नहीं बल्कि, कुछ विचारशील लोगों को आज ऐसा भी लगने लगा है कि अनादर करते-करते कहीं उसके उज्ज्वल अंग का अनादर न कर दिया जाय व हीनअंगों का, अनजान में, आदर। किन्तु यह बात पक्की है कि आधुनिक भारत आज कार्यक्षम व समर्थ बनने लगा है। उसकी यह कार्यक्षमता व सामर्थ्य एक-सा बढ़ भी रहा है। इसलिए ऐसी आशंका के सच होने की गुंजाइश बहुत कम रह जाती है। जब कोई देश जी-जान से अपने उद्धार के प्रयत्न में जुट पड़ता है व उसके लिए आवश्यक त्याग करने की भावना उसके बुद्धिशाली लोगों में बढ़ने लगती है तो उसके तत्वज्ञान के सदोष रहते हुए भी उसका अधःपात नहीं होता, बल्कि उसके उद्योग-सामर्थ्य से वह धीरे-धीरे निर्दोष बनने लगता है। आत्मोद्धार के लिए ऐसा उद्योग करने की आत्म-प्रेरणा आज भारत में जाग्रत हो गई है व हमें यह पक्की आशा है कि वह अपने राष्ट्रीय तत्वज्ञान को अधिकाधिक निर्दोष व शुद्ध बनाता जायगा। फिर

भी हमें यह देख लेना जरूरी है कि हमारे तत्वज्ञान में पूर्वोक्त कारण से आज कौन-सी बुराई आ जाने का डर है, किस बुराई के कारण प्राचीन संस्कृति की प्रगति कुण्ठित हुई व उसे आधुनिक यूरोपीय संस्कृति के सामने हार खानी पड़ी ?

आधुनिक यूरोपीय संस्कृति की उत्पत्ति वर्ग-कलह के रूप में हुई व आज उसका विनाश भी सम्भवतः वर्ग-कलह में ही होता दीखता है। इससे कुछ लोगों की यह मानने की प्रवृत्ति है कि वर्ग-कलह का सिद्धान्त हमें बिल्कुल मंजूर नहीं। हमें ऐसा लगता है कि यह प्रवृत्ति कदाचित् हमारी प्रगति में रुकावट डाले। हमारा यह स्पष्ट मत है कि पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के बाद अब हमें वर्ग-विग्रह का तत्व मंजूर करना पड़ेगा व सत्याग्रह से उसका समन्वय करना पड़ेगा। आधुनिक यूरोप ने जो वर्ग-विग्रह किया या उसका अवलम्बन लिया उसमें उसने कोई गलती नहीं की। मगर उसने जो भूल की वह तो यह कि वर्ग-विग्रह करते हुए उसने हिंसात्मक साधनों का अतिरेक कर दिया, राष्ट्रीय बन्धुत्व से उसका बिल्कुल समन्वय नहीं किया व इस वर्ग-विग्रह के सिलसिले में प्रजासत्तात्मक संस्थाओं की बिल्कुल जरूरत न होगी—यह मानकर प्रजासत्तात्मक पर ही तलवार खींच ली। सत्याग्रह यदि वर्ग-विग्रह की नीति बना ले तब भी राष्ट्रीय बंधुत्व को आंच आने की जरूरत नहीं है; क्योंकि सत्याग्रह-संग्राम में प्रतिपक्ष के व्यक्तियों के द्वेष की गुजाइश नहीं होती। वह तो खास तौर की अन्यायी समाज-रचना या खास संस्थाओं के विरुद्ध हो सकता है, उसके किसी व्यक्ति के खिलाफ नहीं। पूंजीवादी संस्था या वर्ग को मिटाने का अर्थ पूंजीवादियों को मिटाना नहीं है। समाजवादी तत्वज्ञान की भी तत्वतः यही भूमिका है। कार्ल मार्क्स ने अपने 'कैपिटल' नामक ग्रन्थ की प्रस्तावना में यह बात स्पष्ट रूप से कही है कि हमारा झगड़ा पूंजीवादियों से नहीं, पूंजीवादी-संस्था से है। यदि सत्याग्रही तत्वज्ञान ने समाज-सत्तात्मक व्यवस्था स्थापित करने का निश्चय किया तो वह इस विचार-सरणी का और भी ज़ोर से समर्थन करेगा व क्रांतिकाल में भी अहिंसात्मक वातावरण कायम रक्खेगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसी तरह सत्याग्रही तत्वज्ञान लोक-सत्ता व सत्याग्रही प्रत्यक्ष प्रतिकार का समन्वय करके निःशस्त्र क्रांति को

सफल करके दिखा देगा। इस तरह सत्याग्रही तत्वज्ञान के यह बिल्कुल काबू की बात है कि वह वर्ग-विग्रह व समाज-सत्तात्मक क्रान्ति को मानकर भी उसका राष्ट्रीयता व लोकसत्ता से समन्वय कर दे। अलबत्ता वर्ग-विग्रह व समाज-सत्तात्मक क्रान्ति का अवलंबन लिए बिना यह भावी भारतीय संस्कृति की इमारत खड़ी न कर सकेगा। यह मत हमें नहीं जंचता कि वर्ग-विग्रह का तत्व प्राचीन भारतीय संस्कृति से बिल्कुल असंगत है। हां, यह सच है कि आधुनिक यूरोप के व्यापारी पूंजीवादी वर्ग ने सामंतवर्ग के खिलाफ जिस तरह का वर्ग-विग्रह किया, अथवा वहां मजदूर आज पूंजीवाद के खिलाफ जिस तरह वर्ग-कलह कर रहे हैं, वैसा भारत के वैश्यों ने नहीं किया व अबतक यहां के मजदूर भी पूंजीवाद के खिलाफ वैसा नहीं कर रहे हैं। तथापि उसके साथ ही यह भी सच है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति आधुनिक यूरोपीय संस्कृति के मुकाबले में पिछड़ गई, उसकी प्रगति रुक गई व अन्त में उसे आधुनिक यूरोपीय संस्कृति के सामने हार खानी पड़ी। आधुनिक यूरोपीय व्यापारी मध्यम वर्ग ने धर्माधिकारी व सामन्त-वर्ग के खिलाफ किसान-वर्ग की सहायता से सफल बगावत की, निदान यूरोपीय मध्यम-वर्ग को श्रद्धा-युग से बुद्धि-युग में लाकर छोड़ दिया, राजसत्ता पर नागरिक स्वतन्त्रता का बन्धन लगाकर उसे लोक-नियंत्रित बना दिया, सामन्त-वर्ग को नष्ट करके सामाजिक समता व लोकसत्ता के आदर्श का समर्थन किया व मानव-संस्कृति में समाज सत्तात्मक युग की भविष्यवाणी की। लेकिन यह सब करते हुए उसने अध्यात्म-विद्या की पूरी उपेक्षा की, समस्त विद्याओं व कलाओं को धनोत्पादन की चेरी बना दिया, आत्मबल को भुला दिया व महज शस्त्र-बल पर सारा दारोमदार रक्खा। आधुनिक यूरोप की ये भूलें बहुत बड़ी हैं। यह सब सच है, किन्तु आधुनिक यूरोप की सारी संस्कृति पर तुच्छता का परदा डालकर हम भावी संस्कृति का निर्माण न कर सकेंगे। अगर हमने समाज के कनिष्ट-वर्ग को वरिष्ठ-वर्ग के विरुद्ध खड़ा करके अपने हक-हकूक प्राप्त करने की कला न सिखाई तो इससे यह नहीं कहा जा सकता कि हमारी प्राचीन संस्कृति में वर्ग-कलह नहीं था। प्राचीन भारत में ब्राह्मण व क्षत्रियों का वर्ग-कलह हुआ था। ब्राह्मण-क्षत्रियों ने कलह किया है व द्विजों ने शूद्र-अतिशूद्रों को दासता में रखने के

अनेक प्रयत्न किये हैं।

ये सब बनाव-बिगाड वर्ग-कलह के बगैर नहीं हुए हैं। हां, यूरोप की तरह यहां उसके द्वारा एक राष्ट्रीयता, लोक-सत्ता, नागरिक स्वतन्त्रता की स्थापना नहीं हुई। समाज में कोई शूद्र न रहे, ऐसा आदर्श नहीं पुकारा गया। किन्तु इसे हम अपनी संस्कृति का बड़प्पन या गौरव नहीं कह सकते। यूरोपीय वैश्यों ने वर्ग-कलह में हिंसा-नीति स्वीकार की, यह उनकी गलती हो सकती है; परन्तु हमारे वैश्यों ने यह गलती नहीं की, इसके लिए उनकी स्तुति नहीं की जा सकती; क्योकि उन्होने यूरोपीय वैश्यों की तरह पराक्रम व पुरुषार्थ भी तो नहीं दिखाया और न राष्ट्रीयता व लोकसत्ता की प्रस्थापना ही की। ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक हमारे सब वर्ग राष्ट्रीयता व प्रजासत्ता से अछूते रहे व ईस्ट इंडिया कम्पनी की सहायता करके अपना सारा देश परतन्त्रता में डाल दिया। वरिष्ठ वर्ग के दमनकारी प्रभाव से वैश्य व शूद्र-अतिशूद्र ये वर्ग पुरुषार्थहीन बन गये व उन्होने अपने बल-बूते पर वर्ग-कलह नहीं किया, यह सही है; परन्तु उन्होने विदेशी विजेताओं की सहायता करके दूसरी तरह से वरिष्ठ वर्ग के उस एकतरफा वर्ग-कलह का बदला ही तो चुकाया। इसकी अपेक्षा यूरोपीय वैश्यों का वर्ग-कलह या वहां के वर्तमान मजदूरों का वर्ग-कलह ही नहीं कहा जा सकता। हमारे वैश्य व शूद्र-अतिशूद्रों ने तो अन्याय सहन करने का मानो व्रत ही ले रक्खा था। इन्होंने तो विदेशियों से मिलकर अपने देश को पराधीन भी बना दिया। इससे तो आधुनिक यूरोप ने वर्ग-कलह में हिंसा का अवलम्बन लेकर भी जो बड़ों के अन्याय से झगड़ने का सिद्धान्त कायम रक्खा व इस झगड़े के दर्मियान अनेक श्रेष्ठ सामाजिक व राजनैतिक आदर्श खड़े कर डाले, उसके लिए मानव-संस्कृति के इतिहास-लेखकों को आधुनिक यूरोप के गुण गाने पड़ते हैं। अब आधुनिक भारत का तबतक उद्धार नहीं हो सकता जबतक की वह बड़ों के अन्याय के खिलाफ बगावत करने का तत्व अंगीकार न कर ले। लेकिन हां, उसे आधुनिक यूरोप के दोष दिखाने का अधिकार तभी मिलेगा जब हम इस बगावत को शान्ति या अहिंसा द्वारा सफल बनाने का महाकार्य कर दिखावें।

आर्यों के भरतखण्ड में बस जाने पर उन्होंने वर्णाश्रम-धर्म के रूप में

अपनी संस्कृति बनाई। इनमें शूद्र व अतिशूद्र दास-कर्म करनेवाले वर्ण भी थे। वास्तव में देखा जाय तो वर्णाश्रम-धर्म-संस्कृति ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य इन तीन वर्णों की ही संस्कृति थी, शूद्र व अतिशूद्र तो उनके दास ही थे। उस समय के सभी समाजों में दास-प्रथा थी। यूरोपीय समाज में भी मध्य-युग के अन्त तक हमारे चातुर्वर्ण्य की तरह चार वर्ग थे। उस काल में सामाजिक समता का अर्थ इन चार वर्गों को तोड़ना नहीं था, बल्कि किसी भी वर्ग से जन्मे हुए व्यक्ति का गुण-कर्मानुसार दूसरे वर्ग में प्रवेश पाना था। सबसे निचले शूद्र को भी सबसे ऊंचे ब्राह्मण-वर्ग तक पहुंचने की छुट्टी रहे, इतना ही सामाजिक सुधार का अर्थ था। जब समाज में धनोत्पादन की मात्रा बहुत कम होती है, तब बहुजन-समाज संस्कृति व सम्पत्ति से दूर ही रहता है। ऐसे समय सभीको सुसंस्कृत व सुसम्पन्न करने का आदर्श बहुत करके किसीको सूझता ही नहीं है व सूझा भी तो वह व्यवहार में काम नहीं दे सकता। हमारे यहां भी जैन व बौद्ध-काल से, बल्कि उससे भी पहले यह प्रयत्न होते आ रहे हैं कि शूद्रों की दासता कम की जाय व उनकी भौतिक उन्नति तथा ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग खुले किये जायं। बहुतों का अनुमान है कि चार्वाक का लोकायत-मत इसी तरह का था। किसी भी वर्ण में जन्मे व्यक्ति को ब्राह्मणत्व का दर्जा मिलने की कल्पना वशिष्ठ-विश्वामित्र के समय से चली है व इसके प्रचार में से एक विचार-कलह व उसमें से एक प्रकार का वर्ग-कलह भी उत्पन्न हुआ था। श्रीकृष्ण के भागवत्-धर्म में—'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्' यह मत मान्य हुआ है व स्त्रियों तथा शूद्रों को समाज में सर्वश्रेष्ठ दर्जा प्राप्त करने की छुट्टी दी गई है। बौद्धकाल में तो एक तरह से सर्वांगीण समाज-क्रान्ति ही हुई थी व ऐसा लगता है कि उस समय विचार-कलह व वर्ग-कलह प्रचलित रहा होगा। हां, यह सच है कि बाद के काल में शूद्रों को वैदिक संस्कृति का अधिकार नहीं दिया गया; किन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि खुद वह वैदिक संस्कृति ही पीछे रह गई व बौद्ध तथा भागवत्-संस्कृति आगे आ गई। बौद्ध-संस्कृति ने तो वैदिक परम्परा के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला बगावत मचाई थी। भागवत् संस्कृति ने खुली बगावत का मार्ग नहीं ग्रहण किया तो भी गीता को वेद से अधिक श्रेष्ठ स्थान देकर वैदिक-संस्कृति को गौणता

दी। भागवद्धर्मी सन्त खुल्लमखुल्ला कहने लगे कि वेद व उपनिषद् के अन्तर्गत आत्मोद्धार-सम्बन्धी सारा तत्वज्ञान जब भगवद्गीता में है व भक्ति-मार्ग के इतर प्राकृत-ग्रन्थों में भी वह भरपूर है तो फिर वैदिक-ज्ञान की क्या जरूरत या महत्ता हमारे लिए रही ? हालांकि आज भी वैदिक कहलानेवाले ब्राह्मण ऐसा दुराग्रह रखते हैं कि शूद्र चाहे कितना ही बड़ा हो उसे हम ब्राह्मण नहीं कहेंगे, अथवा उसका राज्याभिषेक नहीं करेंगे; किन्तु इसके विपरीत व्यास-वाल्मीकि ऋषि-कोटि में चले गये व शूद्र-अतिशूद्र जाति के साधु-सन्त हजारों ब्राह्मणों के आध्यात्मिक गुरु बन गये। शूद्रों का वैदिक पद्धति ने भले ही राज्याभिषेक न किया हो, परन्तु उन्होंने राज-सत्ता व साम्राज्य-सत्ता का उपभोग किया एवं उनकी सेवा करके ब्राह्मणों ने उनकी स्तुतियां कीं व गुण गाये ! जो शूद्र महज परिचर्यात्मक कर्म करने के योग्य माना गया था वह कृषि-गौरक्ष-वाणिज्य तो करने लगा ही; परन्तु मन्त्री, राजा, नहीं नहीं, साधु-सन्त, ऋषि व आध्यात्मिक गुरु भी बन गया। भारतीय संस्कृति में यह एक प्रचण्ड क्रान्ति हुई थी। इतिहासाचार्य स्वर्गीय राजवाड़े उसका वर्णन इस तरह करते हैं—

"उत्तर कुरु में जो अर्धजंगली शूद्र महज दास-कर्म करके समाज-सोपान की बिल्कुल निचली सीढ़ी पर ठुकराया जाता था, वह अब नन्दों व मौर्यों के शूद्र व वृषल शासन-काल में अध्यात्म, नीति, प्रव्रज्या, एक-वर्णता, सर्व-समता व साम्राज्य का विजयी संचालक हो गया। बुद्ध व जिन, विशेषतः गौतम बुद्ध द्वारा की गई यह क्रान्ति मामूली धर्म-क्रान्ति या राज-क्रान्ति अथवा मत-क्रान्ति नहीं थी, वह सर्वव्यापी भयंकर समाज-क्रान्ति थी। इस प्रचण्ड क्रान्ति ने वैदिक समाज की नींव उखाड़ दी, व चातुर्वर्णिक समाज उथल-पुथल हो गया।"

यह प्रचण्ड समाज-क्रांति बिना वर्ग-विग्रह के नहीं हुई। इसके बाद यद्यपि बुद्धधर्म हिन्दुस्तान में नहीं रहा तो भी उसका यह कार्य सदा के लिए कायम रहा। बुद्ध ने वैदिक देवताकाण्ड, यज्ञ-यागादिक कर्मकाण्ड और सामाजिक विषमता के खिलाफ विद्रोह किया। फिर बुद्ध-धर्म से जाकर मूर्तिपूजा उदय हुई और कुछ समय तक पौराणिक देवताकाण्ड, व्रतोद्यापन व पूजा-विधान एवं कुमारिल भट्टादि के कर्म-मीमांसा का दौर-

दौरा रहा। लेकिन शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त के ज्ञानकांड को आगे करके देवता-कांड व कर्मठता को गौणत्व दिया और भागवत्-धर्मी संतों ने अद्वैत वेदान्त के शुद्ध तत्वज्ञान को भक्ति-मार्ग में लाकर आम जनता को निष्काम-भक्ति से आत्मोद्धार व मोक्ष का मार्ग दिखा दिया। इन सब बातों के होते हुए कर्मठ मीमांसक ज्ञानमार्गी तथा भक्तिमार्गियों के पीछे पड़ गये। प्रत्येक साधु-संत के समय उनकी समता-प्रस्थापना के कार्य का विरोध किया व एक प्रकार का वर्ग-कलह भी पैदा किया; परन्तु साधु-संतों ने सत्याग्रही वृत्ति धारण करके अपना धर्म-सुधार जारी रक्खा। जो गौतम बुद्ध नास्तिक व वेद-निन्दक माना जाता था, उसे हिन्दु जनता ने ईश्वर-अवतार बना दिया। इस प्रकार संस्कृति-सुधार का यह कार्य हुआ तो, पर मध्ययुगीन भारत आधुनिक युग में न आ सका। ब्रिटिश शासन-काल में महात्मा गांधी के नेतृत्व में भागवत्-धर्मी साधु-संतों की सत्याग्रही वृत्ति में से एक निःशस्त्र क्रांतिशास्त्र निर्माण हुआ। यदि स्वतंत्र भारत में यह पैदा हुआ होता तो सहज ही उसे सर्वांगीण क्रांति का रूप मिल गया होता। वह अभी तक नहीं मिला है। हमारा खयाल है कि वह जल्द ही वह मिलेगा व उसके आश्रय से वर्ग-विग्रहात्मक सर्वांगीण समाज-क्रांति हुई भी तो यह भारतीय राष्ट्रीयता व प्रजासत्ता को आंच न आने देते हुए होगी। इस तरह आधुनिक यूरोप में निर्मित संस्कृति को आत्मसात् करके, जो क्रांति उसके द्वारा न हो सकी उसे अहिंसा के द्वारा करके जब दिखा देगा तभी सत्याग्रही तत्वज्ञान की सच्ची महत्ता दुनिया को मालूम होगी व आधुनिक भारत का निर्माण करनेवाली संस्कृति आधुनिक यूरोपीय संस्कृति से श्रेष्ठ साबित होगी।

आधुनिक भारत में महात्मा गांधी श्रीकृष्ण अथवा गौतम बुद्ध की तरह ही एक अत्यन्त महान् विभूति हुए। उनके सत्याग्रही तत्वज्ञान में भागवत और बौद्ध दोनों धर्मों के तत्व का समन्वय हुआ है और उसे उन्होंने सामाजिक और राजनैतिक क्रांति का रूप दे दिया है। श्रीकृष्ण या बुद्ध के समय जिस तरह की सर्वांगीण क्रांति भरतखण्ड मे हुई, उससे भी अधिक सर्वांगीण क्रांति का समय आज आ गया है। आज हमारे सामने सिर्फ इतना ही प्रश्न नहीं है कि शूद्र अथवा अतिशूद्र में से योग्य व्यक्ति को गुण-

कर्मानुसार द्विजत्व प्राप्त हो अथवा, वह वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण बन सके। बल्कि **आज तो समाज के वर्ग-भेद को ही नष्ट करके एक-वर्ग समाज स्थापित करने की आवश्यकता मालूम होने लगी है।** आधुनिक यूरोप में व्यापारी-वर्ग के नेतृत्व में जो संस्कृति निर्माण हुई, उसीके द्वारा लोकसत्ता व सामाजिक समता का आदर्श सामने आने से ही एक वर्ग समाज की कल्पना संसार के सामने प्रस्तुत है। फ्रेंच राज्य-क्रांति के समय समता, स्वतन्त्रता व बन्धुता के सिद्धान्त पर मानव-संस्कृति की रचना करने का प्रयोग पहले-पहल हुआ। उस समय यह समझा गया था कि प्रजासत्ता व नागरिक स्वतन्त्रता की स्थापना हुई नहीं कि सब लोग एक ही वर्ग में आ जायंगे। सामन्तशाही खतम होगी, जमींदार-वर्ग नष्ट होगा, और सबको सामाजिक समता व नागरिक स्वतन्त्रता के अधिकार मिलने पर शूद्र अथवा दास या भूदास-वर्ग नहीं रहेंगे। इस तरह क्षत्रिय व शूद्र-वर्ग न रहा तो समाज में सिर्फ किसान, मजदूर व व्यापारी इनका एक वैश्य वर्ग रह जायगा। प्रत्येक को जहां धार्मिक और बौद्धिक स्वतन्त्रता मिली कि नैतिक, आध्यात्मिक या धार्मिक उन्नति के लिए स्वतन्त्र रूप से धर्माधिकारी-वर्ग की भी आवश्य-कता नहीं रहेगी। प्रत्येक किसान को अपनी जमीन व व्यापारी तथा कारीगर को मजदूरी या मुनाफा उनके कष्ट, साहस और संयम के अनुपात में मिलने लगे तो समाज के किसी भी व्यक्ति को चाहे जो स्थान मिल सकता है। फलतः किसी व्यवसाय के लोगों को कुछ समय तक उचित से अधिक मुनाफा मिला तो उस व्यवसाय में दूसरे लोग शरीक हो जाते हैं और अनुचित मुनाफे का अनुपात कम हो जाता है। इसके विपरीत जब किसी व्यवसाय में काम करनेवाले को उसके काम का उचित मुआवजा नहीं मिलना तो उस व्यवसाय के लोग दूसरे धन्धे अपना लेते हैं और शेष लोगों को उचित मुनाफा मिलने लगता है। इस तरह व्यवसाय-स्वातन्त्र्य और ठहराव-स्वातन्त्र्य की नींव पर सब अपने-अपने श्रम के अनुपात से सम्पत्ति प्राप्त कर सकेंगे व अपने-आप एक-वर्ग समाज कायम हो जायगा, ऐसी अपेक्षा उस समय थी। इसका कारण यह था कि औद्योगिक क्रान्ति से जो प्रचण्ड मिल-उद्योग शुरू हुए उनका वास्तविक रूप और परिणाम उस समय ध्यान में नहीं आया। ज्यों-ज्यों औद्योगिक क्रान्ति का स्वरूप

विशद होने लगा और समाज के बहुसंख्यक लोगों पर उसके परिणाम दिखाई देने लगे, त्यों-त्यों अनुभव हुआ कि नागरिक-स्वातन्त्र्य, व्यवसाय-स्वातंत्र्य व ठहराव या इकरार-स्वातन्त्र्य की बुनियाद पर प्रजासत्ता के द्वारा एक-वर्ग समाज-रचना नहीं हो सकती। बड़े उद्योगों के कारण घरेलू धन्धे डूब गये और किसानों को मिली जमीन बेचने की स्वतन्त्रता से साहूकार, दुकानदार व पूंजीवालों के दमनकारी प्रभाव में फिर बड़ी जमींदारियां बनने लगीं। यान्त्रिक सहायता से प्रचण्ड उद्योग-धन्धों की तरह विस्तृत खेती करना भी सुलभ है, यह पता लगते ही छोटी-छोटी खेती नष्ट होकर औद्योगिक पद्धति की खेती का प्रचण्ड कृषि-व्यवसाय शुरू हुआ। इन सब प्रवृत्तियों का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि प्रत्येक देश के कारखाने, जमीन व खानें एक अल्प-संख्यक धनिक-वर्ग के कब्जे में चली जायंगी और प्रत्येक राष्ट्र की बहु-संख्यक जनता इस अल्प-संख्यक मालिक-वर्ग की गुलामी में जा पड़ेगी— यह देखकर समाजवादी तत्वज्ञों ने यह ठहराया कि कारखाने, जमीन और खानों पर जबतक सार्वजनिक स्वामित्व स्थापित न होगा तबतक एकवर्ग समाज, स्वतन्त्रता, समता व बंधुत्व के आदर्श अमल में नहीं आ सकते। समाज-सत्ता का यह तत्व औद्योगिक क्षेत्र में लागू किया हुआ प्रजासत्ता का ही सिद्धान्त है। कार्ल मार्क्स ने यह प्रतिपादन किया कि इस प्रजासत्ता की स्थापना मालिक-वर्ग की उदारता से नहीं बल्कि मजदूरों के विद्रोह से होगी। इस तरह उन्होंने शास्त्रीय समाजवाद का निरूपण करके पूंजीवाद के अन्तर्विरोध और वर्ग-कलह के आधार पर भावी समाजसत्तात्मक क्रान्ति का शास्त्रीय भविष्य-कथन किया। यह भविष्य-वाणी रूस में मोटे तौर पर सही निकली। और तबसे समाज-सत्ता का एक-वर्ग समाज का आदर्श सब संसार में फैला। हिन्दुस्तान को प्रजा-सत्ता और राष्ट्रीय-स्वातन्त्र्य के साथ ही समाज-सत्ता का आदर्श स्वीकार करना पड़ेगा व जमीन तथा कारखानों का व्यक्तिगत स्वामित्व मिटाकर सार्वजनिक स्वामित्व स्थापित करने का क्रान्ति-कार्य निःशस्त्र साधन से सफल करके दिखाना है। यह क्रान्ति-कार्य संगठित असहयोग व सत्याग्रह के तत्वानुसार करना किसान और मजदूरों के लिए किस तरह सम्भव है, यह टॉल्स्टाय के इसी प्रकरण में दिये अवतरण से मालूम हो जाता है।

आधुनिक जगत् की भौतिक विद्या, उसकी बदौलत प्राप्त धनोत्पादन के भौतिक साधन, यन्त्रकला व बिजली-जैसी नैसर्गिक शक्ति का उपयोग सुलभ होने के कारण आज समाज में शूद्र-अतिशूद्र-जैसे दास-वर्ग या दास-सदृश वर्ग रखने की आवश्यकता किसी भी समाज में नहीं रही है। उसी तरह सामन्तशाही व पूंजीवाद की भी जरूर आज समाज में नहीं रह गई है। जिस समय राज्यशास्त्र व युद्धकला बाल्यावस्था में थी तब सामन्त-शाही समाज-रक्षा का काम अच्छी तरह कर रही थी व किसी राजा या समाज के जुल्म-ज्यादती करने पर बाहुबल से उसका मुकाबला करना सामन्त के लिए कठिन न था। बाद में जब बड़े-बड़े राज्य कायम हुए तब सामन्तशाही तोड़नी पड़ी व तमाम फौज व फौजी अफसरों को नकद तन-ख्वाह मिलने लगी। जो जितना प्रदेश जीत ले व बाहुबल पर राजा बन बैठे, यह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य नष्ट हुआ। इससे सामान्य जनता की स्वतंत्रता बढ़ गई। अब आज कारखानेदार-जमींदार-वर्ग को हटाकर आम जनता की स्वतन्त्रता बढ़ाने व उनकी दासता मिटाने का समय आ गया है। जिस समय हरेक अपने कष्ट के अनुपात से ही धनार्जन कर सकता व बिना कष्ट के अधिक धन-संचय नहीं कर सकता था उस प्राथमिक औद्योगिक अवस्था में यह सिद्धान्त कि जो जितना चाहे पैसा पैदा करे व उससे लाभ उठावे, समाज की अभिवृद्धि का पोषक था। किन्तु आज के प्रचण्ड धनोत्पादन के समय में ऐसी स्वतन्त्रता किसीको नहीं दी जा सकती। आज समाज की सम्पत्ति व उसे प्राप्त करने के लिए किये जानेवाले कष्ट का अनुपात विषम या व्यस्त हो गया है। सम्पत्तिवालों को हजारों लोगों के जीवन पर सत्ता प्राप्त होने लगी है। इस सत्ता व सम्पत्ति को आप बतौर ट्रस्टी के रक्खें—यह कहकर इस प्रश्न को हल नहीं किया जा सकता। जब समाज के धनोपार्जन के साधन न्यायोचित होते हैं—अर्थात् धनार्जन से कष्ट का अनुपात सम रहता है—तब इस उपदेश से काम चल सकता है कि न्याय-प्राप्त सम्पत्ति को समाज की थाती समझकर इस्तेमाल करो, बहुत जिम्मेदारी के साथ उससे लाभ उठाओ, ऐसा करते हुए आत्मकल्याण व लोककल्याण का भी ध्यान रक्खो व बिना जरूरत के उसका उपयोग न करते हुए शेष सम्पत्ति दान कर दो, परन्तु समाज में धनार्जन के कौन-से साधन बाकायदा हों,

इसके निर्णय का जो काम कानून का है वह नैतिक उपदेश से नही हो सकता। धनोत्पादन की पद्धति के बदलने मे धनोत्पादन के मार्ग का रूप भी बदलता है और इस बदली हुई आर्थिक परिस्थिति में धनार्जन के कौन-से मार्ग खुले रहें व कौन-से बन्द, इसका फैसला कानून के द्वारा करना पड़ता है। पहले की पद्धति में जो मार्ग समाज के लिए हानिकारक नहीं थे अथवा जिनमें समाज की ज्यादा हानि होने की सम्भावना नही थी वे ही मार्ग नवीन पद्धति-वाले समाज में अत्यन्त हानिकारक साबित होते हैं। फिर भी जिनके लिए वे मार्ग लाभदायक होते हैं, उन्हें उन मार्गों से मिली सम्पत्ति कष्टार्जित ही मालूम होती है और वे इस बात को कुबूल नहीं करते कि यह सम्पत्ति अन्यायपूर्वक अर्जित है। इन रास्तों को बन्द करने में ऐसे वर्गों की ओर से विरोध होता है और सो भी परम्परा व हकमिल्कियत के नाम पर। धनार्जन की मार्ग-परम्परा व उससे उत्पन्न हकमिल्कियत परिस्थिति-सापेक्ष होते हैं व जबतक व्यक्तियों के स्वामित्वाधिकार—हकमिल्कियत की कानूनन मर्यादा न बांधी जाय व जो अधार समाज को हानि पहुंचाते हैं वे न छीन लिये जायं तबतक समाज की प्रगति नहीं हो सकती। ऐसे वर्ग इस सिद्धान्त को मंजूर नहीं करते। ऐसे वर्गों के विरोध के बदौलत ही समाज में क्रांति की नौबत आती है। औद्योगिक क्रान्ति के कारण आज समाज-सत्तात्मक क्रान्ति की जरूरत पैदा हो गई है व इस क्रान्ति का कार्य इस सिद्धान्त से नहीं हो सकता कि व्यक्ति सम्पत्ति व सत्ता का उपभोग समाज के ट्रस्टी—वाली—के तौर पर करे। समाज में सत्ता व सम्पत्ति का बंट-वारा कैसे किया जाय, समाज के व्यक्तियों को सत्ता व सम्पत्ति का लाभ किस तरह मिले व सत्ता तथा सम्पत्ति के बंटवारे में समाज की नैतिक उन्नति व भौतिक साधनों का हिसाब लगाकर किस अनुपात से कानून-द्वारा समता अमल में लाई जाय व किस हिसाब से विषमता कायम रक्खी जाय, इसका निश्चय एक बार हो जाय और तत्कालीन भौतिक व नैतिक उन्नति के अनुरूप समाज-रचना का बाकायदा सिलसिला जम जाय तो फिर उस समाज-रचना के अनुसार सत्ता व सम्पत्ति का जो भाग किसी व्यक्ति को मिलेगा उसका उपभोग वह कैसे करे, यह बताने के लिए इस सिद्धान्त का जन्म हुआ है। इस सिद्धान्त से लोक-सत्तात्मक क्रान्ति का कार्य

नहीं हो सकता; हां, समाज-सत्तात्मक क्रान्ति के बाद भी कुछ व्यक्तियों को अधिक सत्ता देनी पड़ेगी व कुछको औरों से ज्यादा सम्पत्ति भी रखने देना पड़ेगी। उस सत्ता व सम्पत्ति के उपभोग के सम्बन्ध में कानून के कुछ बन्धनों के रहते हुए भी उनसे यह काम पूरी तरह से नहीं हो सकता। उनके लिए इस नैतिक तत्व के उपदेश की जरूरत रहेगी। परन्तु इस काम के लिए भी ऐसे सत्याग्रहियों की जरूरत रहेगी, जो इस उपदेश को प्रत्यक्ष अपने आचरण में लाकर दिखाते हों; कानूनन जो सत्ता व सम्पत्ति उन्हें मिल सकती है, उसकी परवाह न कर अपनी कम-से-कम जरूरतों के लिए आवश्यक सम्पत्ति कष्ट से प्राप्त करके अधिक सम्पत्ति व सत्ता की अभिलाषा न रखते हों, यदि अधिकारी लोगों पर ज्यादती करते हों तो जनता को यह दिखा दें कि उसका प्रतिकार कैसे किया जाय व यह अन्याय-अत्याचार जब असह्य हो उठें तब समाज-सत्तात्मक प्रजातन्त्र के खिलाफ भी अहिंसात्मक असहयोग का प्रयोग करके प्रस्थापित राजतन्त्र को बन्द कर दे। समाज-सत्तात्मक प्रजातन्त्र की स्थापना हो जाने पर भी अधिकारी व प्रजा तथा शासक व शासित यह भेद रहने ही वाले हैं और जबतक यह भेद कायम हैं तबतक वास्तविक एक-वर्गीय समाज-रचना नहीं हो सकती। समाज-सत्तात्मक प्रजातन्त्र मानव-समाज की पूर्णावस्था नहीं है। इस समाज-सत्तात्मक प्रजातन्त्र में भी ऐसे दूरदर्शी व निःस्वार्थ लोकसेवक चाहिए, जो उन अन्यायों को भी महसूस कर लें जो अधिकारी वर्ग या बहुमत को प्रतीत न हों या लाजिमी मालूम हों, व जो यह दिखा दें कि वे टाले जा सकते हैं। ऐसा सत्याग्रही-वर्ग, जिसने सत्य-संशोधन व सत्य-संस्थापन को ही अपना नित्य व्यवसाय बना लिया है व जिसके लिए अपनी शारीरिक, बौद्धिक व आत्मिक शक्ति का उपयोग करने में ही जिन्हें सच्चा आनन्द व जीवन की कृतार्थता मालूम हो, समाज-सत्तात्मक प्रजातन्त्र के भावी विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

महात्मा गांधी ने सत्याग्रह के रूप में जिस आत्मबल को संगठित व संवर्धित करने का प्रयत्न किया उसकी परम्परा भारतवर्ष में बहुत बड़ी है। अत्यन्त प्राचीन काल में आश्रमवासी ऋषियों के ब्रह्मतेज के रूप में वह भरतखण्ड में जन्मा। फिर ब्राह्मण-वर्ग ने यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड व देवता-काण्ड का प्रभाव बढ़ाकर स्वर्ग-प्राप्ति के सकाम धर्म को प्रधानता दी। तब

गौतम बुद्ध ने इस आत्मबल का संरक्षण व संवर्धन करके देवता-काण्ड व सामाजिक विषमता के विरुद्ध क्रान्ति करने के लिए बुद्ध-धर्म का व भिक्षु-संघ का संगठन किया। बाद को यह भिक्षु-संघ भी अवनत होकर परिग्रही बन गया व राजा लोगों की दासता में चला गया। तब कुमारिल भट्टादि ने वैदिक धर्म का जो पुनरुज्जीवन किया, उसमें फिर कर्मकाण्ड व देवताकाण्ड की महिमा बढ़ी। इसके पश्चात् शंकराचार्य ने पीठों व मठों की स्थापना करके अद्वैत वेदान्त के आधार पर शिक्षित लोगों में शुद्ध तत्वज्ञान का प्रसार किया और भागवत्-धर्मी सन्तों ने इसी अद्वैत के आधार पर निष्काम भक्ति के मार्ग का उपदेश करके आम लोगों में आत्मबल जाग्रत किया। आज महात्मा गांधी ने इसी परम्परागत प्राचीन आत्मबल का संगठन करके उसे राजनैतिक व सामाजिक क्रान्तिकारी रूप दिया है। सत्याग्रही वर्ग अब किसी खास मत पर अधिष्ठित कोई धर्म-सम्प्रदाय नहीं रह गया है। महज व्यक्तिगत अध्यात्मिक मोक्ष सत्याग्रह का ध्येय नहीं है। लोगों की सर्वांगीण उन्नति के लिए उन्हें सर्वांगीण क्रांति का मार्ग दिखानेवाला वह एक अखण्ड क्रान्तिशास्त्र है। लोक-सत्ता व समाज-सत्ता के रूप में उदित एकवर्ग समाज के आदर्शों को आत्मसात् करके मानव-समाज को पूर्णावस्था प्राप्त होने तक उसका नेतृत्व करने का सामर्थ्य इस सत्याग्रही तत्वज्ञान में है। भौतिक विद्या व यन्त्रकला से उसका विरोध नहीं। बाह्य सृष्टि से कैसा व्यवहार किया जाय व उसकी नियति को अपने अनुकूल व उन्नतिकारी कैसे बनाया जाय, यह ज्ञान मनुष्य को भौतिक-विद्या से ही प्राप्त हो सकता है। अन्नमय प्राण व प्राणमय पराक्रम इस भौतिक सत्य की तरफ से प्राचीन भारत ने आंखें नहीं मूंद ली थीं। भूखे आदमी को ब्रह्म अन्न के ही रूप में प्रतीत होता है और वेदान्ती मनुष्य को भी दोपहर को बारह बजे 'अन्न पूर्णब्रह्म है' यह कहकर भोजन करना पड़ता है। इसको भुलाकर कोई भी समाज-रचना नहीं टिक सकती व टिकाने का प्रयत्न भी किया तो वह सफल नहीं हो सकती। पूंजीवादी धनोत्पादक पद्धति से बहुसंख्यक लोगों की दाल-रोटी का सवाल अच्छी तरह नहीं हल होता व धनी-गरीब का सापेक्ष अन्तर बढ़कर समाज-व राष्ट्र के दो विरोधी गुट्ट बन जाते हैं। जीवन व धन की क्षणभर भी स्थिरता न होने के कारण बहुसंख्यक सामान्य जनता की नीति-

मत्ता भ्रष्ट होने लगती है—'बुभुक्षितः किन्न करोति पापम् क्षीण नरा निष्करुण भवन्ति' के अनुसार सामाजिक नीतिमत्ता की बुनियाद अन्न-प्राप्ति के भौतिक आधार पर पड़ी हुई है। सत्याग्रही तत्वज्ञान इसकी उपेक्षा नहीं करता। किन्तु हां, यह तत्व उसे मान्य नहीं है कि मनुष्य-समाज की आवश्यक भौतिक जरूरतें पूरी होने के पश्चात् भौतिक सम्पत्ति की बढ़ती के अनुपात से उसकी नैतिक उन्नति होती है अथवा उसकी संस्कृति अधिक उन्नत बनाती है।—'नात्यश्नतस्तु योगाऽस्तिन चैकान्तमनऽश्नतः' अर्थात्—अधिक खाने से भी योग प्राप्ति नहीं होती व बिल्कुल न खाने से भी नहीं होती—यह आध्यात्मिक उन्नति का सिद्धान्त है। पूंजीवादी समाज में परिमित भौतिक उपयोग करनेवाला एक छोटा मालिक-वर्ग व उसकी आर्थिक दासता में खपनेवाला दूसरा बुभुक्षित बहुसंख्यक सेवक वर्ग बनता रहता है–इससे ऐसे समाज में शान्ति व नीति की अपेक्षा ही नहीं की जा सकती। जिस समाज के बहुसंख्यक लोगों को जीवन व जीवन-साधनों की बिल्कुल स्थिरता नहीं, उसमें शान्ति व नीति का रहना अशक्य है। हिन्दुस्तान-जैसे खण्ड-तुल्य राष्ट्र में चालीस करोड़ लोगों की दाल-रोटी का सवाल पूंजीवाद व साम्राज्यवाद के द्वारा हल करना असम्भव है व इतनी बड़ी लोक-संख्या की जीवन-यात्रा सुखपूर्वक चलाने का सामर्थ्य महज हस्त-व्यवसाय व ग्रामोद्योगों में या छोटे पैमाने पर की गई खेती में है—ऐसा भी दिखाई नहीं देता है। फिर इतना बड़ा भारतीय समाज महज आश्रम-वासी ऋषियों की तरह भौतिक सुखों से विरक्त रहकर आत्मिक सुख पर ही सन्तुष्ट रहेगा, यह नहीं हो सकता। खण्ड-तुल्य भारत की इस समस्या-पूर्ति के लिए भौतिक विद्या और यन्त्रकला का पूरा-पूरा उपयोग करना चाहिए व यह काम धनोत्पादन व धन-विभाजन के कार्य को समाज-सत्ता के अधीन करके ही करना चाहिए। पर इस समाजसत्ता को स्थापित्त करते हुए व स्थापित होने के बाद भी सत्याग्रही वर्ग की आवश्यकता भरत-खण्ड को ही नहीं, सारी मानव-संस्कृति को रहेगी।

इसके बाद अब भारतीय संस्कृति व मानव-संस्कृति का भेद नहीं रह जायगा। भौतिक दृष्टि से आज सारा मानव-समाज एक कुटुम्ब में अथवा एक घर में समा-सा गया है। उसके लोगों की एकत्र रहे बिना गति नहीं है

उनके एकत्र रहने में ही मानव-कुल की उन्नति है। परन्तु एक घर में एकत्र रहनेवाले लोगों की तरह उन्हें बन्धु-भावना से रहना सीखना चाहिए। इससे आगे अब मानव-संस्कृति की उन्नति इस बन्धु-भावना के प्रचार व प्रस्थापना पर अवलम्बित है। मानव-हृदय की इस बन्धु-भावना को प्रेम कहते हैं व यह प्रेम-रूपी परमेश्वर प्रत्येक के अन्तकरण में रहता है, यह सिद्धान्त सत्याग्रही संस्कृति का आधार है। एक राष्ट्र के द्वारा दूसरे राष्ट्र पर अथवा एक वर्ग के द्वारा दूसरे वर्ग पर होनेवाले अन्याय का प्रतिकार करने के लिए ज़ोर-शोर की लड़ाई करते हुए भी इस बन्धु-भावना के अन्तिम सिद्धान्त पर सत्याग्रह की दृढ़ श्रद्धा है। मानवी अन्तःकरण की न्याय-भावना व प्रेम-भावना अथवा सत्य-अहिंसा से श्रेष्ठ परमेश्वर का कोई दूसरा स्वरूप नहीं। जिनका सत्य व प्रेम पर विश्वास है व सत्य-संशोधन तथा सत्य-संस्थापना के लिए आवश्यक त्याग व कष्ट-सहन की जिनकी तैयारी है वे अपनेको ईश्वरवादी कहें या निरीश्वरवादी, वे बुद्ध की तरह शून्यवादी हों अथवा शंकराचार्य की तरह क्षर-सृष्टि के मूल में एक अक्षर व अज्ञेय निर्गुण तत्व के माननेवाले हों, वे ईसा के अनुयायी हों या मुहम्मद के, वे सत्याग्रही बन सकते हैं। सत्याग्रही के लिए आत्मविद्या की जरूरत है; लेकिन इस आत्मविद्या में गूढ़ अथवा विवादास्पद जैसी कोई बात नहीं है। आत्मा रथी व बुद्धि सारथी है, इन्द्रियां घोड़े हैं, मन उनकी लगाम है इतना अध्यात्मशास्त्र उसके लिए काफी होता है। बुद्धिरूपी सारथी विषयोपभोग में डूब न जाय, उसके साथ की मनोनिग्रह की बागडोर ढीली न पड़ जाय और विषयभोग के चक्कर में पड़कर इन्द्रियरूपी घोड़े सरपट न दौड़ने लगें, इतना ही अध्यात्मशास्त्र है। बाह्य सृष्टि पर प्रभुत्व स्थापित करने व समाज के भौतिक सुखों की समस्या हल करने के व्यवहारों के लिए भौतिक विद्या की आवश्यकता है। उसी तरह अन्तः-सृष्टि पर प्रभुत्व स्थापित करने के व्यवहारों के लिए आत्मविद्या की जरूरत है। सत्याग्रही की आत्म-विद्या विवाद के लिए नहीं, व्यवहार के लिए है। ग्रन्थ-प्रमाण नहीं, अनुभव-प्रमाण उसकी अन्तिम कसौटी है। केवल भौतिक विद्या की उपासना करनेवाले लोग अन्धकार में पड़ते हैं व केवल आत्म-विद्या की उपासना करनेवाले उससे भी घोर अन्धकार में पड़ते हैं, ऐसा ईशोपनिषद् में

कहा है। इसका अनुभव आधुनिक यूरोप के इतिहास से और पिछले तीन-चारसौ साल के भारत के इतिहास से संसार को हो चुका है। आधुनिक भारत उसके अत्यन्त कटुफल खूब चख चुका है। अतः अब आगे वह भौतिक विद्या अथवा आत्म-विद्या दोनों में से किसीकी भी उपेक्षा करेगा, ऐसा नहीं मालूम होता।

अनियन्त्रित विदेशी राजसत्ता से स्वकीय लोक-सत्ता में आधुनिक भारत प्रवेश कर चुका। इसके बाद जल्दी ही जिस सत्याग्रही सत्य के सहारे उसे लोक-सत्ता की स्थापना करनी चाहिए, उसीके बल पर वह समाज-सत्ता की भी स्थापना करेगा, किन्तु समाज-सत्ता भी भारत का अन्तिम सन्देश नहीं है। उसका अन्तिम सन्देश तो आत्म-सत्ता है। इस आत्म-सत्ता की स्थापना होकर मानव-समाज में जब किसी दंडधारी राजनैतिक संस्था की बिल्कुल आवश्यकता न रहेगी तभी सच्ची एकवर्ग समाज-रचना स्थापित होगी। आधुनिक काल की एकवर्ग समाज-रचना के व प्राचीन ब्राह्मणत्व के ध्येय में बहुत अन्तर नहीं है। जैसे सत्ययुग में सिर्फ एक ही ब्राह्मण-वर्ग था, वही अवस्था फिर समाज में प्राप्त हो, यही मानव-समाज की पूर्ण अवस्था की कल्पना भारतवासी के हृदय में समाजवाद को आत्म-सात् करने के बाद उदय होगी। आधुनिक भारत के समाजवादी नेता पं० जवाहरलाल नेहरू ने इसी तरह के विचार अपनी 'मेरी कहानी'[१] में व्यक्त किये हैं। इस तरह आधुनिक संसार के अन्य राष्ट्रों के वर्तमान-कालीन इतिहास से अपने कार्यों में स्फूर्ति पानेवाले आधुनिक भारत के

---

[१] मगर पश्चिम इस एक-दूसरे का गला काटनेवाली सभ्यता की बुराइयों का इलाज भी अपने साथ लाया है—साम्यवाद का सहयोग कर, सबके हित के लिए जाति या समाज की सेवा करने का सिद्धान्त। यह भारत के पुराने ब्राह्मणोचित आदर्श से बहुत भिन्न नहीं है। लेकिन इसका अर्थ है तमाम जातियों, वर्गों और समूहों को ब्राह्मण बना देना (अवश्य ही धार्मिक अर्थ में नहीं) और जातिभेद को मिटा देना। हो सकता है कि जब भारत इस लिबास को पहनेगा, और वह जरूर पहनेगा, क्योंकि पुराना लिबास तो चिथड़े-चिथडे हो गया है, तोउसे उसमें इस तरह कांटछांट करनी पड़ेगी, जिससे वह मौजूदा अवस्थाओं और पुराने विचार दोनों का मेल साध सके। जिन विचारों को वह ग्रहण करे वे अवश्य उसकी भूमि के समरस हो जाने चाहिए। पृष्ठ ६०३ (आठवां संस्करण)

समाजवादी नेता और प्राचीन भारत की आध्यात्मिक संस्कृति का अभिमान रखनेवाले महात्मा गांधी जैसे सत्याग्रही जगद्वन्द्य नेता दोनों के दृष्टि-पथ में आनेवाली भावी भारतीय संस्कृति के चित्र का द्वैत नष्ट हो सकता है। जिस अनुपात से स्वतन्त्र भारत की भावी संस्कृति मूर्त-रूप धारण करने लगेगी उसी अनुपात से यह द्वैत पूर्णतः नष्ट होकर स्पृहणीय रूप सारी मानव-जाति की भौतिक व आत्मिक आकांक्षाओं को सन्तुष्ट करने में समर्थ होगा और वही भारतीय संस्कृति मानव-संस्कृति कहलाकर सारे संसार में फैलेगी, यह हमारा दृढ़ विश्वास है।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु। सर्वे सन्तु निरामयाः॥
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु। मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्॥